...ापके द्वारा प्रेषित "भारतीय ... प्राप्ति स्वीकार करता हूँ, उसके ...ीन हुए और आज ही सम्मति ... हिन्दी विद्यापीठ ने अपने शैशव ...प्रशंसनीय है। प्रस्तुत त्रैमासिक ...त की गारंटी है कि भारत के ...का का भी एक विशिष्ट स्थान होगा। मैं विश्वविद्यालय के उन सदस्यों के काय का सराहना करता हूँ जिन्होंने इस पत्रिका के प्रकाशन के अत्यन्त सुन्दर कार्य को सुन्दर ढंग से किया है।

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

"भारतीय साहित्य" के जो चार अंक आपने कृपापूर्वक मुझे दिये थे उन्हें मैं प्रेमपूर्वक देख गया हूँ। उनके कतिपय लेख मैंने ध्यानपूर्वक पढ़े और अनेक नई बातों की जानकारी प्राप्त की। आपके लेखों के लिए एवं इस महत्वपूर्ण सम्पादन के लिए आपको अनेकानेक बधाइयाँ। साथ ही विश्वविद्यालय के अधिकारियों का भी आभारी हूँ कि जिन्होंने इतनी सुन्दर योजना में आर्थिक सहयोग दिया। मुझे विश्वास है कि "भारतीय साहित्य" के अंक अनुसंधित्सुओं तथा अन्य विद्वज्जनों के लिए भी मूल्यवान विचार रत्न तथा स्पृहणीय सामग्री प्रस्तुत करते रहेंगे।

राजनांद गांव
११-१-५७

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
डी० लिट०

प्रकाशक
डा० विश्वनाथ प्रसाद,
अध्यक्ष, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ, आगरा
मुद्रक
एच० के० कपूर, आगरा यूनीवर्सिटी प्रेस, आगरा

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

जनवरी १९५७

द्वितीय वर्ष : प्रथम अंक

वार्षिक शुल्क : बारह रुपये]

[यह अंक : पांच रुपये

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ

विषय-सूची

भारतीय साहित्य

(आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का मुख पत्र)

वर्ष २]　　　　जनवरी १९५७　　　　[अंक १

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ १९५६ का वार्षिक विवरण

हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना आगरा विश्वविद्यालय के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। इसकी स्थापना के द्वारा आगरा विश्वविद्यालय ने अपने यहां अध्यापन आरंभ कराने की ओर पहला ठोस कदम उठाया है और अपनी एक भारी कमी की पूर्ति की है। यही नहीं, इस विद्यापीठ का लक्ष्य भारतीय उच्च शिक्षण में एक क्रान्ति प्रस्तुत करने वाला है। आज अन्य विश्वविद्यालयों में भी यह अनुभव किया जा रहा है कि भारत के नागरिकों को चतुर्मुख होना चाहिये। चार भाषाओं का ज्ञान उन्हें होना चाहिये। चार भाषाओं का यह सिद्धान्त एक अत्यन्त उदार और महती भावना से ओतप्रोत है। भारतीय साहित्य के बहुविध रूप की पृष्ठभूमि पर क्षेत्रीय भाषाओं को समृद्ध करना और उन सबके साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी को अभिवृद्ध, सशक्त और व्यापक बनाने वाला ऐसा चतुर्मुख भारतीय ब्रह्मा की तरह सर्जक होगा और विश्व को भी अनुप्राणित कर सकेगा। इस दिशा में आगरा विश्वविद्यालय अगुआ माना जायेगा। इसी के साथ हिन्दीविद्यापीठ ने भाषा-तत्व (Linguistics) का उच्च स्तरीय अनुसंधानपरक अध्यापन प्रस्तुत किया है। भारत ने विद्या-क्षेत्र में बहुत ऊंची उपलब्धियां की हैं। पर भाषातत्व का आधुनिक विज्ञान इस स्तर पर, उसके किसी विश्वविद्यालय में नहीं। आगरा विश्वविद्यालय इस क्षेत्र में भी पहला और अगुआ विश्वविद्यालय है जो भाषा-तत्व में विशिष्ट वैज्ञानिक अध्यापन करायेगा। आगरा विश्वविद्यालय की इन प्रवृत्तियों से शीघ्र ही यह विश्वविद्यालय गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, उसी के साथ आगरा भी गौरवान्वित होगा। वह भारत के उच्च कोटि के विद्वानों और विद्यानुरागियों का ही केन्द्र नहीं बनेगा, अपनी नयी शोधों, महत्वपूर्ण प्रकाशनों और वैज्ञानिक अनुसंधानों से भारतीय साहित्य और भारतीय विश्वविद्यालयों के लिए मार्गदर्शक भी बनेगा। जिस प्रेरणा और अध्यवसाय, जिस मेधा और प्रवृत्ति के साथ काम किया जा रहा है और जिस पैराये पर हिन्दीविद्यापीठ के विधि-नियम बने हैं, उनसे उपरोक्त संभावनाएं स्पष्ट परिलक्षित होती हैं।

जिन महान् व्यक्तियों ने हिन्दीविद्यापीठ की कल्पना पहले पहल की वे उत्तर प्रदेश के समस्त विश्वविद्यालयों के उपकुलपति थे और इन सबको इस दिशा में अनुप्रेरित करने

वाले हमारे कुलपति राज्यपाल श्री के० एम० मुंशी थे। इन सबको हिन्दी विद्यापीठ अपनी सेवाओं द्वारा निरंतर धन्यवाद प्रदान करता रहेगा और एक दिन इसके स्नातकोत्तरीय उपाधिधारी कोने कोने में फैलकर भारतीय ऐक्य और भारतीय विद्या के उच्च आदर्श की स्थापना करेंगे।

यों तो हिंदी विद्यापीठ की स्थापना १४ दिसंबर १९५३ को हुई, पर इसने विधिवत कार्यारंभ जुलाई १९५५ से किया। जुलाई १९५५ से आज तक की प्रगति पर दृष्टि डालते ही प्रकट होता है कि हिन्दी विद्यापीठ ने कई प्रवृत्तियों को हाथ में लिया है। ये प्रवृत्तियां हैं :

१. अनुसंधान कार्य
२. प्रकाशन
३. अध्यापन

अनुसंधान कार्य:

हिंदी विद्यापीठ में अनुसंधान कार्य की कई दिशाएँ हैं। जैसे

(अ) ग्रंथानुसंधान:

१. हस्तलिखित ग्रंथों की खोज। हमारे चारों ओर अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथ गाँवों और नगरों में बिखरे पड़े हैं। हिन्दी विद्यापीठ ने उद्योग किया है कि ऐसे ग्रंथों पर टिप्पणियां ली जायं और उनका संकलन किया जाय। इस वर्ष के अन्तर्गत हिन्दी विद्यापीठ की ओर से जयपुर, फतहपुर (उ० प्र०), अजमेर, मथुरा और वृन्दावन की यात्रा की गयी और ३७४ ग्रंथों की टीपें ली गयीं। इनमें लगभग १०० ग्रंथ ऐसे हैं जिनका अभी तक खोज रिपोर्टों और इतिहासों में उल्लेख नहीं मिलता।

विद्यापीठ के अनुसंधानकर्त्ताओं ने तथा हितैषियों ने लगभग २८ पुस्तकें इस वर्ष में हिन्दी विद्यापीठ के लिए प्राप्त की हैं। इन पुस्तकों में निम्नलिखित अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं :

१. नूरमुहम्मद की नाममाला (प्रतिलिपि रूप में)
२. सूर का नलदमन (मूल और संपादित रूप में)
३. सरदार सुजश : यह रचना तो इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि लेखक की लेखनी में लिखा इस ग्रंथ का यह मसौदा है। सरदार सुजश में ऐतिहासिक वर्णन है जिनसे इतिहास पर नया प्रकाश पड़ने की संभावना है।
४. हरचरणदास का कर्णाभर्ण-ये चारों ग्रंथ मुनि कान्ति सागर जी से प्राप्त हुए हैं।
५. औरंगजेब प्रशस्ति
६. शाहजहाँ प्रशस्ति:
७. चंदायन---मनेरशरीफ का तथा शिमला म्यूज़ियम का (फोटो प्रति)
८. मृगावती—मनेरशरीफ (फोटो प्रति)

अन्य प्राप्त ग्रंथ भी महत्वपूर्ण हैं।

२. हस्तलिखित ग्रंथों का अनुसंधान तो महत्वपूर्ण है ही, अप्राप्य महत्वपूर्ण ग्रंथों का अनुसंधान, संकलन और संग्रह भी बहुत महत्वपूर्ण है। लल्लूजीलाल की ब्रजभाषा व्याकरण की प्रतिलिपि, तथा लल्लूजीलाल का १८४६ का छपा 'माधव विलास' ये दोनों हमने प्राप्त किये हैं।

इस क्षेत्र में आगे और भी अधिक ठोस प्रगति होगी क्योंकि अब एक हस्तलिखित ग्रंथानुसंधान सहायक की नियुक्ति की गयी है जो एक विस्तृत योजना के अनुसार इस क्षेत्र में कार्य करेंगे।

(आ) पी-ऐच० डी०, तथा डी० लिट० के लिए अनुसंधान

इस समय हिन्दी विद्यापीठ में १८ अनुसंधित्सु पी-ऐच० डी० के लिए तथा १ डी० लिट०, के लिए अनुसंधान कर रहे हैं:

पी-ऐच० डी० के अनुसंधान के लिए स्वीकृत विषय निम्नलिखित हैं:

१. मथुरा जिले की ब्रज की बोलियों का तुलनात्मक और वर्णनात्मक अध्ययन।
२. १० वीं से १४ वीं शती के हिन्दी के साहित्य रूपों का अध्ययन।
३. १५वीं से १७वीं शती तक के हिन्दी के काव्य रूपों का अध्ययन।
४. मीराबाई के काव्य के स्रोतों का अनुसंधान।
५. बनारसीदास जैन का जीवन और कृतित्व।
६. हिन्दी नाट्यशास्त्र का ऐतिहासिक विकास सन् १९५५ तक।
७. हिन्दी और गुजराती बारहमासा साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।
८. मलयालम और हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास: बृन्दावनलाल वर्मा तथा सी० वी० रमन पिल्लई के विशेष अध्ययन के साथ।
९. हिन्दी में आगत आंग्ल शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन।
१०. जैन गद्य लेखकों की हिन्दी गद्य साहित्य को देन।
११. लल्लूजीलाल
१२. नाममाला साहित्य के आधार पर मध्यकालीन कोश
१३. हिंदी पिंगल का विकास और इतिहास।

शेष छ: अनुसंधित्सु अपने विषयों की टोह कर रहे हैं।

इन अनुसंधित्सुओं में से एक केन्द्रीय सरकार ने छातृवृत्ति देकर हिन्दीविद्यापीठ में अनुसंधानार्थ भेजा है। ४ अनुसंधित्सुओं को हिन्दीविद्यापीठ से छातृवृत्ति मिलती है।

उक्त विषयों में से ब्रज की बोलियों पर अनुसंधान प्राय: समाप्ति पर पहुँच रहा है। मीराबाई, बनारसीदास, ऐतिहासिक उपन्यासों तथा १४वीं से १७वीं शती के साहित्य रूपों पर आधा काम हो चुका है। बारहमासा, अंग्रेजी के आगत शब्द तथा नाममाला पर आधा काम हो चुका है।

इस वर्ष इन अनुसंधित्सुओं के—११ प्रबंधांश संशोधित किये गये। साथ ही प्रत्येक अनुसंधित्सु को नियमित परामर्श तथा सहयोग दिया गया।

इस अनुसंधान के लिए कई साधन काम में लाये जा रहे हैं :

१. अनुसंधान सहायक दैनंदिनी लिखता है जिस पर विद्यापीठ से परामर्श मिलता है।
२. विविध पुस्तकालयों की सूचियां, विशेषतः हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियां उपलब्ध की गयी हैं। उन पुस्तकालयों से अनुसंधान में सहयोग भी प्राप्त किया जाता है।
३. हिंदी विद्यापीठ अपना हस्तलिखित ग्रंथों का पुस्तकालय खड़ा कर रहा है, जिसमें हस्तलिखित ग्रंथ मूल रूप में अथवा प्रतिलिपि रूप में संग्रहीत होंगे। आदर्श यह है कि आगरा में ही समस्त हस्तलिखित ग्रंथ एक स्थान पर उपलब्ध हो सकें। इसके लिए प्रतिवर्ष १०००० रु० तो विद्यापीठ देता जायेगा। उत्तर प्रदेश सरकार, यूनिवर्सिटी ग्रांटस कमीशन और केन्द्रीय सरकार से भी इसमें सहायता की आशा है।
४. माइक्रोफिल्म कैमरा : इसी निमित्त हिन्दीविद्यापीठ ने एक माइक्रोफिल्म कमरा तथा रीडर खरीद लिया है। इसके द्वारा किसी भी पुस्तक को फिल्म के रूप में सुरक्षित किया जा सकता है। शीघ्र ही Trans copy duplex खरीदा जा रहा है।

यह हस्तलिखित ग्रंथों का पुस्तकालय एक दिन आगरा और विश्वविद्यालय के लिए ही नहीं हिंदी क्षेत्र के लिए एक गौरव को वस्तु होगा, और प्रत्येक अनुसंधित्सु उससे लाभ उठा सकेगा।

विदग्ध गोष्ठियों (Seminars) का आयोजन किया जाता है।

(इ) सूचनार्थ अनुसंधान : विद्यापीठ अपने अनुसंधान को इस दृष्टि से समृद्ध और विकसित करता जा रहा है कि वह किसी भी अनुसंधित्सु को आवश्यक सूचना दे सके। उसे बेकार भटकना न पड़े। इस वर्ष निम्न विषयों पर विविध विद्वानों और अनुसंधित्सुओं को आवश्यक सामग्री प्रदान की गयी :

१. डाक और घाघ
२. आगरा के साहित्यिक
३. राधावल्लभीय संप्रदाय
४. ब्रज की संस्कृति तथा धर्म
५. ब्रज का बारहमासा
६. लोक-साहित्य
७. पारिभाषिक शब्दावली आदि

(ई) वाह्य अनुसंधित्सु :

लगभग २० अनुसंधित्सु बाहर से हिंदी विद्यापीठ से आवश्यक परामर्श लेने आये।

इस अनुसंधान कार्य में उपरोक्त प्रवृत्तियों में हमें निम्न संस्थाओं और व्यक्तियों से महत्वपूर्ण सहायता मिली है। ब्रज साहित्य मंडल, मथुरा, जालान पुस्तकालय कलकत्ता नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, श्री अगरचंद नाहटा, बीकानेर, मुनि कान्ति सागर जी, श्री आशुतोष भट्टाचार्य आदि।

(उ) **लोकवार्ता तथा लोक साहित्यानुसंधान:** लगभग ३२४ पृष्ठों का महत्वपूर्ण लोक-साहित्य संकलित किया गया है । इसके लिए तथा बी० लिट० में भाषा-शिक्षण के लिए टेपरिकार्डर भी विद्यापीठ ने खरीद लिया है ।

(ऊ) प्राध्यापकों के अनुसंधान

१. डा० सत्येन्द्र—लोक साहित्य और लोक वार्ता तथा विविध सम्प्रदायों पर अनुसंधान कर रहे हैं ।

२. प्रो० धल—भाषा-तत्व के अनुसंधान के साथ हिन्दी-उड़िया कोष संलग्न कर रहे हैं ।

३. प्रो० रमेशचन्द्र दुबे—पी-एच० डी० के लिये काव्य रूढ़ियों के अनुसंधान में संलग्न हैं ।

४. प्रो० चन्द्रकांत—हिन्दी तामिल के तुलनात्मक अनुसंधान में प्रवृत्त हैं ।

५. श्री एन० ए० व्यास—गुजरात के हिन्दी कवियों की शोध में संलग्न हैं ।

६. प्रो० वी० वी० राम शर्मा—तेलगु कन्नड़ के व्याकरण के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हैं ।

२. संपादन: हिन्दी विद्यापीठ में
१. नाममाला साहित्य
२. लल्लूजी लाल के ग्रंथों का वैज्ञानिक संपादन ।
३. हिंदी उड़िया के समान-शब्दों का कोष ।
आदि ग्रंथों का संपादन किया जा रहा है ।

हिन्दी विद्यापीठ के लिए डा० माताप्रसाद गुप्त ने चंदायन और मृगावती का वैज्ञानिक संपादन किया है ।

सूरकृत नलदमन का संपादन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा श्री जुग्राल ने प्रस्तुत किया है । यह 'ग्रंथ-वीथिका' में प्रकाशित हुआ है ।

अगरचंद नाहटा "छिताई वार्ता" का संपादन कर रहे हैं ।

श्री सत्येन्द्र नाथ घोषाल—शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय, आलाओल के पाठ संशोधन में सहायता दे रहे हैं ।

३. प्रकाशन:

हिन्दी विद्यापीठ ने १९५६ में जनवरी से आज तक निम्नलिखित प्रकाशन किये हैं:

१. भारतीय साहित्य: हिंदी विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध पत्रिका:

इसके चारों अंकों में लगभग ८०० पृष्ठों की ठोस अनुसंधान पूर्ण सामग्री है । इस पत्रिका का सर्वत्र हृदय से स्वागत हुआ है और उसे हिन्दी के लिए देन माना गया है । इसमें तीन विशेषताएं हैं :

१. समस्त भारतीय भाषाओं के साहित्य की विविध प्रवृत्तियों पर प्रकाश ।

२. भारतीय साहित्य के विविध क्षेत्रों के उच्चकोटि के विद्वानों के नवीनतम अनुसंधानों की हिंदी के माध्यम से प्रस्तुति।
३. हिंदी विद्यापीठ के अपने अनुसंधान के प्रबंध और प्रबंधांश।
इन ८०० पृष्ठों में हिन्दीविद्यापीठ के अपने अनुसंधान के २५७ पृष्ठ
भारतीय विद्वानों के अनुसंधान के ... ३५२ पृष्ठ
भारतीय साहित्य की प्रवृत्तियों पर १९१ पृष्ठ हैं

२. ग्रंथ-वीथिका : यह हिन्दीविद्यापीठ का जरनल है। इसका प्रमुख उद्देश्य अप्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित ग्रंथों को संपादित अथवा असंपादित रूप में प्रकाश में लाना तथा अनुपलब्ध प्राचीन अप्रकाशित ग्रंथों को प्रकाश में लाना है। इसका पहला खंड १९५६ का तैयार है। इसमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित किये गये हैं:

१. जाहरपीर : लोकवार्ता गीत
२. साधनकृत मैनासत
३. सूरकृत "नलदमन" के पहले बीस दोहे
४. रूप रसिक जी की "सिद्धान्त माधुरी"
५. सोहलवीं शती का एक अप्रकाशित हिन्दी ग्रन्थ "विरह शतं"
६. सं० १७२२ की सिंगार शतक भाषा
७. सवाई पच्चीसी कृति दिल्ली में किसोरपोष्करणो
८. सवाई जयसिंह जी महाराज की बत्तीसी
९. लल्लूजीलाल का "ब्रजभाषा व्याकरण"
१०. नूरमुहम्मद की नाममाला आदि

यह हिन्दीविद्यापीठ का एक और अनूठा ठोस प्रयत्न है जिससे हिन्दी की समृद्धि और साहित्यिक देन का ऐतिहासिक मूल्यांकन ठीक ठीक हो सकेगा। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रंथ भी प्रकाशित किये गये हैं—

३. जाहरपीर:गुरू गुग्गा
४. भारतीय ऐतिहासिक उपन्यास।
५. हिन्दी धातुकोश—डा० हॉर्नली के निबंध का हिंदी रूपान्तर

४. अध्यापन

हिन्दीविद्यापीठ में जुलाई १९५६ से बी० लिट० तथा ऐम० लिट० का स्नातकोत्तरीय अध्यापन आरंभ कर दिया गया है। ये दोनों अनुसंधान से युक्त उपाधियाँ हैं। बी० लिट० तथा ऐम० लिट० के विद्यार्थियों को अनुसंधानीय स्तर पर अध्ययन कराया जाता है। इनके अध्यापन में आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जा रहा है, और इस अंग को अधिकाधिक पुष्ट करने की व्यवस्था है।

बी० लिट० में हिन्दी विद्यापीठ में निम्न भाषाऐं पढ़ायी जाती हैं:

१. हिन्दी
२. संस्कृत

३. अंग्रेजी
४. गुजराती
५. मराठी
६. तमिल
७. तेलुगु
८. कन्नड

इन सबके योग्य से योग्य अध्यापक नियुक्त किये गये हैं।

ऐम० लिट० में भाषा-तत्व (Linguistics) का अध्ययन होता है। इस वैज्ञानिक विषय के स्नातकोत्तरीय और अनुसंधानीय स्तर पर वैज्ञानिक प्रयोगशाला के सहारे पढ़ाने की व्यवस्था करने का सबसे प्रथम श्रेय आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी विद्यापीठ को है।

सेमीनार (विदग्ध-गोष्ठियों) की उपयोगिता सिद्ध है। इन विदग्ध गोष्ठियों का निरंतर आयोजन किया गया है। विद्यार्थियों की संख्या इस प्रकार हैं।

डी० लिट०-१, पी-एच. डी. १८. एम० लिट० ४, बी० लिट० ११ = ३४

बी० लिट० तथा ऐम० लिट० में शिक्षा पाने के लिए भारत के दूर दूर के राज्यों से विद्यार्थी आगरा आये हैं और आयेंगे। इस क्रम से आगरा में छोटे रूप में समस्त भारत ही उपस्थित हो जायगा। निश्चय ही आगरा और आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ तथा समाज-विज्ञान-विद्यापीठ के माध्यम से भारत के भविष्य में महत्वपूर्ण योगदान देगा।

बी० लिट० तथा ऐम० लिट० के अध्यादेशों में कुछ हेर-फेर किया गया है। यह संशोधित रूप आगामी सत्र से काम में आयेगा।

विशेष व्याख्यान माला

हिन्दी विद्यापीठ की ओर से प्रति वर्ष विशेष व्याख्यानों का आयोजन किया जाता है। इस वर्ष ये विशिष्ट व्याख्यान कराये गये हैं—

१. श्री मोटूरी सत्यनारायण—भारत की सामान्य लिपि तथा प्रांतीय लिपियां।
२. डा० रघुवीर—'राष्ट्र की प्राणवान संजीवनी शक्ति हिन्दी'।
३. डा० बल्देव प्रसाद मिश्र—मानस का उक्ति सौष्ठव।

अन्य—हमारे प्रो० धल ने गत ग्रीष्मावकाश में पूना के रौकफैलर फाउण्डेशन के लिंग्विस्टिक स्कूल में दो महिने फोनेटिक्स (ध्वनि-शास्त्र) की शिक्षा दी। वह लिंग्विस्टिक सोसाइटी आव इंडिया के आजीवन सदस्य निर्वाचित हुए हैं। उत्कल विश्वविद्यालय ने उन्हें कटक में भाषा-तत्व विभाग स्थापित करने के लिए बनायी परामर्श दात्री प्रवर समिति में बुलाया। प्रो० धल को प्रौढ़ शिक्षा की एक पुस्तक पर केन्द्रीय सरकार से ५००) का पुरस्कार मिला है।

डा० सत्येन्द्र को डायरेक्टर जनरल आकाशवाणी ने ब्रजभाषा-समिति में नियुक्त किया। वह कलकत्ता विश्वविद्यालय के बोर्ड आफ स्टडीज़ के सदस्य हैं। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होने वाले इतिहास के दो अध्यायों का काम उन्हें सौंपा गया है।

कलकत्ता के अखिल भारतीय फोकलोर जरनल के वे प्रादेशिक संपादक नियुक्त किये गये हैं।

मथुरा गजेटियर में भी उनसे सहायता मांगी गयी है।

आर्थिक व्यवस्था:

हिन्दी विद्यापीठ को ६०,००० रु० वार्षिक आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त होता है। उत्तर प्रदेश सरकार से हमें पंच वर्षीय अनुदान निम्नक्रम से प्राप्त होगा:

लाखों में

	१९५६।५७	१९५७।५८	१९५८।५९	१९५९।६०	१९६०।६१	कुल
अनावर्तक	१.७६	.५०	.२४	..	..	२.५०
आवर्तक	.१५	.२०	.२५	.२५	·२५	१.१०

यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन ने हिन्दी विद्यापीठ की योजनाओं को स्वीकार कर लिया है। उनका एक निरीक्षक दल विद्यापीठ का निरीक्षण कर गया है। वहां से भी अच्छी सहायता मिलने की संभावना है। केन्द्रीय सरकार से भी योजनानुसार सहायता मिलने की आशा है।

शिक्षक वर्ग—इस समय विद्यापीठ में एक प्रौफेसर, २ रीडर तथा ४ प्राध्यापक हैं।

१. डा० विश्वनाथ प्रसाद, संचालक	एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (हिन्दी), बी० एल० (पटना), पी-एच० डी० (लंदन), साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, एफ० आर० ए० एस० (लंदन), एम० पी० एस० (लंदन)
२. डा० गौरीशंकर सत्येन्द्र रीडर	एम० ए० (हिन्दी) एम० ए० (संस्कृत) (प्रथम वर्ष), पी-ऐच० डी०
३. प्रौ० जी० बी० धल रीडर	एम० ए० (संस्कृत) एम० ए० (भाषा-विज्ञान) (लंदन)
४. श्री रमेशचन्द्र दुबे हिन्दी प्राध्यापक	एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत) एल-एल० बी०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न
५. श्री चन्द्रकान्त तमिल प्राध्यापक	एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), व्याकरणाचार्य, साहित्य शास्त्री, साहित्य-रत्न, साहित्यालंकार, Hons in Hindi
६. श्री एन० ए० व्यास गुजराती प्राध्यापक	बी० ए० (ओनर्स) एम० ए० (गुजराती), बी० टी०, साहित्यरत्न (प्रथम खंड)
७. श्री वी० वी० आर० शर्मा तैलगु तथा कन्नड़ प्राध्यापक	एम० ओ० एल० (रिसर्च: मद्रास) विद्वान (तैलगु, संस्कृत और कन्नड़) उभय भाषा प्रवीण (तैलगु और संस्कृत) १. पी० ओ० एल० (दक्षिण भारतीय भाषाएँ) २. पी० ओ० एल० (द्रविड़ भाषा विज्ञान)

अनुसंधान सहायक

१. श्री कैलाशचन्द्र भाटिया	एम० ए० (हिन्दी), साहित्यरत्न
२. श्री डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव	एम० ए०, पी-ऐच० डी०
३. श्री उमापतिराय चंदेल	एम० ए०, साहित्यरत्न

हमारी आवश्यकताएँ

१. उपकुलपति महोदय की उत्कट प्रेरणा से हमारा भवन तो बन रहा है किन्तु हिन्दी विद्यापीठ में बाहर से छात्रों और अध्यापकों के आने की व्यवस्था है अतः एक छात्रावास और अध्यापकों के लिए घरों की सबसे पहली आवश्यकता है।

२. बड़ी बड़ी धनराशियों से सूरपीठ, लल्लूजीलालपीठ, भाषा सर्वेक्षण विभाग तथा अन्य ऐसे ही शोध पीठों और विभागों की स्थापना।

३. हस्तलिखित ग्रंथ तथा प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध कराने और इसके पुस्तकालय को आदर्श रूप से पूर्ण बनाने में जनता का हार्दिक सहयोग।

भावी योजनाएँ

ऊपर जिन कामों का उल्लेख किया गया है उन्हें करते हुए भी हिन्दी विद्यापीठ कुछ और कार्य भी संभालेगा, उनमें से कुछ हैं।

१. सूरसागर अथवा ऐसे ही काव्यों का पाठानुसंधान
२. भाषा सर्वेक्षण (ब्रज तथा आस पास के क्षेत्र का)
३. लोकवार्ता कोश का निर्माण
४. भारतीय साहित्य का वृहत कोश।
५. ललित साहित्य की कला का प्रशिक्षण।
६. विभिन्न भाषाओं की फोनेटिक रीडर प्रस्तुत करना।

धन्यवाद:

कुलपति महोदय का तो हिंदी विद्यापीठ चिर ऋणी रहेगा। उनकी प्रेरणा और परामर्श का हमें निरन्तर बल रहा है। भूतपूर्व उपकुलपति श्री महाजन जी ने यह बिरवा रोपा है और वर्तमान उपकुलपति श्री कालिकाप्रसाद भटनागर अपने सबल और योग्यतम करों से इसे निरन्तर दृढ़ बनाने में प्रयत्नशील हैं। उनकी कृपा से हिंदी विद्यापीठ प्रायः समस्त विघ्नों और बाधाओं को पार करता हुआ अब एक राजमार्ग पर आ गया है और पूर्ण भरोसा है कि यह विद्यापीठ उनसे ऊंचे आदर्शों से प्रेरणा पाता हुआ आदर्श संस्था के रूप में प्रतिष्ठित हो सकेगा। विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार डा० एल० पी० माथुर साहब से तो पद पद पर परामर्श और सब प्रकार का सहयोग मिला है। समाज-विज्ञान विद्यापीठ के संचालक डा० रामनारायन सक्सेना के ऋण से भी हम उऋण नहीं हो सकेंगे। हम अभी उन्हीं के भवन में उनकी कृपा और स्नेह के वरदान से अपना काम चला रहे हैं। विश्व-विद्यालय के डिप्टी रजिस्ट्रार, सभी असिस्टेंट रजिस्ट्रारों और कर्मचारियों का ऋण हम पर

है। आरंभिक अवस्था में जिन कष्टों और अड़चनों का सामना करना पड़ता है उन्हें दूर करने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सभी ने हमें सहायता दी है।

हम आगरा कालेज तथा डा० ब्रजाधीश प्रसाद को धन्यवाद देना नहीं भूल सकते. जिन्होंने अंग्रेजी के अध्यापन में हमें सहयोग दिया है।

बाहर के विद्वानों से हमें जो सहयोग प्राप्त हुआ है उसका उल्लेख ऊपर यथास्थान किया जा चुका है।' भारतीय साहित्य' में समस्त भारत के विविध क्षेत्रों के विद्वानों और आचार्यों ने हमें निरंतर सहयोग दिया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को तो हिन्दी विद्यापीठ सदा स्मरण रहा है। वे निरंतर मार्ग निर्देश करते रहे हैं। हम इन सभी के हृदय से कृतज्ञ हैं। और आशा करते हैं कि आगे हमें इस महान यज्ञ में उनका हार्दिक कर्मठ सहयोग मिलता रहेगा।*

---

*यह विवरण हिन्दी विद्यापीठ के वार्षिक दिवस पर प्रेषित किया गया। हिन्दी विद्यापीठ का वार्षिक दिवस २४ दिसंबर १९५६ को आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति राज्यपाल श्री कन्हैया लाल माणिक लाल मुनशी की अध्यक्षता में हुआ था।

कुलपति महोदय का भाषण[1]

मुझे बड़ी खुशी है कि मुझे इस विद्यापीठ के वार्षिकोत्सव में आने और आप लोगों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जैसा कि हमारे उपकुलपति महोदय ने कहा, तीन वर्ष पहिले हमने यहाँ एक सभा बुलाई थी, उस सभा में सारे भारत से अग्रगण्य हिन्दी के प्रेमी बुलाये गये थे। सभा में यह निर्णय हुआ था कि आगरा ऐसा स्थल है, जहाँ हिन्दी विद्यापीठ अच्छी रीति से स्थापित हो सकता है। वहाँ हिन्दी के अभ्यास के साथ साथ 'हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है' इस बात को सामने रखकर देश की दूसरी भाषाओं का भी अभ्यास किया जाय। सभा का यह मन्तव्य था कि इस प्रकार के समन्वय से हिन्दी समृद्ध होगी और दूसरी भाषाओं का भी विकास होगा।

यह तो इतिहास की बात है कि हमारे देश में अनेक राज्य होते हुए भी साहित्य के आन्दोलन सारे भारतवर्ष में एक ही प्रकार के रहे हैं। इसका मुख्य कारण संस्कृत का प्राधान्य रहा है। मध्य काल में भी सारे भारतवर्ष में भक्ति-सम्प्रदाय का प्राधान्य रहा। जब भारतवर्ष में भक्ति का आन्दोलन चला तब हर एक प्रदेश में उससे साहित्य की वृद्धि हुई और भक्ति के गान हुए। जब बंगाल में गीत-गोविंद की रचना हुई तब उसके सौ वर्षों के अन्दर ही सारे भारतवर्ष में उसकी प्रेरणा व्याप्त हो गयी। उसके पहले भी भगवान शंकराचार्य का उदाहरण हमारे सामने है उन्होंने बत्तीस वर्ष की आयु में सारे भारतवर्ष को वश में कर लिया, संस्कृत के द्वारा विचार और आचार में महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिया। इस प्रकार प्राचीन काल में भाषा के प्रादेशिक भेदों के रहते हुए भी, हमारी मानसिक और साहित्यिक एकता अखंड रूप से कायम रही।

पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हम पर संस्कृत के साथ अंग्रेजी का भी प्रभाव पड़ा और साहित्य और विचार दोनों की परम्परा हरएक प्रदेश में एक ही दिशा में बहने लगी। भारत के अर्वाचीन साहित्य में 'हिस्टारिकल रोमांस' (ऐतिहासिक उपन्यास) सब प्रदेशों में एक ही प्रकार का रहा है। पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से 'लिरिक्स' (ऊर्मि गीतों) का स्वरूप और दृष्टि एक ही प्रकार की मालूम होती है। आज अंग्रेजी भाषा का प्रभाव कम होता जा रहा है, दुर्भाग्यवश संस्कृत का प्राधान्य भी कम होता जा रहा

---

१. हिन्दी विद्यापीठ के वार्षिक समारोह दिनाङ्क २४-१२-५६ के अवसर पर कुलपति श्री क० मा० मुन्शी द्वारा दिया गया उद्घाटन भाषण।

है, इसलिए इस समय यह जरूरी है कि हम हिन्दी भाषा को समृद्ध करें, जिससे भारत की साहित्यिक और मानसिक एकता बनी रहे।

हम हिन्दी पर जोर देते हैं। यह कोई 'हिन्दी इम्पीरियलिज्म' नहीं है। हिन्दी के द्वारा हम साहित्यिक घटना-पद्धति को भी एक रखना चाहते हैं। हिन्दी को यह स्थान केवल हिन्दीवालों ने ही नहीं दिया। विधान परिषद् में हमारे जैसे जो अन्य अहिंदी प्रदेश वाले थे, उन्होंने भी इसका मुक्तकंठ से सत्कार किया था और निर्णय किया था कि हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा होनी चाहिये।

केवल हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है, इसके दूसरे भी कारण हैं। पहला, ३६ करोड़ में से करीब १६ से १८ करोड़ लोग हिन्दी बोलते हैं। इनके अलावा आठ-दस करोड़ इसे आसानी से समझते हैं। हिन्दी में संस्कृत का सामान्य-तत्व होने के कारण दूसरी भाषाएँ बोलने वाले भी सुगमता से इसका अभ्यास कर सकते हैं और बोल सकते हैं।

जब हम यह सोचते हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में किस तरह समर्थ और किस तरह समृद्ध बनाया जाय तब हमारे सामने तीन प्रश्न आते हैं। पहला, प्रचार का। ज्यादा से ज्यादा लोग हिन्दी बोलना सीखें, इसके लिये राष्ट्रभाषा प्रचार सभा और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा कार्य कर रही है। यह काम सारे भारतवर्ष में हो रहा है। हिन्दी न बोलने वाले भी हिन्दी पढ़-लिख सकें, जिससे सभी एक भाषा द्वारा व्यवहार कर सकें यह प्रचार का क्षेत्र है। लेकिन उच्च स्तर के ज्ञान अध्ययन और अभ्यास की दृष्टि से यह वस्तु गौण बन जाती है।

दूसरा क्षेत्र अनुसन्धान का है, जिसके विषय में हमें विचार करना चाहिए। इस विद्यापीठ ने अभी काम शुरू किया है। इसीलिये एक बात की ओर मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उससे किसी को आघात भी पहुँचेगा। किन्तु जो मैं हिन्दी के लिए कहता हूँ वही गुजराती के लिए भी कहता आया हूँ। केवल हमारे मध्यकालीन साहित्य के अभ्यास अथवा अनुसंधान पर चित्त एकाग्र करने से और सिर्फ उसी सम्बन्ध में लेख लिखने पर पी-एच० डी० की डिग्री देने से हिन्दी का विकास नहीं होगा। जैसे हिन्दी के कविवरों में तुलसीदास और सूरदास हो चुके हैं, वैसे ही गुजराती में मध्यकालीन कविवरों में भालण, नरसिंह मेहता और प्रेमानन्द हुए हैं। यदि आप इन मध्यकालीन कवियों पर ही अनुसंधान करते रहेंगे तो भाषा और साहित्य का विकास नहीं होगा। इन महान् कवियों का जीवन भिन्न प्रकार का था, उनकी प्रणाली भिन्न थी, और उनका भाव-प्रवाह भक्ति के स्रोत में बहता था।

जब मैं हिन्दी साहित्य में पी-एच० डी० की डिग्री देता हूँ तब मुझे डर लगता है। अधिकतर थीसिस का विषय मध्यकालीन सुविख्यात कवि ही होते हैं। इस प्रकार से हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास नहीं होगा। जब मैंने दो एक मित्रों से यह कहा तब वे अप्रसन्न हो गये थे।

आज हमारा जीवन बदल गया है। जीवन पर हमारी दृष्टि भी बदल गई है। हमारे सामाजिक और दाम्पत्य आदर्श भी बदल गये हैं। आज हमको तो इस जीवन को

मूर्तिमान करने वाला और उसमें सरसता देने वाला साहित्य चाहिये। *यदि हम पुराने स्तर के साहित्य का अनुसंधानमात्र करते रहेंगे तो साहित्य और भाषा की अभिवृद्धि नहीं होगी।*

मैं यहाँ के विश्वविद्यालयों में अनुसंधान के विषय में एक और भी प्रवृत्ति देखता हूँ। वे तुलसीदास और सूरदास के विषयों में तो आसानी से अनुसंधान कर सकते हैं, क्योंकि इन कविवरों के ऊपर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस प्रकार के पिष्टपेषण से अनुसंधान उच्च कोटि का नहीं हो सकेगा। इन कवियों का अभ्यास करते समय भी अनुसंधान का आधार तो 'कम्पेरेटिव स्टडीज' होना चाहिये। आप जानते हैं कि ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत-सी भाषाओं के साहित्य पर पड़ा है। गुजराती और उसके कवियों पर तो उसका प्रभाव बहुत ही पड़ा है। सूरदास पर तो मैंने थीसिस देखी है, किन्तु अब तक मुझे किसी ने यह नहीं बतलाया कि सूरदास और ब्रजभाषा की प्रेरणा दूसरी भाषाओं के साहित्य को कैसे मिली और उससे उनमें कैसे परिवर्तन हुए? ब्रजभाषा में भक्ति के साहित्य के अलावा और भी किस किस प्रकार का साहित्य था? ब्रजभाषा बोलनेवाली ग्रामीण जनता का पुराना साहित्य क्या है, उसमें 'ह्यूमर' कैसा है?

मेरे उपन्यासों और रचनात्मक नाटकों का हिन्दी में अनुवाद होता है। मैं तो कभी-कभी परेशान हो जाता हूँ। आपने हिन्दी को इतनी गम्भीर भाषा बना दिया है कि बोलचाल की या मजाक की गुजराती भाषा का हिन्दी अनुवाद अर्थविहीन या रस-विहीन हो जाता है। साहित्य में जब तक हम सामान्य व्यवहार की भाषा के अनेक पहलुओं का दर्शन न कर सकेंगे, हिन्दी भाषा जीवित नहीं बनेगी। पंडितों की भाषा, जिसमें संस्कृत शब्द-समुच्चय सीमेंट के स्लेब की तरह होता है, उससे भाषा सजीव नहीं बनेगी।

यहाँ उत्तर प्रदेश में प्रतिवर्ष ४० या ५० मिनट राज्यपाल का अभिभाषण मुझे देना पड़ता है। पहले ही साल जब सचिवालय से अँग्रेजी में लिखा हुआ अभिभाषण और उसका हिन्दी अनुवाद मेरे पास आया तो मेरी आपत्ति का पार नहीं रहा। पचास मिनट तक सात सौ आदमियों के सामने मैंने उसे पढ़ तो लिया, लेकिन मेरा सिर चक्कर खा गया। बहुत से शब्द तो समझ में ही न आये। वे अँग्रेजी के संस्कृत अनुवाद थे। सुनने वाले सब लोग उन शब्दों को समझे या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। वाक्य-रचना भी अँग्रेजी जैसी थी। अंग्रेजी के परस्परावलम्बी वाक्य हिन्दी में भी वैसे ही लगा दिये गये थे। भाषा इतनी गुथी हुई थी कि उसे मैं धाराप्रवाह के साथ पढ़ भी नहीं सका। इस तरह का अनुवाद छोड़कर जब मैंने उसे खुद लिखाया तभी मैं लोगों का ध्यान आकर्षित कर सका।

एक दूसरा दृष्टांत दूँ जहाँ भी मुझे अभिनन्दन-पत्र मिलते हैं वहां "महामान्य श्री राज्यपाल के कर-कमलों में सादर समर्पित" से ही शुरू होता है। मेरा कर कमल के समान है, यह जानकर पहले तो मुझे बड़ी खुशी हुई, लेकिन "कर" और "कमल' शब्दों का बार बार प्रयोग करने से मुझे लगा कि कर और कमल दोनों की ही कीमत घट गई है। इससे न पढ़ने वाले और न सुनने वाले को ही सन्तोष होता है।

भाषा के विकास के लिये हमको यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि हमें हिन्दी को जीवित भाषा बनाना है, तो उसमें शब्दों की पांडित्य-शैली के जो घाट बनाये हैं उनको तोड़ना चाहिये। यदि हम यह नहीं करेंगे तो हिन्दी का विकास जल्दी से नहीं हो सकेगा।

भाषा के बारे में अनुसंधान का विचार करते समय हमको एक बात और याद रखनी चाहिये। भाषा के विकास में जब लोक-व्यवहार और लोक-गीतों का प्रवेश होता है तभी भाषा में सजीवन अभिव्यंजनाशक्ति आती है। मेघाणी आदि कवियों ने पुरानी गुजराती के गीत और कहानियों को गुजराती में लाने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप बहुत से नये तत्व पिछले पचास वर्ष में गुजराती में आये और भाषा भी जोरदार हुई। देहातों में जो भाषा बोली जाती है और जो लोक-गीत और लोक-कहानियाँ प्रचलित हैं, उनके तत्त्वों को भी भाषा में ग्रहण करना चाहिए।

ए और बात जिसकी ओर में आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ वह यह है। आपके यहाँ से जो पत्रिका निकलती है वह भारत की सर्वोत्तम पत्रिकाओं में से एक है। मैंने यह भी कहा है कि एक वर्ष में हमने इस विषय में अच्छी प्रगति की है। इतना अच्छा प्रयत्न करने के लिये मैं डा० सत्येन्द्र का अभिनन्दन करता हूं। किन्तु मैं यह ध्यान दिलाना चाहता हूं कि हमारी भाषा हमारा साहित्य दिन-प्रति-दिन बदलते जाते हैं। भाषा में एक नये प्रकार का तत्त्व आया है। कालेज में पढ़ने वाले लड़के और लड़कियाँ पाश्चात्य ढंग से "लव मेकिंग" करते हैं। 'ह्यूमर' (विनोद-रस) का स्वरूप भी दूसरे प्रकार का होता जाता है। इस प्रकार की भाषा का व्यवहार भारत के अनेक प्रदेशों में होता है। उसको प्रचलित साहित्य में थोड़ा स्थान तो मिलता ही है। लेकिन इन सबका स्थान भाषा और साहित्य में क्या है, उसका भी दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि विगत अंक में भारत की अनेक भाषाओं में जो उपन्यास का साहित्य है, उसका आपने दिग्दर्शन कराया। लेकिन मैं तो यह भी चाहता हूँ कि अन्य भाषाओं में जो उपन्यास, गीत या निबन्ध हों, उनका सारांश तैयार करके, या उनके थोड़े भाग का हिन्दी में अनुवाद करके भी आप हमें दें, इससे हमको यह मालूम होगा कि तामिल आदि अन्यान्य भाषाओं में 'ह्यूमर' का क्या साहित्य है। मैं मद्रास में रहा हूँ, वहाँ की पत्रिकाओं में कभी-कभी जो' 'ह्यूमर" आता है, वह हमारे यहाँ किसी भाषा में नहीं है। इसी प्रकार जो 'सैटायर' मैंने केरल की भाषा में पढ़े हैं वे अन्यत्र नहीं हैं। यदि यह हमारे यहाँ आ सके तो अच्छा है। कवि नानालाल हमारे यहाँ के महान् कवि हो गये हैं। उनके अपूर्व ऊर्मिगीत भारतीय साहित्य की देन हैं। उन्होंने गुजराती को जो स्वरूप दिया है, उसका आधुनिक निबन्ध में अनुवाद करके रक्खें तो बहुत लाभ होगा।

अब पुराना जमाना नहीं रहा। हमारा जो साहित्य है वह नदी की तरह बहता है। यदि हमारा जीवन उसके प्रतिकूल बहता है तो वैसा साहित्य नहीं रह सकता। अनुसन्धान उसी के लिए होता है। आज जो आधुनिक भाषा तत्व है वह भी एक आवश्यक अंग है, यह में मानता हूँ। पर मैं चाहता हूँ कि अब अर्वाचीन मनुष्य किस प्रकार का साहित्य प्रकट कर रहा है, उसका तुलनात्मक अध्ययन जहाँ तक सम्भव हो हमारे सामने लाया जाय। और इसीलिये मैं चाहता हूं कि आप आगे के किसी अंक में इस विषय पर भी प्रकाश डालें।

इतना ही नहीं। मैं तो चाहता हूँ कि विश्वविद्यालय की ओर से एक ऐसी सिरीज़ भी निकाली जाय जिसमें संसार के सर्वोत्तम कवियों और उनके साहित्य को स्थान मिले। आज जैसे-जैसे हम हिन्दी के विद्यार्थियों को उच्च अध्ययन की ओर ले जाते हैं, वैसे ही उनकी मनोदशा संकुचित होती जाती है।

एक सज्जन मेरे पास आये। वे आधुनिक कहानी साहित्य पर थीसिस लिख रहे थे। मैंने कहा आप मेरे साथ घूमने चलें। हम दोनों बात करने लगे। उन्होंने पिछले पच्चीस वर्ष की हिन्दी की कहानियाँ तो अवश्य पढ़ी थीं, लेकिन उन्हें रवीन्द्रनाथ और बंकिम आदि की बँगला की कहानियों का ख्याल न था। मैंने जब "गाय दि मोपासाँ" का नाम लिया, तो उनके ऊपर बादल छा गये। उन्हें पता नहीं था कि "मोपासाँ" क्या बला है, इस तरह के अनुसन्धान से तो काम नहीं चलसकता। "कम्पैरेटिव लिटरेरी स्टडीज़" के सिवाय साहित्य का अनुसन्धान नहीं हो सकता।

मैंने यहाँ के उपन्यास भी पढ़े हैं, भाई पाणिक्कर के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया गया है। वे अनुवाद भी मैंने पढ़े हैं। लेकिन जो शैली बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय से शुरू हुई और यह जो नई प्राणाली चली है, उन्हें तुलनात्मक रूप से कौन देखे कि उनमें अधिक अच्छी कौन है! रवीन्द्रनाथ के भी गीत अच्छे हैं, यहां भारती के भी अच्छे हैं, हमारी गुजराती में भी बहुत से अच्छे गीत हैं। क्योंकि भारतवर्ष में गीतों की एक नई लहर बही है, इसके विषय में तुलनात्मक साहित्य होना चाहिए।

आज के साहित्यकार अंग्रेजी भी पढ़ते हैं, अच्छी अंग्रेजी पढ़ते हैं, कुछ लोग सोचते हैं कि इस नये जमाने में तो अंग्रेज़ी पढ़ने की कोई जरूरत है नहीं, स्वराज्य मिल गया, हिन्दी के अलावा कुछ पढ़ें तो पाप लगता है, लेकिन पाश्चात्य साहित्य का जो भारी प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा उसका हमको ध्यान नहीं।

एक दिन मैं अपना "जय सोमनाथ" ड्रामा देख रहा था। मेरे उपन्यास की नृत्य-नाटिका बनाकर पहिली बार ही खेला जा रहा था। उसमें कितनी ही चीजें आईं। उस समय मैं यह सोचने लगा कि इस नृत्यनाटिका पर कौन कौन से असर हो सकते हैं। जनपदीय देशभक्ति भी आई, संस्कृत का प्रभाव भी काफी आया। मुझे ऐसा लगा कि कुछ प्रभाव होमर और इलियड का हो सकता है, यह भी लगा कि किसी रूसी बैलट का भी असर है। इसके बाद भारतनाट्यम् भी आया। विदेशी रीति से प्रस्तुत करने का ढंग भी। कला की सृष्टि सामयिक या भौगोलिक सीमाप्रदेश से आबद्ध नहीं है। कला का मौलिक सौंदर्य तो सनातन है, यों देश और समय के अनुसार उसके ऊपर के पहलुओं पर कुछ हेर फेर होता है। और अब तो यह भेद भी कम होता जा रहा है, आज दुनिया छोटी हो गई है। पंडित जी जो भाषण कहीं भी देते हैं उसे सारा संसार दो घण्टे के अन्दर ही सुन लेता है, तो ऐसे युग में कला के ऊपर अनेक देशों का असर न आये, यह सम्भव नहीं है।

मैं चाहूँगा, कि भारत की भाषाओं में जो साहित्य है, उसका तुलनात्मक अध्ययन इस विद्यापीठ में हो। इतना ही नहीं, विश्वसाहित्य का संकलन भी हो। गुजराती साहित्य परिषद की ओर से मैंने ऐसा प्रयास किया था। मिस्र का प्राचीन साहित्य

प्रकाशित भी हुआ। लेकिन समस्या तो यह है कि हमको ऐसे अनुवादक नहीं मिलते जो ग्रीक या लैटिन, इटालियन और अंग्रेजी का अनुवाद कर सकें। जिसमें भाषा की "आत्मा" सुरक्षित रहे। लेकिन यह भी करना ही होगा। आज भारत में अंग्रेजी का प्रचलन कम होता जा रहा है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा होना है, इसीलिये विश्व साहित्य पहले हिन्दी में ही आना चाहिये, उसके बाद गुजराती, मराठी आदि में। यह काम मैं आगरा में करना चाहता हूँ। हमारे वाइस चांसलर साहब के पास काफी पैसा भी है। लेकिन उनकी जेब में हाथ रख के पैसा ले लेने की शक्ति डाइरेक्टर में है या नहीं, उसके लिए मैं क्या करूँ।

हिन्दी का विकास तो तभी हो सकता है जब उसको शैली में अभिव्यंजनाशक्ति आये और भाषा में सौन्दर्य हो। केवल पुराना सौन्दर्य नहीं, नये सौन्दर्य की भी उस पर छाया पड़े।

इतिहास में हम देखते हैं कि एक राष्ट्र के उत्थान के साथ-साथ एक भाषा का भी उत्थान हुआ है, १५वीं शताब्दी में ऐलिजाबेथ के समय में इंगलैंड का उत्थान हुआ, तो उसके साथ साथ शेक्सपीयर युग की अँग्रेजी का भी उत्थान हुआ। उसी तरह आज हमारी स्थिति यह है कि भारतवर्ष का जो उत्थान हो रहा है उसके साथ-साथ हिन्दी का उत्थान संलग्न है। अब प्रश्न यह है कि इस उत्थान में हमारी संस्था किस प्रकार मदद करे और किस रीति से वह सर्वव्यापी हो, जिससे हिन्दी में भारत की दूसरी भाषाओं के भी अच्छे तत्त्व आ जायें।

मैं जानता हूँ कि एक ऐसा भी सम्प्रदाय है, और सम्भव है कि यहाँ भी हो जो कहता है कि उत्तर प्रदेश की हिन्दी अलग है। गुजराती, मराठी, और तामिल वाले कुछ भी हिन्दी लिखें लेकिन हमारे लिए तो हमारी ही हिन्दी है। इस विचारधारा से सबका नुकसान होगा, यह स्वाभाविक बात है। क्योंकि बहुत से लोग हिन्दी पढ़ेंगे, उनमें कुछ वकील होंगे, तो कुछ साहित्यकार, पत्रकार या अफ़सर। और एक बड़े समूह के लिए हिन्दी लिखने और बोलने की आवश्यकता होगी ही। इसलिये हम ऐसा प्रयत्न करें जिससे हरएक प्रदेश की भाषाओं की विशेषताओं को एकत्रित करके हिन्दी में लाएँ, और जैसे नदी समुद्र में मिलती है, वैसे ही अन्य भाषाओं को मिलाकर हम हिन्दी का विकास करें। मुझे आशा है कि यह विश्वविद्यालय अनुसन्धान के साथ साथ विकास पर भी ध्यान देगा। तभी इस संस्था से मैंने जो आशा रक्खी है, वह फलीभूत हो सकेगी।

वाइसचांसलर ने कहा कि इस संस्था के संरक्षण और विकास में मैंने भाग लिया है। हाँ, कुछ लिया तो है। जैसे एक पंडा आपसे कहता है, स्वर्ग में जाना हो तो तीर्थ स्नान करो, और नरक में जाना हो तो तुम जानो। इसलिये मुझे तो इसमें कुछ नहीं कहना, थोड़े महीने का समय और है। मैं तो चला जाऊँगा। मार्ग दिखलाने

का मेरा काम था, मैंने यह कह दिया कि स्वर्ग का रास्ता क्या है फिर आपकी जैसी मर्जी हो वैसा करें ।

आपने मुझे यहाँ बुलाकर मेरा और मेरी पत्नी का जो सत्कार किया उसके लिए मैं हिन्दी विद्यापीठ को धन्यवाद देता हूँ । मुझे आशा है कि पिछले दो वर्षों में इस संस्था ने जैसे प्रगति की है, वैसे ही आगे भी करती रहेगी । मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही इसका अच्छा विकास होगा । धन्यवाद ।

मो० सत्यनारायण जी एम० पी०

भारत के लिए एक सामान्य लिपि तथा प्रादेशिक लिपियाँ[१]

आदरणीय सभापति महोदय, भाइयो तथा बहिनो,

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ के प्रथम वार्षिकोत्सव के इस कार्य-क्रम में सम्मिलित होने का जो अवसर आप लोगों ने दिया है उससे मैं अपने आपको अनुगृहीत समझता हूं और आप लोगों का आभार मानता हूं।

भारत की एकता को सुदृढ़ बनाने के लिये जो साधन आवश्यक समझे जाते हैं उनमें एक सामान्य लिपि भाषा का होना सब से प्रधान है। पिछले ४० सालों में इस सामान्य भाषा के प्रचार में काफ़ी शक्ति लगाई गयी है। सामान्य भाषा के स्वरूप, नाम, व्याकरण तथा शब्दसंचय को लेकर कई वर्ष तक वादविवाद चलता रहा। जब से भारतीय संविधान परिषद ने यह निश्चय किया कि देश की राजभाषा हिन्दी होगी और वह देवनागरी लिपि में लिखी जायेगी तब से यद्यपि यह सारा वादविवाद बन्द-सा हो गया फिर भी कुछ लोगों के संकुचित भाषा-मोह के कारण कहीं-कहीं आज भी इस निर्णय का विरोध सुनाई पड़ता है। कभी यह विरोध सुदूर दक्षिण से, कभी पूर्व प्रान्तों से और कभी उत्तर से सुनाई देता है। भारत के एकीकरण तथा उसके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में समन्वयीकरण को ध्यान में रखते हुए पिछले नौ वर्षों में जो कार्य हुआ उसे देखते हुए यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि अब भारत को छोटे-मोटे विवादों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं, वह अब अपने राज-मार्ग पर अबाधरूप से अपने लक्ष्य की तरफ यात्रा कर सकता है।

जो लोग नहीं जानते कि २५ वर्ष पहले भारतवर्ष के जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कौन व्यक्ति काम करते थे और उन्हें किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था उनको आज का परिवर्तन बड़ा ही उत्साहवर्धक तथा कल्याणकारी मालूम होगा। इस शुभ-परिवर्तन के लिये जिन महानुभावों ने बीसवीं सदी की प्रथम शताब्दी में बीज बोये थे और जिन देश-भक्तों ने उन्हें सींच-सींच कर पौधा बनाया था और जिन उत्साही तथा जोशीले कार्य-कर्ताओं ने उन पौधों को बढ़ा कर वृक्ष बनाया वे सब धन्य हैं और आज उन महावृक्षों की शीतल छाया में बैठकर जो युवक कार्यकर्ता आराम के सपने देख रहे हैं उनको यह

---

१ आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ के प्रथम वार्षिकोत्सव के अवसर पर श्रीमान् मो० सत्यनारायण जी, एम० पी० का भाषण।

स्मरण रखना चाहिये कि अभी आराम का समय नहीं आया है। उसके लिये कितनी ही और मंजिलें तय करनी हैं और उन्हें तब तक आराम नहीं करना चाहिये जब तक हमारी जन्म-भूमि तथा पुण्य-भूमि भारतवर्ष की एकता बनाये रखने में किसी विघ्न-बाधा की आशंका हो। भारत की एकता की स्थापना करने तथा उसे बनाये रखने के लिये जिन प्रदेशवासियों ने काम किया है उनमें सर्व-प्रथम स्थान ब्रज-भूमि को मिलता है। इस भूमि में कितने ही महान् व्यक्ति पैदा हुए जिन्होंने अपनी अमर कृतियों द्वारा समूचे देश को प्रभावित किया। मेरी राय में सच्ची देश-भक्ति के बीज इस ब्रज-भूमि में बोये गये थे। देश-भक्ति का सच्चा अर्थ यही तो सही हो सकता है कि मनुष्य देश की मिट्टी के साथ नहीं बल्कि जिन प्राणियों के बीच वह रहता है उनसे प्रेम करे। जो व्यक्ति अपने अड़ोस-पड़ोस के साथ और वहां के प्राणियों के साथ प्रेम नहीं कर सकता वह देश-प्रेमी कैसा ? जो व्यक्ति माता-पिता के प्रति श्रद्धा और गुरुजनों के प्रति भक्ति नहीं रखता वह देश-प्रेमी कैसे कहा जायेगा ? सदियों पहले इसी ब्रज-भूमि ने संसार में सब से पहले पूर्व मानव की सृष्टि की थी। और इस प्रकार मानवता की संपूर्णता का एक समग्र चित्र भगवान श्रीकृष्ण के रूप में साकार कर लिया था।

इसी ब्रज-भूमि ने मनुष्य की मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियों के उच्चतम शिखरों का दर्शन कराया था। ब्रज के इसी महामानव भगवान श्रीकृष्ण को समग्र भारत ने अपने हृदय मंदिर में अधिदेवता के रूप में प्रतिष्ठित किया था और आज भी भगवान् का वह प्रतिष्ठित पद भारत के हृदय में अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है। ब्रज हिन्दुस्तान का लगभग मध्य भाग है। हिमालय तथा बिंध्य के बीच का यह मध्य बिन्दु है। पुराने ज़माने से लेकर आज तक यह भूमि समूचे भारत में ऐसा ही स्थान रखती है जैसा कि मनुष्य के शरीर में हृदय। हृदय का काम यही है कि वह समूचे शरीर को सिर से लेकर पैर तक, रक्त का संचार कराये और शरीर के रक्त को शुद्ध बनाकर उसे हृष्ट-पुष्ट रखे। ब्रजभूमि ने हिन्दुस्तान को शुद्ध तथा हृष्ट-पुष्ट बनाने का काम सदियों पहले शुरू किया था। अगर ब्रज भूमि के कृष्ण भारत को न मिलते तो न तो उडुपी में ही श्रीकृष्ण के दर्शन होते, न हम मणिपुर के नरनारियों को कृष्ण-प्रेम में उन्मत्त होकर नृत्य करते देखते। कृष्ण भगवान् के गौ-पालन के कार्य से देश ने प्राणि-मात्र के प्रति दया करना सीखा। जमुना के आसपास की गोचर भूमि के प्रति श्रीकृष्ण के सहवासी गोपालों के प्रेम से ही भारतवर्ष ने स्वदेश तथा स्वभूमि के प्रति प्रेम करना सीखा। भारतवर्ष के जितने उच्चकोटि के भक्त हुए उनको इसी पुण्य भूमि में शान्ति मिली। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु तथा आन्ध्र के वल्लभाचार्य ने इसी पुण्यभूमि में ही अपने-अपने भक्ति कल्प-तरुओं को बोया, आगे चलकर जिनकी विशाल और शीतल छाया में विश्व के दुःखदग्ध प्राणियों को परम शान्ति प्राप्त हुई। अगर इस पुण्य भूमि में वह महान् शक्ति न होती तो हिन्दी के दिव्य संगीत के अमर कवि राष्ट्र भाषा तथा भारत को कहां से प्राप्त होते ? यहां की मिट्टी में अगर वह अलौकिक आकर्षण नहीं होता और वह अद्भुत शक्ति न होती, तो रामानुज संप्रदाय के वैष्णव तथा द्वैत संप्रदाय के कृष्ण भक्त इस भूमि की तरफ क्यों दौड़े आते ? आज भी यही भूमि इस समूचे हिन्दुस्तान के लिये हृदय का स्थान रखती है। इसी भूमि की भाषा ने ही राष्ट्र भाषा का स्थान प्राप्त कर लिया है। गांधी जी की हिन्दुस्तानी भी सच्चे अर्थों

में यहीं पर मिल सकती है। संविधान की राजभाषा का भवन यहां की मिट्टी पर ही खड़ा किया जा सकता है। देश की सामान्य भाषा हिन्दी के समन्वय की कल्पना भी यहीं प्राप्त की जा सकती है। क्योंकि यह पुण्य भूमि इस तरह के विचारों का हमेशा स्वागत करती रही है।

आज राजनैतिक तथा आर्थिक दृष्टियों से भारत एक बन गया है। समूचे भारत में इस वक्त शिक्षा के स्तर और तरीकों में भी कोई अन्तर नहीं है। विश्वविद्यालयों के उच्च वर्गों में शिक्षा का माध्यम भी इस समय तक एक ही है। लेकिन दुख की बात यह है कि यह माध्यम देशी नहीं बल्कि विदेशी है। राज्य पुनर्गठन के बाद प्रादेशिक राज्यों में प्रादेशिक भाषाओं का ही उपयोग होगा, पर यह कहा नहीं जा सकता कि अन्तःप्रादेशिक भाषा तथा संघ-सरकार की भाषा के रूप में अंग्रेजी कब तक बनी रहेगी। और न यही कहा जा सकता है कि प्रादेशिक राज्यों में अंग्रेजी के हटने में कितना समय लगेगा। भारतवर्ष के ३४ विश्वविद्यालयों में से लगभग पचास फी सदी हिन्दी भाषी प्रान्तों में हैं। इस बात का विश्वास किया जा सकता है कि इन सभी विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगा। यह मानी हुई बात है कि गुजरात और महाराष्ट्र के विश्वविद्यालय अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा को ही माध्यम बनायेंगे और आंध्र के विश्वविद्यालय तेलुगु को। भला बंगाल के स्वभाषा-प्रेमी अपनी सम्पन्न भाषा बंगला को क्यों पिछड़ा रहने देंगे। इस होड़ में न तमिलनाड के लोग ही पीछे रहेंगे और न उड़ीसा के। इस हालत में हमारे विश्वविद्यालयों में निम्नलिखित भाषायें ही यथा शीघ्र शिक्षा के माध्यम के पद पर आसीन होंगी--हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, उडिया, बंगला, असमिया, उर्दू तथा पंजाबी।

भारतीय संविधान के अमल में आने के दस वर्ष के अन्दर चौदह वर्ष की उमर तक के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देना आवश्यक है। हमारी पंचवर्षीय योजना में भी इस तरह के कार्यक्रम सम्मिलित हैं जिनके द्वारा शिक्षा का प्रचार बढ़े। बहुत सम्भव है कि १९६१ की जनगणना में साक्षर लोगों की संख्या दुगुनी हो जाय अर्थात् छः करोड़ से बारह करोड़ तक पहुंच जाय। इससे यह स्पष्ट है कि बारह भिन्न-भिन्न भाषाओं में बारह करोड़ लोग साक्षर बनाये जायेंगे। पर यह लोग शिक्षित तथा साक्षर होकर भी न तो एक दूसरे की भाषा बोल सकेंगे और न पढ़ ही सकेंगे। ऐसी परिस्थिति में भला इस देश की एकता को कैसे बनाया रखा जा सकता है। आज की जो एकता है वह देश के अग्रतम वर्गों तक ही सीमित है और उन्हीं के पुण्य-प्रताप से यह एकता अब तक बनी हुई है। जिन तेजस्वी नेताओं ने अपने त्याग, तपस्या तथा प्रताप से इस देश को स्वतन्त्र बनाया उनका प्रभाव भी बहुत हद तक, हमारे देश की एकता को बनाये हुए है। इस बात का अंदेशा अवश्य किया जा सकता है कि इन प्रतापशाली नेताओं के बाद इस देश की एकता कहीं छिन्न-भिन्न न हो जाये। इसको बनाये रखने के लिये बहुत हद तक इस देश के शिक्षित वर्ग जिम्मेवार समझे जायेंगे। वे इस जिम्मेवारी को तब तक नहीं निभा सकेंगे जब तक ऐसे साधन अख्तियार न किये जायँ जिनके द्वारा बिना प्रदेश, वर्ग तथा शिक्षा के भेद के वे समूचे भारत का साक्षात्कार कर सकें और उसकी बेरोकटोक

सेवा कर सकें। इसलिये जिन साधनों की आवश्यकता है उनको जुटाने में देश इस समय बड़े उत्साह से लगा हुआ है। लेकिन एक चीज की तरफ हमारे देश के शिक्षाचार्यों, राजनैतिक नेताओं तथा प्रसिद्ध पत्रकारों का ध्यान नहीं गया है। मेरा मतलब देश के लिये एक सामान्य लिपि से है। देश के लिये एक सामान्य लिपि को मैं सामान्य भाषा की अपेक्षा भी अधिक महत्व देता हूं। मेरे इस विचार से कोई यह न समझे कि मैं प्रादेशिक लिपियों के खिलाफ हूं और उनकी विशेषताओं तथा सुन्दरताओं को नहीं जानता। न कोई यही समझे कि मैं इस बात से अनभिज्ञ हूँ कि लोग अपनी प्रादेशिक भाषा लिपि को कितना चाहते हैं और कितना महत्व देते हैं। प्रादेशिक लिपियों के स्थान में एक सार्वदेशिक लिपि बैठाने के प्रस्ताव से न तो मैं सहमत हूं और न यही मानता हूं कि ऐसा कोई प्रयत्न सफल हो सकेगा। राजभाषा-आयोग के दौरे के सिलसिले में मैंने इस बात को बहुत अच्छी तरह देखा और समझा है। काफी बहस करके नाना प्रकार के लोगों के विचार जाने। यद्यपि कुछ उत्साही लोगों ने भारत के लिये सभी प्रान्तीय लिपियों के स्थान में एक ही लिपि के प्रस्ताव का समर्थन किया, लेकिन विवेकी लोगों ने यह सुझाया कि सामान्य लिपि तथा सार्वदेशिक एक लिपि के प्रस्ताव में बहुत अन्तर है। एक सामान्य लिपि का प्रचार इस देश में अवश्य होना चाहिये। वह लिपि प्रादेशिक लिपि का स्थान न लेकर उस प्रादेशिक लिपि से भिन्न एक और लिपि होगी। ऐसी सामान्य लिपि हमारे देश में कौनसी हो इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये जाते हैं। जब सामान्य लिपि का सवाल उठता है तो तीन प्रस्ताव हमारे सामने आते हैं—एक तो रोमन लिपि का, दूसरा नागरी लिपि का और तीसरा किसी दक्षिणी लिपि का। रोमन लिपि के अनेक-अनेक लाभ बतलाये जाते हैं। यह कहा जाता है कि संसार में सबसे अधिक उसी का प्रचार है। उसकी छपाई में अत्यधिक सुविधा है। टंकन-लिपि (Typewriting), पंक्ति-लिपि (Linotype), एकाक्षर लिपि (Monotype) के यन्त्रों के लिये वह लिपि बहुत ही अनुकूल है। इस में विद्यु-लिपि (Teleprinting) के द्वारा संदेश भेजने में बड़ी सुविधा होती है इत्यादि। कुछ लोग यह मानते हैं कि आज रोमन लिपि से अगर हम लोग काम लेना बन्द कर दें तो सारे देश का कारोबार ठप हो जाये। इसलिये कुछ उत्साही विद्वान् हमारी सार्वदेशिक भाषा हिन्दी ही के लिये नहीं वरन् सभी प्रादेशिक भाषाओं के लिये भी रोमन लिपि का उपयोग उत्तम समझते हैं और वे चाहते हैं कि रोमन लिपि के विदेशी होने की बात हम भूल जायें और उसे विश्व लिपि मानकर अपना लें। उनका यह भी कहना कि रोमन लिपि को अपनाने से भारत की भिन्न-भिन्न लिपियों के बीच का झगड़ा हमेशा के लिये दूर हो जायेगा। भारत भी अपने संकुचित दायरे से उठकर विशाल क्षेत्र में पहुँचेगा। इस सम्बन्ध में हमारे पड़ोसी देश चीन की, जो क्षेत्रफल तथा जनसंख्या में भारत से बड़ा है और जो संस्कृति एवं सभ्यता में भारत के समकक्ष है, मिसाल दी जाती है। यह कहा जा रहा है कि चीन ने "हिन्दी-चीनी भाई भाई" के नारे को मानकर भी और साम्यवाद को अपनाकर भी अपनी प्राचीन लिपि के बदले में रोमन लिपि को काम में लाने का निश्चय किया है। रोमन लिपि की श्रेष्ठता, लोकप्रियता तथा सुगमता के लिये यह सब से बड़ा उदाहरण समझा जाता है। एक

बड़ी सुविधा रोमन लिपि के पक्ष में इस समय यह है कि यह लिपि हमारे देश में करीब दो-ढाई सौ साल से चल रही है। यह अंग्रेजों के साथ हमारे देश में आई, अंग्रेजी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति को अपने साथ ले आई, आधुनिक ज्ञान तथा विज्ञान की विशेषताओं को भी ले आई और उन सब को अपनाने के कारण वह आज भारत की अपनी हो गई है। अंग्रेजों के इस देश से चले जाने पर भी कुछ लोगों की राय में उस का वापिस जाना जरूरी नहीं है। दूसरी लिपि नागरी के सम्बन्ध में जो दलीलें दी जाती हैं उनमें कुछ लोगों को केवल भावुकता की गन्ध आती है तो वे कुछ लोगों के गले में नहीं उतरतीं। वास्तव में दस साल के पहले नागरी और उर्दू लिपि के बीच में जब होड़ चलती थी तो अपने-अपने वाद के समर्थन के लिये दोनों लिपियों के पृष्ठ पोषकों ने एक दूसरे पर काफी कीचड़ उछाला था। पिछले दस वर्षों से देश के विचारकों को इस बात के लिये समय नहीं मिला कि पिछली बातों को भूलकर इस सामान्य-लिपि की समस्या पर नये सिरे से सोचने लगें। इस लिपि के झगड़े में कुछ हद तक सांप्रदायिकता भी आ गई है। नागरी लिपि को हिन्दू सांप्रदायिकता का प्रतीक एवं उर्दू लिपि को मुस्लिम सांप्रदायिकता का प्रतीक मानकर बहुत से लोगों ने उस लिपि समस्या को खतरनाक समझा और उस पर विचार करना भी छोड़ दिया। कुछ लोगों ने भी मान रखा है कि अपनी भाषाओं तथा लिपियों की विभिन्नता के कारण दक्षिण भारत न तो उर्दू लिपि को स्वीकार करेगा और न नागरी लिपि को ही। इसलिये एक सामान्य लिपि की समस्या बहुत ही महत्वपूर्ण है। देश में बढ़ते हुए उद्योग-धन्धों एवं ज्ञान-विज्ञान की प्रगति को देखते हुए भी, जिसके लिये लिखाई-पढ़ाई का प्रचार विस्तृत पैमाने पर होना चाहिये, इस लिपि समस्या पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।

जनतन्त्र के इस युग में संख्याबल को बड़ी प्रधानता प्राप्त है। जिस समाज, प्रदेश तथा राष्ट्र के पीछे अत्यधिक संख्याबल है उसकी आवाज़ में अधिकार आ जाता है। लोग यह मानते हैं कि हमारे देश में हिन्दी को सार्वदेशिक भाषा के तौर पर स्वीकृत करने का निर्णय भी करीब करीब इस सिद्धान्त पर आधारित है। यह बहुत हद तक ठीक भी है। एक तेलुगु कहावत के अनुसार "देश का मतलब मिट्टी नहीं वरन् मनुष्य है"। एक न एक दिन इन मनुष्यों को 'साथ चलना, साथ विचारना तथा साथ काम करना, सीखना होगा। अधिक संख्या के लोग अपने बल पर एक साथ चलते हैं तो अल्पसंख्यक लोगों को उनके साथ चलने में सहूलियत होगी। इस संख्या के सिद्धान्त को मानते हुए देश के भिन्न भिन्न भाषाभाषियों की संख्या, साक्षरता तथा अंग्रेजी साक्षरता की तरफ अगर हम ध्यान दें तो हमारे सामने भिन्न-भिन्न भाषाओं की स्थिति, निम्नलिखित तालिका के रूप में उपस्थित होती है। इस तालिका में दिए गए आंकड़े सरकारी हैं और १९५१ की जनगणना के विवरण से प्राप्त किये गये हैं :—

	राज्य	जनसंख्या	साक्षरता	प्रतिशत सा०	अंग्रेजी साक्षर	का स्तंभ 3 से प्रतिशत	स्तंभ 6 का स्तंभ 4 से प्रतिशत
1	उत्तर प्रदेश	6,32,15,742	68,25,072	10·79	5,18,326	0·82	7·59
2	बिहार	3,89,30,000	47,49,460	12·20	2,56,938	0·66	5·35
3	मध्य प्रदेश	2,60,60,000	29,94,762	11·49	1,94,678	0·77	6·67
4	पंजाब	1,61,34,890	24,57,496	15·38	3,62,877	2·25	14·75
5	राजस्थान	1,59,84,169	14,24,903	8·94	86,571	0·54	6·06
		16,03,24,801	1,84,51,693	11·56	14,19,390	0·89	7·47
6	बंबई	4,77,50,257	98,95,884	20·70	4,54,707	0·95	4·50
7	आंध्र	3,22,08,801	41,78,084	12·98	2,27,671	0·71	5·45
8	मद्रास	3,00,00,849	65,55,839	21·85	3,36,525	1·12	5·13
9	मैसोर	1,89,59,906	39,42,216	20·75	2,39,016	1·26	6·08
10	केरल	1,35,50,425	50,71,337	37·43	2,01,253	1·49	3·97
		9,47,19,981	1,97,47,476	20·85	10,04,465	1·06	5·06
11	उड़ीसा	1,46,45,946	23,13,431	15·79	63,178	0·43	2·73
12	प० बंगाल	2,61,06,255	62,59,971	24·10	6,04,111	2·31	9·57
13	आसाम	90,43,707	16,33,753	18·15	73,496	0·81	4·49
		4,97,95,908	1,02,07,155	20·42	7,40,785	1·49	7·27
14	जम्मू काश्मीर						
15	दिल्ली	17,44,072	6,69,073	39·37	1,62,678	9·32	24·30
16	हिमाचल प्रदेश	11,09,466	85,509	7·71	6,776	0·61	7·92
17	मणिपुर	5,77,635	65,895	11·41	1,638	0·28	2·49
18	त्रिपुरा	6,39,029	99,197	15·52	5,559	0·66	5·60
19	अंदमान-निकोबार	30,971	7,980	25·76	460	1·48	5·76
		41,01,173	9,27,654	22·38	1,77,111	4·32	17·71
	कुल	35,66,92,120	5,92,29,862	16·44	37,96,458	1·06	6·41

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि इस समय हमारे देश में लगभग छह करोड़ लोग साक्षर हैं। यह संख्या हमारी कुल आबादी की साढ़े सोलह फीसदी है। इसकी तुलना में कुल अंग्रेजी जानने वालों की संख्या ३८ लाख है। इस संख्या में वे ही लोग सम्मिलित किये गये हैं जिनकी अंग्रेज़ी योग्यता मेट्रिक या उसके ऊपर की है। यह स्पष्ट है कि इससे कम योग्यता का व्यक्ति अंग्रेज़ी भाषा और लिपि के द्वारा कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकता। यह भी स्पष्ट है कि हमारे देश के अंग्रेज़ी जानने वाले सभी लोगों को अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा भी अच्छी तरह मालूम है। इस हालत में अंग्रेज़ी का ज्ञान उनके लिये एक अतिरिक्त ज्ञान है। अंग्रेज़ी जानने वालों की संख्या हमारे देश की कुल आबादी में १.६ प्रतिशत है और यह संख्या कुल साक्षरों की संख्या का ६.४१ प्रतिशत बैठती है। अब यह बात स्वत: स्पष्ट हो गयी कि संख्या की दृष्टि से अंग्रेज़ी साक्षरों की संख्या बिलकुल नगण्य सी है। अगर आज अंग्रेज़ी या रोमन लिपि का कोई बल है तो उसका सारा आधार प्रान्तीय भाषाओं की दुर्बलता के साथ-साथ अंग्रेज़ी जानने वालों की वर्तमान वह स्थिति है जिसे उन्होंने समाज में पूर्व शासकों अर्थात् अंग्रेजों के द्वारा प्राप्त कर लिया है। उपर्युक्त तालिका से यह भी स्पष्ट है कि हिन्दी प्रान्तों की साक्षरता का प्रतिशत किसी अन्य प्रान्त की तुलना में बहुत कम होते हुए भी सारे हिन्दुस्तान की साक्षरता में ३२.४३ बैठता है। यह मानी हुई बात है कि हिन्दी प्रान्तों की साक्षरता नागरी की साक्षरता है। नागरी लिपि का उपयोग हिन्दी भाषा के अलावा मराठी भाषा के लिये भी होता है। गुजराती तथा नागरी लिपि इतनी मिलती जुलती है कि नागरी लिपि का जानकार कोई भी व्यक्ति बिना विशेष परिश्रम के गुजराती लिपि पढ़ सकता है। मराठी तथा गुजराती के साक्षरों की संख्या हिन्दी साक्षरों की संख्या में मिला दी जाये तो उनका प्रतिशत हिन्दुस्तान के कुल साक्षरों की संख्या का ४९.२ बैठता है। इसके अलावा संस्कृत भाषा तथा हिन्दी भाषा के अध्ययन के द्वारा अहिन्दी प्रान्तों में नागरी लिपि के इतने जानकार हैं कि उनकी संख्या भी इसी में सम्मिलित की जाय तो नागरी लिपि में साक्षरों का प्रतिशत ६० से भी अधिक हो जाता है। तब ज्यादा से ज्यादा दो करोड़ साक्षर ऐसे रह जाते हैं जो नागरी लिपि से अनभिज्ञ हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस अनुपात में १९५१ के बाद साक्षरता बढ़ी है उसी अनुपात ही में नहीं, उससे कुछ अधिक ही नागरी की भी साक्षरता बढ़ी है। जब नागरी, रोमन तथा प्रादेशिक लिपियों की स्थिति, संख्या बल के अनुसार, हमारे सामने आती है तब हमें इस बात के निर्णय करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती कि हमारे देश की "सामान्य-लिपि" नागरी के सिवा कोई और नहीं हो सकती।

संख्या के अतिरिक्त कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनके ऊपर कुछ विद्वानों तथा विवेकियों के मतानुसार इस पर विचार किया जाना चाहिये। इन में सब से बड़ी और महत्वपूर्ण बात उस की अन्तर्राष्ट्रीयता है। अन्तर्राष्ट्रीयता के महत्व के इस ज़माने में, यह बात उचित तथा न्यायसंगत भी मालूम पड़ती है। बढ़ते हुए ज्ञान-विज्ञान के इस युग में जब कि संसार के एक होने और एक सरकार द्वारा नियन्त्रित होने तथा शासित किये जाने के लिये तरह-तरह के प्रस्तावों पर विचार किया जा रहा है, अन्तर्राष्ट्रीयता के

महत्व पर ध्यान न देना बुद्धिमानी का काम नहीं समझा जायेगा। न यही बुद्धिमानी का काम समझा जायेगा कि रोमन लिपि के मार्ग से भिन्न-भिन्न राष्ट्रों से हमें विज्ञान के विकास के द्वारा तथा उद्योग-धन्धों के विस्तार के रूप में जो ज्ञान मिल सकता है उसे ठुकरा दिया जाय। लेकिन तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क रखने वाले, विज्ञान का विशेष अध्ययन करने वाले तथा वृहत् उद्योग-धन्धों के विकास से फायदा उठाने वालों की संख्या किसी भी हालत में कुछ लाख से अधिक नहीं हो सकती। इस सीमित संख्या के लोगों की सुविधा के लिये समस्त देश की जनता को, देशी लिपि के स्थान में तथा अतिरिक्त रूप में रोमन लिपि सिखाना आवश्यक ही नहीं अपितु असंगत भी माना जायेगा।

कुछ लोगों के मन में, जो रोमन लिपि के भक्त हैं यह डर समा गया है कि रोमन लिपि का उपयोग न करने के कारण इस समय छपाई एवं प्रकाशन में यन्त्रों के द्वारा जो सहायता हमें मिल रही है वह मिल नहीं पायेगी और उससे देश का बड़ा नुकसान होगा। इस का उत्तर यही है कि लिपि के निकल जाने पर यन्त्र का भी बहिष्कार करना आवश्यक नहीं है। यह भूलना नहीं चाहिये कि यन्त्र यन्त्र ही है। जैसे इंग्लैण्ड से आया हुआ यन्त्र हिन्दुस्तान की रुई से भी कपड़ा बना सकता है, हिन्दुस्तान की ईख से चीनी बना सकता है उसी प्रकार वहां का मुद्रण यन्त्र हिन्दुस्तान की लिपि को लेकर छाप सकता है। प्रयत्न हमारी तरफ से इसका ही होना चाहिये कि उस यन्त्र को हम अपनी लिपि के अनुकूल बनालें। क्या हम इस समय भी टंकन यन्त्र, मुद्रण-यन्त्र, पंक्ति-लिपि-यन्त्र तथा एकाक्षर-लिपि यन्त्रों से अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में छपाई का काम नहीं ले रहे हैं? क्या आज इन यन्त्रों के द्वारा मुद्रित साहित्य को लोग पढ़ नहीं रहे हैं? रोमन लिपि के हक में सबसे बड़ी ज़बर्दस्त दलील यह दी जाती है कि उसमें अक्षरों की संख्या बहुत कम है। रोमन लिपि का चमत्कार यह माना जाता है कि २६ अक्षरों में ही उसका काम चल जाता है। इस चमत्कार से प्रभावित हो कर लोग प्रायः यह भूल जाते हैं कि लिखने पढ़ने के लिये रोमन लिपि के चार प्रकार के अक्षर सीखने पड़ते हैं। किसी विद्यार्थी का लिखना पढ़ना तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि यह चतुर्मुखी लिपि ठीक-ठीक न सीखी जाय। रोमन लिपि के सीखने वालों के इस कष्ट की तरफ कितने लोगों ने ध्यान दिया होगा कि हम जो पढ़ते हैं सो नहीं लिखते हैं और जो लिखते हैं सो नहीं बोलते अर्थात् लिखने के अक्षरों से पढ़ने के अक्षर भिन्न हैं। और लिखे हुए शब्दों को किसी निश्चित सिद्धान्त के अनुसार न पढ़ना सीखा जा सकता है और न बोलना। उदाहरण के लिये (Rough) इसमें (F) कहां? (Taught) में (gh) का उच्चारण कहां? (Receipt) में (P) कहां? इस तरह के उदाहरण सैकड़ों मिल सकते हैं। इतनी असुविधा होते हुए भी लोग इसे सीखने के लिये तैयार हैं और सीखते हैं तो लाचारी से। कुछ लोगों ने इस पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया है तो वह अपनी प्रतिभा की वजह से। उसकी सुविधा की वजह से नहीं। चीन, जापान आदि में अगर इस का स्वागत है तो उसका कारण उन देशों में एक वैज्ञानिक देशीय लिपि का अभाव है न कि रोमन लिपि के विशेष गुण।

एक और महत्वपूर्ण दलील रोमन लिपि के सम्बन्ध में जो दी जाती है वह यह है कि रोमन लिपि की छपाई में बहुत बड़ी किफायत है। कम अक्षरों के होने के कारण उसकी छपाई के लिये छोटे केसों से काम चल जाता है। किसी भी देशीय लिपि के मुकाबिले में लोगों का मानना है, रोमन लिपि में छपाई ही सस्ती नहीं पड़ेगी बल्कि कागज़ का खर्च भी कम होगा। इन बातों की विशेष छानबीन करने के बाद यह सिद्ध हो गया है कि ऐसी दलीलों के लिये कोई पुष्ट आधार नहीं है। एकाक्षरी तथा पंक्ति-आश्रयी होने के कारण रोमन लिपि की छपाई में जो सुविधा मिलती है उसके बदले में अक्षरों की संख्या बेहद बढ़ जाती है। प्रत्येक स्वर स्वतन्त्र अक्षर होने के कारण अपने लिये अलग स्थान ले लेता है। इस तरह कागज़ के ऊपर रोमन की छपाई ज्यादा स्थान घेरती है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि किसी भी हिन्दुस्तानी भाषा में छपी हुई सामग्री को लिप्यन्त्र करके यदि रोमन में छापा जाये तो वह २५ फीसदी स्थान अधिक घेरेगी।

प्रादेशिक लिपियों में बंगला, असमिया, उड़िया और गुरुमुखी रूपसाम्य की दृष्टि से गुजराती के समान नागरी के बहुत समीप न भी हों तो वे बहुत दूर भी नहीं कही जा सकतीं। अगर नागरी से कोई लिपि दूर है तो वे दक्षिणी लिपियां हैं। दक्षिणी लिपियों में तेलुगू तथा कन्नड़ में उतना ही अन्तर है जितना कि नागरी तथा गुजराती में। इन दोनों भाषाओं के बोलने वालों की संख्या दक्षिण भारत की आबादी में आधी से अधिक है। इसलिये कुछ लोगों का यह सुझाव है कि जब सामान्य भाषा के लिये उत्तर की भाषा हिन्दी ले ली गयी है तो सामान्य लिपि के रूप में समझौते के तौर पर कन्नड़ या तेलुगू लिपि को क्यों न स्वीकार कर लिया जाये कि उत्तर और दक्षिण के बीच में अधिक सामरस्य पैदा हो सके। यह सुझाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लाभकारी समझा जा सकता है। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से नहीं। यह सत्य है कि कन्नड़ या तेलुगू लिपि देखने में सुन्दर लगती है और उनके लिखने में भी अक्षरों के गोल होने के कारण बड़ी सुविधा होती है। इन अक्षरों के गोल होने का एक मात्र कारण यही है कि सदियों तक ताड़ पत्रों पर नोकदार लोहे की कलम से यह लिपियां लिखी जाती रहीं। वास्तव में इन लिपियों की जड़ में जाकर देखा जाय तो परिस्थितियों, परिकरों तथा परिसरों के कारण समय के दौरान में यह रूप परिवर्तन हो गया। अन्यथा यह लिपियां भी उसी कुटुम्ब की हैं जिसकी भारत की अन्य लिपियां। सिवा तमिल लिपि के बाकी दक्षिणी लिपियों की वर्णमाला भी, भारत की अन्य लिपियों की वर्णमाला के समान ही है। तमिल वर्णमाला में महाप्राण अक्षर नहीं हैं। इस हद तक यह वर्णमाला अपूर्ण समझी जायेगी। लेकिन अन्य वर्णमालाओं से भिन्न नहीं समझी जा सकती। उर्दू को छोड़कर, समूचे हिन्दुस्तान की प्रादेशिक भाषाओं की अर्थात् कुल बारह भाषाओं की नौ वर्णमालायें हैं। इन वर्ण-मालाओं के अक्षरों में भिन्नता होने पर भी उनकी ध्वनि-पद्धति एक ही है। बंगला एवं असमिया की लिपि में कोई अन्तर नहीं है। सिर्फ लिपि-भेद के कारण यह कठिन न होगा कि प्रत्येक प्रदेशवासी अपनी लिपि के साथ-साथ एक और लिपि भी अर्थात् नागरी भी आसानी से सीख जाय।

कहीं कहीं यह आपत्ति उठाई जाती है कि बेचारे सुकुमार शिशुओं पर कितनी

लिपियों का भार लादा जाय। प्रादेशिक लिपि, राष्ट्र की आवश्यकताओं के लिये राष्ट्र लिपि (सामान्य लिपि) तथा अन्तर्राष्ट्रीय लिपि। इन तीन लिपियों को सीखना क्या कठिन नहीं है ? ऐसे लोगों से यह पूछा जाय कि रोमन में पढ़ने और लिखने के लिये चार-चार लिपियां सीखी जा सकती हैं तो राष्ट्र के नागरिक कर्तव्य निभाने के लिये एक ही ध्वनि-पद्धति की दो लिपियों के सीखने में कठिनाई का अनुभव क्यों किया जाय ? मितव्ययिता, सुगमता तथा राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से यह सम्भव माना जाना चाहिये कि भारत भर के लोग अपनी-अपनी प्रान्तीय लिपि के साथ नागरीलिपि भी सीखें।

यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न लिपियों में टाइप बनाने में राष्ट्र का कितना ही अनावश्यक खर्च होता है। इसको दूर करने के लिये जबकि हमारा उद्देश्य राष्ट्र के साधनों को अपव्यय से बचाना है तो उचित यही होगा कि हम देश भर की भाषाओं की छपाई के लिये नागरी का ही उपयोग करें और हाथ से लिखने के लिये अपनी-अपनी प्रादेशिक लिपियों का। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस का बड़ा ही सत् परिणाम होगा। आवश्यकतानुसार जैसे रोमन में पढ़ने के लिये 52 अक्षर और लिखने के लिये 52 अक्षर सीखे जाते हैं उसी प्रकार लिखने के लिये प्रादेशिक लिपि तथा पढ़ने के लिये नागरीलिपि सीखना कठिन नहीं होगा। रोमन लिपि के जानकार इस बात को अवश्य स्वीकार करेंगे कि रोमन की चारों अक्षर मालाओं में जो रूपसाम्य है उस से भी कहीं अधिक रूपसाम्य कितनी ही प्रादेशिक लिपियों तथा नागरी के बीच में हैं। एक बार हमारी छपाई की लिपि यदि एक हो गयी और वह सबके लिये यदि सामान्य हो गयी तो हमारी कितनी ही अडचनें दूर हो जायेंगीं। समूचे भारत में सामान्य लिपि के द्वारा विधुलिपि से एक सा काम लिया जा सकेगा। संदेशप्रेषक यन्त्र तथा संदेश-प्रापक यन्त्र सामान्य हो जायेंगे। सभी प्रान्तों के समाचार पत्र एक ही लिपि में छप सकेंगे। कोई भी टंकन लेखक भाषा भेद की कठिनाई के बिना किसी भी प्रदेश में काम कर सकेगा। सारे हिन्दुस्तान में जनता के लिये आवश्यक सूचनायें एक ही लिपि के द्वारा दी जा सकेंगीं। रेलवे, डाक, यातायात आदि विभागों में भिन्न-भिन्न लिपियों के उपयोग के द्वारा जो समय तथा धन का अपव्यय हो रहा है वह बच जायेगा। लिपि भेद के कारण इस समय भाषाओं के बीच में जो परदा पड़ा हुआ है वह हट जायेगा। इससे एक दूसरे की भाषा सीखने में बड़ी सुविधा हो जायेगी। शब्दों के उच्चारण में इस समय जो प्रादेशिक भेद हैं वे धीरे-धीरे कम होते जायेंगे और उच्चारण में प्रामाणिकता आ जायेगी। लिपि भेद के कारण इस समय भाषाभेद को जो प्रधानता मिल रही है वह धीरे-धीरे कम होकर, पारस्परिक सहानुभूति तथा सहयोग बढ़ता जायेगा। इस तरह की कितनी ही सुविधायें हैं जो सामान्य लिपि के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। इस से यह नहीं समझा जाना चाहिये कि यदि कोई अपनी प्रादेशिक लिपि को छपाई के काम में लाना चाहें तो उसे मना किया जाय या उसे अराष्ट्रीय साबित किया जाय। इन सभी तथा अन्य कई कारणों से सामान्य लिपि के पक्ष में दलीलें मजबूत अवश्य हो गयीं। लेकिन यह करे कौन ? यह कार्य सरकार तथा कार्य-क्षमता रखने वाली संस्थाओं के द्वारा शुरू होना चाहिये। देश के कोने-कोने में समाचार

पहुंचाने वाले पत्रकारों को यह कार्य अब अपने ऊपर लेना चाहिये। पिछले वर्ष न्यायमूर्ति राज्याध्यक्ष के सभापतित्व में जो प्रेसकमिशन नियुक्त किया गया उसकी रिपोर्ट से स्पष्ट है कि प्रादेशिक भाषाओं में छपने वाले पत्रों की संख्या बढ़ रही है और प्रादेशिक पत्र अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। अंग्रेज़ी पत्रों का प्रचार कम होता जा रहा है। और ऐसा क्यों न हो? जब कि हमने स्वराज्य प्राप्ति के बाद ऐसी योजनायें शुरू कर दी हैं जिनको सफल बनाने से लिये लाखों की तादाद में लोग शामिल हो रहे हैं और उन्हें शिक्षित तथा कार्यक्षम बनाने का उत्तरदायित्व देश ने अपने ऊपर ले लिया है।

सज्जनो! सामान्य लिपि का यह आन्दोलन देश के लिये नया नहीं है। ठीक ४६ साल पहले इसी उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद शहर में एक लिपि-विस्तार परिषद के तत्वावधान में एक सम्मेलन हुआ था उसमें मद्रास के स्वनामधन्य न्यायमूर्ति श्री वी० कृष्ण स्वामी अय्यर ने एक भाषण दिया था। कई वर्षों तक जस्टिस शारदा चरणमित्र ने जो बंगाल के एक देशभक्त महापुरुष थे इस आन्दोलन को चलाया था। लेकिन देश स्वराज्य के तुमुल युद्ध में फँसकर इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर ध्यान नहीं दे पाया। अब समय आ गया है कि हम इस प्रश्न पर विचार करें और चारों तरफ से इस कार्य को फैलाने के कार्य में लग जायें। अब राष्ट्र अपने प्राचीन वैभव एवं भविष्य के गौरव से परिचित होकर अपनी अस्मिता को ऐसा पहचान गया है कि छोटे-मोटे विभेदों से निरुत्साहित होने की आवश्यकता नहीं।

आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ के अधिकारियों का मैं एक बार और आभार मानता हूं कि उन्होंने मुझे अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में इस महान् विषय पर कुछ कहने का मौका दिया।

डाक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र,

मानस में उक्ति-सौष्ठव*

मनुष्य-समाज में जितनी कलाएं प्रचलित हैं उनमें वक्तृत्व-कला का अपना निराला महत्व है। महाकवि भारवि ने ठीक ही कहा है :—"भवन्ति ते सभ्यतमाः विपश्चितां, मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये"। वे विद्वानों में भी सभ्यतम हैं, जो मनोगत भाव को वाणी में निविष्ट कर लेते हैं। यों तो बातें सभी कर लेते हैं परन्तु बात-बात में अन्तर रहा करता है। एक मनुष्य वही बात इस भोंड़ेपन से कह देता है कि मुगलाई होती तो हाथी के पैरों से कुचलवा दिया जाता। दूसरा मनुष्य वही बात इस चतुरता से कह देता है कि राजसी युग होता तो हाथी पुरस्कार में पा जाता। "बातें हाथी पाइयां बातें हाथी पांव।" जिसने वाक्-कौशल प्राप्त कर लिया है वह विभिन्न मनुष्यों और विभिन्न परिस्थितियों में भी अपना सिक्का जमाता जाता और सफलता पर सफलता प्राप्त करता जाता है। शिष्ट मनुष्य वह है जो वाक्-कौशल का धनी है। चतुर मनुष्य वह है जो अवसर की बात अवसर पर कहता है। रहीम कवि ने भी दोहों में इसी का समर्थन किया है :—

"नीकी पै फीकी लगै बिन अवसर की बात," और, "फीकी पै नीकी लगै कहिये समय विचारि," इसमें से पहिली सुहाती नहीं और दूसरी अच्छी लगती है।

रामचरित-मानस में सुन्दर शब्द भाण्डार, प्रभावशाली मुहावरेबन्दी, प्रासादिक वाक्य-पुंजों और चुभती हुई चटकदार उपमाओं तथा दृष्टान्तों की भरमार तो है ही, और ये सब वस्तुएं उक्ति-कौशल की सहायक हैं,—परन्तु उसमें जो वार्तालाप दिये गये हैं वे उक्ति-सौष्ठव के असली शिक्षक हैं। सम्भाषण-शिष्टता यदि किसी को सीखनी है—वक्तृत्व के मनोविज्ञान का यदि किसी को पण्डित होना है—तो उसे चाहिये कि वह मानस के वार्तालापों का मनन करे। हम यहां इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप कुछ वार्तालापों की संक्षिप्त चर्चा मात्र कर देना चाहते हैं।

सबसे पहले उमा और सप्तर्षियों का वार्तालाप ही ले लीजिये। ऋषियों के प्रश्न पर पार्वती जी कहती हैं :—

कहत मरमु मन अति सकुचाई, हंसिहहु सुनि हमारी जड़ताई।
मनु हठि परा न सुनइ सिखावा, चहत वारि पर भीति उठावा।
नारद कहा सत्य सोइ जाना, बिनु पंखन हम चहहिं उड़ाना।
देखहु मुनि अविवेक हमारा, चाहिअ सदासिवहिं भरतारा।"

सप्तर्षियों का बड़प्पन रखते हुए और अपनी नम्रता तथा शालीनता का निर्वाह करते हुए

---

*हिन्दी विद्यापीठ के तत्वाविधान में ता० २६ दिसम्बर को दिये गये 'विशेष व्याख्यान' का सारांश।

किस उत्तमता से ये वाक्य कहे गये हैं कि विपक्षी की बहस का हौसला एक बार तो ढीला पड़ ही जाय। विपक्षी के दृष्टिकोण को मान देते हुए अपना दृष्टिकोण नम्रतापूर्वक प्रस्तुत कर देना ही सब से बड़ा वाक्-कौशल है। फिर भी जब सप्तर्षियों ने बहस का क्रम चलाना ही चाहा तब पार्वती जी ने उनके तर्कों का उत्तर देते हुए किस खूबी के साथ आगे की बहस बन्द कर दी यह देखते ही बनता है।

"मैं पा परउं कहइ जगदम्बा, तुम्ह गृह गवनहु भयउ विलम्बा।"

फिर जरा एकतनु नामक कपटी मुनि की धूर्तता भरी बातें देखिये। प्रतापभानु को अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह किस प्रकार अपने मन की बात उनके मुख से कहलवा ले रहा है। मानो वह स्वगत कथन करता हुआ अपने मन का नकली ऊहापोह इन शब्दों में व्यक्त कर रहा है

"सुनु नृप विविध जतन जग मांही, कष्ट साध्य पुनि होंहि कि नाहीं।
अहइ एक अति सुगम उपाई, तहां परन्तु एक कठिनाई।
मम आधीन जुगुति नृप सोई, मोर जाब तव नगर न होई।
आजु लगे अरु जब त भयऊं, काहू के गृह ग्राम न गयऊं।
जौ न जाउं तब होइ अकाजू, बना आइ असमंजस आजू।"

कपटी मुनि तो राजा के यहां जाना ही चाहता था परन्तु प्रस्ताव उसने राजा के मुख से कराया और वह भी इस ढंग पर कि मानो उस प्रस्ताव की स्वीकृति से उन पर उसका बड़ा अहसान होगा। मन्थरा और कैकेई का संवाद भी इस सम्बन्ध में बड़ा दर्शनीय है। मैं विपक्ष के ही हित की बात कह रहा हूं और उसमें मेरा रत्ती भर स्वार्थ नहीं है उलटे मुझे उसमें व्यक्तिगत अड़चन ही होगी, यह विपक्षी के मन में जमा देना अपने स्वार्थ-साधन का बड़ा चतुर ढंग है।

कोई भारी भरकम पुरस्कार मांगने का तरीका मनु की बातों में देखिये। कैसी सुन्दर भूमिका बांधी है उन्होंने। कहते हैं :—

एक लालसा बड़ि उरमांहीं, सुगम अगम कहि जात सो नाहीं।
तुमहिं देत अति सुगम गुसाईं, अगम लागि मोहिं निज कृपनाईं।

देने वाला आप ही प्रसन्न होकर कह उठेगा "मांगो मांगो, कितना बड़ा वर मांगना चाहते हो।"

जनक के पूछने पर विश्वामित्र ने जब राम का आध्यात्मिक परिचय देना प्रारम्भ किया—'ये प्रिय सबहिं जहां लगि प्रानी'। तब राम ने मुस्करा दिया—'मन मुसकाहिं राम सुनि बानी'। उनकी इस एक मुस्कुराहट ने विश्वामित्र को प्रकृतिस्थ कर दिया और वे कह उठे "रघुकुल मनि दसरथ के जाये, मम हित लागि नरेश पठाये।" मुस्कुराहट का एक कृत्य विश्वामित्र को बहम दूर करने में सौ वाक्यों का काम कर गया।

वार्तालाप के ढंग का और प्रसंग देखिये :—

"लषन हृदय लालसा विशेखी, जाइ जनकपुर आइय देखी।
प्रभुभय बहुरि मुनिहिं सकुचाहीं, प्रकट न कहहिं मनहिं मुसकाहीं।

राम अनुज मन की गति जानी, भगतबछलता हिय हुलसानी।
परम विनीत सकुचि मुसुकाई, बोले गुरु अनुसासन पाई।
नाथ लषन पुर देखन चहहीं, प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।
जो राउर आयसु में पावउं, नगर देखाइ तुरत लेइ आवउं।"

कौन हृदयहीन होगा जो इतने पर भी आदेश न दे। देखना तो लक्ष्मण ही चाहते थे। परन्तु राम ने किस कौशल के साथ अपने को भी नत्थी कर लिया। अपने लिये कहना भी न पड़ा और आदेश अनायास मिल गया।

वचन-चातुरी का बढ़िया प्रसंग है परशुराम संवाद वाला। विपक्षी तक ने इसके लिये "जयति वचन रचना अति नागर" कहकर भरपूर दाद दी है। अपने बल-पौरुष के अहं की जो ग्रन्थि परशुराम के मन में अनुचित सीमा बढ़ कर बंध गयी थी उसे उकसा उकसा कर शिथिल कर देना लक्ष्मण और राम के समान ही कुशल वक्ताओं का काम था। यह ग़लत है कि लक्ष्मण ने वे सब बातें क्रुध होकर कही थीं। वे तो उस समय क्षमामन्दिर हो रहे थे "छिमहु छमामन्दिर दोउ भ्राता।" वह पूरा प्रसंग वाक्-कौशल का अनूठा नमूना है।

अयोध्याकाण्ड में तो व्यास-शैली के उत्तमोत्तम संवादों की भरमार है। जहां मतलब की बात कह देने भर की आवश्यकता है जहां वार्तालाप में समास-शैली का प्रयोग होता है। वहां संक्षिप्तता ही बरती जाती है। जहां उस बात को गले उतार देने की आवश्यकता है वहाँ व्यास-शैली का प्रयोग होता है। उस बात के पोषण में उत्तमोत्तम तर्क बढ़ा चढ़ाकर दिये जाते है। कैकेई-मन्थरा संवाद की चर्चा हमने पहले ही की है। कैकेई-दशरथ संवाद, राम-कौशल्या संवाद, राम-सीता संवाद, राम-लक्ष्मण संवाद, सभी अपनी छटा में अपूर्व हैं। भरत का विभिन्न परिस्थियों में विभिन्न लोगों से संवाद तो व्यास व समास दोनों ही शैलियों का अनूठा नमूना है। वाक्-कौशल के लिये बातों की ऊपरी बनावट ही काम नहीं देती। उसके लिये अनुकूल मनःस्थिति का होना प्रथम आवश्यक बात है। इस मनःस्थिति में बुद्धि और भावना दोनों का सहयोग चाहिए। बुद्धि का सहयोग है तो बात पते की होगी—सत्य को स्वीकार करती हुई चलेगी। भावना का सहयोग होगा तो बात अनुद्वेगकर होगी—प्रिय को स्वीकार करती हुई चलेगी। 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'। मनःस्थिति की जितनी गहराई से बात निकलेगी वह उतनी ही प्रभावोत्पादक होगी और आप ही आप उतनी ही कलात्मक बन जायगी। अयोध्याकाण्ड के अनेक संवादों में यही कला छिटकी हुई मिलेगी।

कोई भी बात कही जाय तो पहिले यह देख लिया जाय कि उसका प्रभाव क्या पड़ेगा। उस प्रभाव का विचार रखकर परिस्थिति को पहिले अनुकूल बनाना पड़ता है तब बात कही जाती है। दशरथ-मरण का संवाद राम को सुनाना था। इस दुःखद समाचार को सह सकने की अनुकूल परिस्थिति बनाकर ही वशिष्ठ ने यह बात कही थी। 'कहि जगगति मायिक मुनिनाथा, कहे कछुक परमारथ गाथा। नृपकर सुरपुर गमन सुनावा।"

सुमित्रा के वाक्-कौशल का एक नमूना देखिये। चित्रकूट प्रसंग में सुनयना ने विधि-बद्धि की आलोचना करते करते 'जहं तहं काक उलूक बक, मानस सकृत मराल'

तक कह डाला। काक उलूक बक की श्रेणी में स्वाभावतः ही कैकई का नम्बर आ सकता था, अतएव आलोचना अब इस दशा में आगे न बढ़े इसलिये झट सुमित्रा ने मूल बात की ओर बातों का मुख मोड़ दिया। 'सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा, विधिगति बड़ि विपरीत विचित्रा।' बात बदल गयी। बातें फिर जब बहुत लम्बायमान होने लगीं तो सुमित्रा ने कालमान की ओर संकेत कर दिया। 'देवि दण्डजुग जामिनि बीती'। बस, बातें वहीं समाप्त हो गयीं। बातों का रुख घुमा देना भी एक बड़ा वाक्-कौशल है। सबसे बड़ा वाक्पटु प्रायः वह माना गया है जो सामने वाले को बोलने का अधिक से अधिक अवसर देता है परन्तु साथ ही यह देखता रहता है कि बातें उसकी भावना के अनुकूल ही विकसित हो रही हैं और वे किसी प्रकार मर्यादा से बाहर नहीं जा रही हैं।

किसी को शिष्टता के साथ बिदा करना तो तो राम की इस वाणी पर ध्यान दिया जाय जो उन्होंने गुरु वशिष्ठ से कही। बिदा का एक शब्द भी नहीं है इसमें।

"सहित समाज राउ मिथिलेसू, बहुत दिवस भये सहत कलेसू
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा, हित सबही कर रउरें हाथा'
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ, मुनि पुलके लखि शील सुभाऊ।'

सेवा अथवा सहायता की खूबी इसी में है कि वह अहसान जनाकर न की जाय। वाक्-कौशल का अभाव यहीं गुड़ को गोबर और उसका सद्भाव गोबर को गुड़ बना सकता है। सुतीक्ष्ण का वाक्कौशल देखिये कि वे किस तरह राम के पथ-प्रदर्शक बनकर अगस्त्य के आश्रम तक गये हैं और राम इन्कार तक न कर सके। मुनि कहते हैं "बहुत दिवस गुरु दरस न पाये, भये मोहिं एहि आस्रम् आये। अब प्रभु संग जाउं गुरु पाहीं, तुम्ह कहुं नाथ निहोरा नाहीं।" कितना सुन्दर तरीका है सेवा का। समझदार स्वामी के मन में ऐसी सेवा का जो असर हो सकता है वह घोषित की हुई सेवा से अनेक गुना बढ़कर है।

एक और प्रसंग देखिये। समुद्र तट पर कालरूप सम्पाती सामने आ खड़ा हुआ। वानर घबरा उठे। क्या किया जाय, कैसे बचा जाय। उस समय अंगद का वाक्कौशल काम आया। उन्होंने सोचा सम्पाती गृद्ध है अतएव इसके किसी ऐसे सजातीय की चर्चा छेड़ दी जाय जो हम लोगों का सहायक रह चुका है। "कह अंगद विचारि मन मांहीं, धन्य जटायू सम कोउ नाहीं। राम-काज कारन तनु त्यागी, हरिपुर गयेउ परम बड़भागी"। तीर एक दम निशाने पर लगा और सबके प्राण ही न बचे किन्तु सबका उपकार भी हो गया। उसी के आगे जाम्बवन्त का वाक्कौशल देखिये। हनुमान कनकभूधराकार होकर पूछ रहे हैं। 'क्या मैं रावण को मार कर त्रिकूट उखाड़ लाऊं'? जाम्बवन्त तड़ाक से यह नहीं कह उठते कि यह तो राम ही के बलबूते की बात होगी। वे कहते हैं "भाई, तुम केवल इतना ही करो कि सीता को देख आओ। फिर तो राम जी अपनी लीला का विस्तार कर लेंगे।" हनुमान को समुचित उपदेश भी मिल गया परन्तु इस खूबी से कि उनके बल-पौरुष की कोई प्रत्यक्ष आलोचना होने ही नहीं पाई।

सुरसा और हनूमान के संवाद में और रावण तथा सीता के संवाद में जिस समास शैली का तथा रावण और हनूमान के संवाद में एवं हनूमान द्वारा कथित विरह-निवेदन

में जिस व्यास शैली का प्रयोग हुआ है वह देखते ही बनता है। और फिर, सीता की विपत्ति कहते कहते जब उन्होंने देखा कि राम का रुख कुछ दूसरा हो गया है तब किस खूबी से बात पलट दी हनुमान जी ने। "सीता के अति विपति विशाला, बिनहिं कहे भलि दीन दयाला।---सुनि सीता दुख प्रभु सुख अपना, भरि आये जल राजिव नयना। वचन काय मन मम गति जाही, सपनेहु बूझिय विपति कि ताही। कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई, जब तव सुमिरन भजनु न होई। केतिक बात प्रभु जातुधान की, रिपुहिं जीति आनिबी जानकी।"

राम ने आगे चल कर बड़े प्रेम से पूछा कि हे कपि! तुमने रावणपालित अतिबंक लंका दुर्ग का किस प्रकार दहन किया? हनुमान् के लिये उत्तर देना अनिवार्य हो गया परन्तु उस उत्तर को अति संक्षिप्त ढंग से पूर्वापर क्रम भंग करते हुए जिस शिष्टता और नम्रता से हनुमान् जी ने दिया है उससे उनकी शालीनता बरसी पड़ रही है। यह है सेव्य के समक्ष सेवक का अनुकरणीय व्यवहार। यह है उक्ति-सौष्ठव, जो उच्च मन:स्थिति के कारण अनायास बन पड़ता है परन्तु जिसमें सूक्तिकौशल आप ही आप निखर उठता है। जो अच्छाइयां बन पड़ी हों उन्हें प्रभु का प्रसाद मानना और जो बुराइयां हों उनके लिये एक मात्र अपने को ही दोषी मानकर चलना जोवन का बड़ा सुनहला नियम है। यह नियम उक्ति में सौष्ठव तथा शालीनता आप ही ले आता है।

सामने वाले की उक्ति की अच्छाई और मान्यता को स्पष्ट शब्दों में मान देकर यदि अपनी बात आगे बढ़ाई जाय तो प्रतिपक्षी (सामने वाले) का कुछ आत्मतोष हो जाने के कारण वह इस स्थिति में आ जाता है कि आगे की बातों को शुद्ध हृदय से ग्रहण कर ले। विभीषण के विषय में जब राम ने सुग्रीव से सलाह ली अथवा समुद्र के विषय में जब उन्होंने विभीषण की सलाह सुनी अथवा इसके पूर्व चित्रकूट में भरत के विषय में जब लक्ष्मण ने राजमद की बात कही, उन प्रसंगों में राम की उक्तियों पर ध्यान दीजिए "सखा नोति तुम नीकि विचारो," "सखा कही तुम नीकि उपाई, सबतें कठिन राजमद भाई" आदि। प्रतिपक्षी की सहृदयता उकसाकर उसे मौन बना देने का कितना सुन्दर ढंग है यह।

जब कोई ऐसी बहस पर उतारू हो जाय जो विषयान्तर को ले जाने वाली हो तो सामने वाले को सन्तोष देकर अपने विषय पर आ जाना भी राम का अनूठा वाक्कौशल था जो उन्होंने केवट के प्रसंग में दिखाया। कौन उससे मथापच्ची करे। कह दिया "सोइ करु जेहि तव नाव न जाई।"

कभी कभी ऐसी ऊटपटांग बातें भी की जाती हैं जिनसे अनायास ही सामने वाले के मन की थाह मिल जाय। सुवेल शैल पर राम ने चन्द्रमा के कलंक की बात अपने साथियों से पूछी। सुग्रीव ने कहा शशि में भूमि की झांई प्रकट हुई है, विभीषण ने कहा कि राहु का मुक्का पड़ा इसलिये चन्द्रमा की छाती पर काला दाग हो गया है, अंगद ने कहा विधाता ने चन्द्रमा में एक छेद कर दिया क्योंकि उसे रतिमुख-निर्माण हेतु उसका सारभाग चाहिए था, हनुमान् ने कहा यह तो प्रभु की श्याम मूर्ति ही शशि के उर में बसी है। किसके मन में कौन विचारधारा कार्य कर रही है इसका अनायास ही उन्हें पता लग गया और युद्ध

में नियुक्त करने के पहिले यह पता लगा लेना कितना आवश्यक था ! ठेठ प्रश्न पर मनोभावों का क्या ऐसा स्पष्ट उत्तर मिल सकता था ?

लंका-विजय के बाद विभीषण राम से कहता है 'प्रभो नगर में पदार्पण कीजिये !' तब राम उसकी भावना को पूर्ण मान्यता देते हुए किस प्रकार अपना अभीष्ट प्रकट कर देते हैं—"तोर कोष गृह मोर सब, सत्य वचन सुनु भ्रात । भरत दसा सुमिरत मोहिं, निमिष कल्प सम जात ।" इसके पूर्व कर्मरथ के प्रकरण में जब विभीषण ने रथ के अभाव में विजय के प्रति चिन्ता व्यक्त की थी तब भी राम ने उसकी भावना का सम्मान करते हुए नये प्रकार के रथ की चर्चा चलाकर किस प्रकार उसे निरुत्तर कर दिया था ? यह है वचन-विदग्धता यह है उक्ति-सौष्ठव ।

अब एक उक्ति और सुन लीजिये । शंकर की बरात जा रही थी । विष्णु को मजाक सूझा । कहते हैं "विलग विलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज, । बर अनुहारि बरात न भाई, हंसी करइहउ पर पुर जाई ?" उद्देश्य तो था कि पर पुर जाकर खूब हंसी कराई जाय । परन्तु कहते हैं कि क्या पर पुर जाकर अपनी हंसी कराओगे ? स्वीकारात्मक बात को नकारात्मक ढंग से कहने का यह व्यंगपूर्ण कौशल हास्यरस को अनूठे अमृत से सिक्त कर देता है और उसकी स्वादीयता को अनेक गुना अधिक वृद्धि कर देता है ।

वार्तालापों के अतिरिक्त स्वत: गोस्वामी जी के उक्ति-सौन्दर्य को देखा जाय तो उस ओर भी कमाल ही मिलेगा । वे कहते हैं, कि काव्य वह है जिसे सुनकर विपक्षी भी "वाह वाह" कह उठें । देखिये नमूना "सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पै कहइ न जाना, निज परिताप दहइ नवनीता, पर हित द्रवहि सन्त सुपुनीता ।" इससे भी बढ़ कर देखिये वह दोहा जो उन्होंने मथुरावासियों के व्यंग पर कहा था, यह सुनकर कि मथुरा में राम राम नहीं कृष्ण कृष्ण कहा जाय, "मथुरा में भी राम हैं, नहीं कहै जो कोय पाछिल आगिल छांड़ि कै वाके मुंह में सोय ।" कितना तीखा उत्तर है परन्तु कितने उक्ति कौशल से भरा हुआ । 'बरनत छवि जहं तहं सब लोगू' में जहँ तहँ पर विचार कीजिये, नव तुलसिकावृन्द में नव शब्द पर विचार कीजिये, "पुनि आउब इहिं बिरियां काली" के काकु और व्यंग पर ध्यान दीजिये, "जेहि अघ बधेउ व्याध इव बाली, पुनि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली" में अर्थ-कौशल पर ध्यान दीजिये, 'नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम', में उपमाओं का भाव-गांभीर्य देखिये और 'सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छविगृह दीप-सिखा जनु बरई' आदि अनेकानेक प्रसंगों में सौन्दर्यबोध का ढंग देखिये । सभी उदाहरण एक से एक अपूर्व मिलेंगे ।

श्री पतराम गौड़

सिद्ध-पट्टण के संबंध में हरिदास और जैन ग्रन्थ

सिद्ध-पट्टण (नरहड़)

इतिहास और कल्पना के सुन्दर योग उपस्थित करने वाले श्री मुंशीजी के मनोरम उपन्यास 'पाटणनी प्रभुता' और 'गुजरात नो नाथ' को तथा गुजरात के इतिहास को जो पढ़ चुका है उसके समक्ष यदि यह कहा जाय कि सिद्धपुर पट्टण गुजरात के सिवाय राजस्थान में भी एक प्रसिद्ध स्थान रहा है तो वह हंसे बिना नहीं रह सकता। किन्तु इस में संदेह नहीं कि पिलानी के पास स्थित नरहड़ नामक एक उपेक्षित गांव ने कभी सिद्धपुर-पट्टण का गौरवपूर्ण नाम पाया था। यहाँ केवल स्थान और व्यक्तियों के ही दोहरे नाम नहीं मिलते, इतिहास की घटनाओं की भी आवृत्ति होती दिखाई देती है जिनका स्पष्टीकरण इतिहासकारों को करना चाहिए। अस्तु।

नरहड़ से प्राप्त कुछ मूर्तियों पर जैन-धर्म का प्रभाव देख कर जैन-इतिहास में ही नरहड़ के तथ्यों के सब सूत्र खोजने की चेष्टा एकांगी है। नरहड़ की मूर्तियों में से बहुतों के ऊपर हिन्दू-धर्म और नाथ-संप्रदाय की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। बिरला हाईस्कूल के संग्रहालय में एक ध्यानस्थ योगी की पाषाण-मूर्ति है। कानों की मुद्रा और दोनों भुजाओं तथा दोनों पहुँचों पर बँधी रुद्राक्ष-माला से वह नाथ संप्रदाय का कोई साधु प्रतीत होता है। उसके नीचे अंकित शिलालेख में निम्नलिखित अक्षर पढ़े जाते हैं, 'ॐ श्री विभव: धर्म-प्रसिद्ध ॐ।' इतने अक्षर एक पंक्ति में लिखे गये हैं। उसके नीचे दूसरी पंक्ति आरंभ होती है जिसका प्रारंभिक भाग पत्थर के टूट जाने से पढ़ा नहीं जाता। इस पंक्ति का अंतिम शब्द 'महाराज' स्पष्ट पढ़ा जाता है। अनुमान होता है कि पत्थर के टूटे खण्ड पर उक्त महात्मा का नाम खुदा था जिनकी मूर्ति शिलालेख के ऊपर अंकित है। इसी नाम के आगे 'महाराज' अंकित किया गया होगा जो शिलालेख में वर्तमान् है ही। इससे मिलती जुलती इसी संग्रहालय में एक अन्य पाषाण-मूर्ति है। उस के सिर पर कानों तक आने वाला तनीदार टोपा है। यह टोपा शिलालेख वाली मूर्ति के सिर पर नहीं है। इस टोपे की डोरी के साथ ही शिल्पी ने कानों की मुद्रा मिला दी है। हाथ पर रुद्राक्ष-माला इस मूर्ति में भी दिखाई देती है। पहली मूर्ति पद्मासनस्थ दिखाई गई है, पर दूसरी मूर्ति का साधु पैर लटका कर पत्थर पर बैठा हुआ दिखाया गया है। उसके हाथ में एक तुंबी है जिस को पकड़ कर उसने एक गोल चौकी पर टिका रक्खा है। वेश-भूषा से यह भी नाथ ही प्रतीत होता है। ये दोनों मूर्तियाँ नरहड़ के खण्डहरों से प्राप्त हुई थीं।

मैं पिछले शिलालेख को देख कर आश्चर्य कर रहा था कि ऐसा 'धर्म-प्रसिद्ध महाराज' नरहड़ में कौन आ गया था कि एक दिन अकस्मात् मेरी दृष्टि 'महाराज हरिपुरुषजी की वाणी पर पड़ी। श्री हरिपुरुषजी या श्री हरिदास जी महाराज ने निरंजनी संप्रदाय चलाया था जिसका मुख्य केन्द्र डीडवाना (मारवाड़) है। निरंजनी संप्रदाय की परम्परा के अनुसार श्री हरिदासजी का वैकुण्ठवास फाल्गुन शुक्ला ६ संवत् १७०० माना जाता है। उनकी प्रधान तपोभूमि डीडवाना के पश्चिमवाली तीखली पहाड़ी है, जैसा कि प्रसिद्ध है।

"तीखी तींवर डूंगरी, जहाँ जन का नहीं निवास।"
हरिदास हरि मिलन को, किया शिखर पर वास।

नाथ संप्रदाय से प्रभावित और निरंजनी शाखा के प्रवर्त्तक इस प्रसिद्ध योगी की छाप अपने जमाने पर गहरी पड़ी थी। अजमेर के हाथी भाठे का शिलालेख उनके एक चमत्कार का उल्लेख करता है कि जहाँगीर के राज्यकाल में हिन्दुओं के एक फकीर ने जीवित हाथी को अपनी करामात से पत्थर का बना दिया। उक्त शिलालेख में वर्णित चमत्कार का उल्लेख 'श्री हरिपुरुषजी की वाणी' की भूमिका में भी किया गया है। इसी प्रकार नागौर में शिला-स्तंभन और टोडा (जयपुर) में उन्होंने सर्प-वशीकरण का चमत्कार दिखलाया। इसी भूमिका में आगे लिखा गया है कि 'वहाँ से (वे) शेखावाटी की तरफ चले गये। गाँव सिधापण में कई दिन बिराजे।' आगे बताया है कि इस सिधापण में स्वामीजी ने अपने योगबल से एक मृत वैश्य-पुत्र को जीवित कर दिया। सिधापण के इस चमत्कार का उल्लेख भूमिका में निरंजनी संप्रदाय की प्रचलित मान्यता के अनुसार हुआ है।

मैं ने शेखावाटी के वृद्ध और जानकार व्यक्तियों से पूछताँछ की तो उन्होंने सिधापण नाम का कोई ग्राम शेखावाटी में नहीं बताया। उधर नरहड़ वाले 'धर्म-प्रसिद्ध महाराज' की खोज मेरे मन में चल रही थी। सिधापण शब्द के मूल और अर्थ की ओर ध्यान देते ही समस्या हल हो गई। सिधापण और 'धर्म-प्रसिद्ध महाराज' के सम्बन्ध का सूत्र मिल गया। सिधापण का सिध शब्द सिद्ध का अपभ्रंश है और 'आपण' या 'पण' पट्टण का पर्यायवाची है। सिधापण अर्थात् सिद्धपट्टण—वह पट्टण जिसमें सिद्ध योगियों ने अपने चमत्कार दिखलाए हैं। मरु-भारती के अक्टूबर १९५६ के अंक में मैंने नरहड़ की पट्टण विषयक जनश्रुति का उल्लेख किया था। अब स्पष्ट हो चला कि नरहड़ का पट्टण नाम कोरी किंवदन्ती नहीं है। उक्त पुस्तक के अंतः साक्ष्य ने संदेह को और भी दूर हटाने में योग दिया। इतने बड़े योगी अपने चमत्कारों के विषय में स्पष्ट वृत्तान्त तो कैसे लिखते; पर भगवान् की जिस विलक्षण शक्ति का साक्षात्कार उन्होंने किया था उस को छिपाया भी क्यों जाय? इसीलिए रूपक की भाषा में श्री हरिदासजी महाराज अपने चमत्कारों की अमिट छाप अपनी 'वाणी' में छोड़ गये हैं।

श्री हरिदासजी महाराज का प्रारंभिक जीवन और उसका अंतिम भाग डीडवाना में बीता। अपने परिभ्रमण काल में वे सिधापण में 'कई दिन' टिके हैं जैसा कि भूमिका से ज्ञात होता है। इस स्थान की छाप उनके इतिवृत्त और उनकी वाणी पर स्पष्ट दिखाई

देती है। यद्यपि मोहमाया से परे निर्ग्रन्थ योगी पर किसी प्रकार की छाप ढूंढ़ना अनुचित है फिर भी देखा जाता है कि सरलता से अपने आप को अभिव्यक्त करते समय वे अपने आस-पास के स्थान और पदार्थों को ही अपने संकेत का आधार बना लिया करते हैं। सिधापण अर्थात् सिद्धपट्टण को श्री हरिदासजी महाराज ने अपनी वाणी में इसी प्रकार अपनी गूढ़ योग-साधना का संकेताधार बनाया है। वे कहते हैं, 'तन पाटण तहाँ वास हमारा नौ दरबार जुड़ाया।' नरहड़ के निवासी कभी कभी नरहड़ के नवाबों का वृत्तान्त सुनाते हुए नरहड़ के नौ नवाब और बावन पालकियों का जिक्र किया करते हैं। श्री हरिदासजी महाराज भी संभवत: 'नौ दरबार' द्वारा उसी ओर संकेत कर रहे हैं। आध्यात्य पक्ष का नव द्वार और तन-नगर स्पष्ट ही है। जीव के इस आनन्दमय (गमहीन) राज्य को कभी पाटण की जगह उन्होंने 'बेगमपुर' भी बताया है। यथा, 'पहुंचे कोणा दूरि बेगमपुर, बीचि गहर गुणा पांणी।' नरहड़ को नवाबों और बेगमों का नगर मानना अनुचित नहीं जहाँ एक नगर में नौ दरबार जुड़ते हों; और रास्ते में आने वाली गंभीरा अर्थात् काटली नदी के जल का स्मरण भी असंगत नहीं है। नरहड़ में पहले 'चिलके'[1] से सौदा हुआ करता था। वह व्यापार का केन्द्र था। श्री हरिदासजी की 'वाणी' भी इस ओर संकेत देती हुई प्रतीत होती है। वे कहते हैं

'पछिम देस हाट नहिं पाटण।
सौदा तहाँ हमारा।
जन हरिदास बिणज सिर सारे,
बिणज बिणज मन प्यारा।'

श्री हरिदास जी ने पाटण (नरहड़) का तीसरा और भी स्पष्टतर संकेत दिया है। यहाँ पाटण या सिधापण की जगह 'सीधड़' ही लिख दिया है जो स्पष्ट रूप से सीधपण का छोटा रूप लगता है। कहीं-कहीं नरहड़ का नाम 'नहभट्ट' या 'नरभट्ट' भी मिलता है। कोई कोई 'नरभट्ट' को 'सौभट्ट' भी लिखता है जिसका अपभ्रंश 'सौहड़' या 'सोहड़' हो जाता है। इस 'सोहड़-सीधड़' का श्री हरिदासजी ने अपनी 'बाणी' में दो स्थानों पर उल्लेख किया है। यथा, 'सोहड़-सीधड़ चढ़े छत्र मस्तगि धरे, निज नाँव परतीति हरि निकट नांही।' 'बाणी' में एक पद मृतक को जीवित कर देने वाले चमत्कार का स्पष्ट उल्लेख करता है। इस घटना का उल्लेख 'सोहड़' के किसी भीषण युद्ध के प्रसंग में किया गया है। पाठकों की सुगमता के लिए वह सारा पद नीचे दिया जाता है।

सांवत **सोहड़** सूर सति सन्मुख, राम तणां बोलिगांणा।।
आवध सार टोप सिर सुमिरण, कांकड़ि आप मंडाणां।।
पेलो फौज घटा घण घरहरि, अरि आतुर भल होडा।।
साधम लाज राम भजि भांजें, टिक टिक सके स थोडा।।

---

१. तार और टेलीफोन के आविष्कार के पहिले आग जलाकर किसी मोटे काँच से दूर दूर तक प्रतिबिम्ब फेंका जाता था जिससे भाव बताये जाते थे।

पांच पचीस मोह दल माया, काम क्रोध दल खूरा ।
खड़कै सैल खड़ाखड़ खसता, बाजे अनहद तूरा ।।
गुरज नालि गोला सर छूटं, **कमध उपाड़ै ,थांणां ।**
खाग खिवै ज्यूं आभै दामिणी, कायर कटक उडाणां ।।
मन गहि पवन पलटि पहिराखे, आछा अमल छह्रोड़ै ।
जन हरिदास मान ममता तजि, **यूं मैवासा तोड़ै** ।।
गोरखनाथ तुम्हारी गतिमति, कोई सुरनर मुनि नहिं जांणे ।
जांणै सिध साधक अर अलक निरंजन, गोरखमुनी सुधारस माणे ।।
जीत्या करम भरम करि कांनै, गगन चढयो रस पीवै ।
जा मांहि मिलि छांटो डारै, **सो मृतक सति जीवै** ।।
जांणै जोग भोग नहिं जाणं, नाथ इसी विधि खेलै ।
जन हरिदास गोरख सति सन्मुख, अमीं महारस झेलै ।।

इस पद में आया हुआ 'सोहड़' शब्द सोहड़ या पट्टण के एक युद्ध की याद दिलाता है। युद्ध का संकेत बड़ा साङ्गोपाङ्ग है। यह युद्ध कौनसा था—इसका संकेत भी पद का 'कमध उपाड़ै थांणा' दे देता है। कमध अर्थात् राठौड़ राव बीका और लूणकर्ण के आक्रमण का इससे सहज ही में आभास मिल जाता है। 'नरहड़ि नेस' कह कर 'राव जैतसी रो छंद' में भी कमधजों के इस नरहड़-आक्रमण का ऐसा ही वर्णन किया गया है। पद का यूं मैवासा तोड़ै' यह भी सिद्ध कर देता है कि यह युद्ध मैवास अर्थात् विदेशी मुसलमानों के साथ हुआ था। जिस स्थान पर यह युद्ध हुआ था उसी स्थान पर श्री हरिदासजी महाराज ने मृतक को अपने योग बल से जीवित किया था। जा मांहि मिलि छांटो डारै, सो मृतक सति जीवै।'—के द्वारा इस पद में इस घटना का स्पष्ट उल्लेख श्री हरिदासजी ने कर दिया है।*

इस उल्लेख से यह सिद्ध हो गया कि सोहड़—सीधड़, सिधापण और पट्टण एक ही स्थान के नाम हैं जिसे आजकल नरहड़ कहते हैं। महाराज हरिदास जी सत्रहवीं सदी में नरहड़ आये थे। जिस श्री वैभव युक्त 'धर्म-प्रसिद्ध महाराज' की मूर्ति और शिलालेख हम यहाँ देख रहे हैं वह श्री हरिदास जी महाराज के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? शिलालेख की नागरी लिपि भी प्राचीन है। वे जब सिद्ध-पट्टण में पधारे थे उस समय भी राठौडों की नरहड़—लूट की याद बहुत फीकी नहीं पड़ी थी। इसी से अपने पद में उस युद्ध का संकेत उन्होंने दिया होगा।

आगे किसी अन्य लेख में नरहड़ पर जैन-धर्म के प्रभाव का उल्लेख किया जायगा। श्री हरिदास जी को अपने धर्म-प्रचार में जैनियों के बढ़ते हुए प्रभाव से सतर्क रहना

---

*भूमिका लेखक ने छांटा डालने की जगह मृतक को जिलाने के लिए तीन बार नाम पुकारने की बात लिखी है। भूमिका लेखक को संभवतः घटना का विस्तृत ज्ञान नहीं है। इसीलिए युद्ध का प्रसंग भी नहीं दिया गया है।

पड़ा होगा। जैन-धर्म के अखाड़ों के विशेषरूप से उन्होंने अपनी यात्रा का लक्ष्य बनाया होगा और इसीलिये उन्होंने जैन-धर्म की आलोचना की है, 'जैन-धर्म सोध्या सबै ज्ञान सूप मे हाथि। फटकि फटकि फटकूं कहा कुणका लगै न हाथि। इसी तरह 'सोफी संग सोफणि होय चाली'—की उक्ति द्वारा अजमेर और नरहड़ में प्रचलित सूफी पीरों की पूजा की ओर संकेत मिलता है। श्री हरिदास जी महाराज शेखावाटी के जन-जीवन में कितने रमे थे—इस बात की बड़ी मार्मिक साक्षि वैवाहिक द्यूत-क्रीड़ा के समय गाये जाने वाला शेखावाटी का प्रचलित लोकगीत 'टोडरमल' दे रहा है। आध्यात्मिक विवाह की मस्ती में झूम कर श्री हरिदासजी गा उठते हैं,

अनहद बेणि बजाय तोडरमल जीतो जी।
हरि भजि उतरे पार तोडरमल जीतो जी॥

इस प्रकार पाटण में जो अद्भुत चमत्कार हरिदास जी महाराज ने दिखाया उसको उनके जीवन-वृत्त और नरहड़ के इतिहास से अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए हम एक ओर 'धर्म-प्रसिद्ध' नाथयोगी महाराज की मूर्तियां नरहड़ में पाते हैं तो दूसरी ओर उनके प्रधान केन्द्र डीडवाने में भी उनकी डूंगरी को आजकल 'पाटण की डूंगरी'[1] कहते हुए पाते हैं।

श्री हरिदासजी और निरंजनी सम्प्रदाय

पातञ्जलि योग दर्शन की 'विशोका वा ज्योतिष्मती' योग की वह मधुमती भूमिका है जहाँ श्री हरि पुरुषजी जैसे बेगमपुरवासी महापुरुष ही पहुँच सकते हैं। सहज समाधि का खेचरस्थ उन्मन योगी लोक जीवन के प्रति विहंगम दृष्टिपात कर सकता है; पर उसका लक्ष्य—केवल शून्य है अथवा शून्यमय केवल है। श्री हरिदासजी के शब्दों में अनलपंख के बच्चे की तरह उल्टा चढ़ कर शून्य में समाना ही उनका लक्ष्य है—'उलटा चढ्या अनल का सुत ज्यूं, सहजै सुनि समाया।' यदि इस जीवित मुर्दे ने अपनी ध्यान की धुन में चढ़ने से उलटी हुई आँख की पुतलियों को पलट कर धरती के पदार्थों को देखा है तो अपनी आँख खोलने की दृष्टि से नहीं, पदार्थों की आंख खोल देने की दृष्टि से ऐसा किया है। उनका लक्ष्य तो 'अनर्थ'[2] को पालना है—'अरथ का नेत्र उगाड़िया, अनरथ का पालिबा।' उन्होंने तो यह वाणी भी तेतीस करोड़ देवताओं का उद्धार करने के लिये और इन्द्र को उपदेश देने के लिए लिखी है—'सुर तेतीस तारिबा'—'इन्द्र उपदेशबा'; और सच भी है जो अपने मन को कंचन की तरह तोल चुका वह स्वयं तो तर चुका। अरविंद के शब्दों में उसे तो दिव्य जीवन को धरती पर उतारना है, विश्व प्रकृति का रूपांतर करना है। यहां तक कि अपने शरीर और इंद्रियों का भी दिव्य रूपांतर करना होगा। श्री हरिदासजी के शब्दों में 'परम ज्योति

---

१ इस डूंगरी के इस नाम की सूचना मुझे सुजानगढ़ निवासी श्री स्वामी रामतीर्थ जी 'विरक्त' से मिली है।

२ जड़ पदार्थों की आत्मा सत्ता है और जीवन (अनर्थ) की आत्मा ज्योति है—अरविंद के इस सिद्धान्त से तथा उनके अर्थ के रूपांतर से यह कथन मिलता है।

परसिबा' तथा 'कायागढ़ सोधिबा'—ही ऐसे योगी के लिए बाद का काम शेष रहता है। श्री अरविन्द ने दिव्य-जीवन और रूपांतर का जो नया दार्शनिक सिद्धान्त रक्खा है, वह भारतीय प्राचीन योग-साधना की भूमिका मात्र है। श्री अरविन्द ने इस दर्शन में केवल चार बातें अपनी ओर से जोड़ी हैं। पहली दार्शनिक अंग्रेजी भाषा दूसरी युरोपियन दर्शन की वस्तु-निरपेक्ष अमूर्त-प्रतीक चिंतन-पद्धति, तीसरी वैयक्तिक प्रकृति-रूपांतर की जगह वैश्व-प्रकृति-रूपांतर की कल्पना और चौथी योग की भूमिका को योग का ग्रंथ बना डालने की विशेषता। वस्तुतः प्राचीन भारतीय योग-पद्धति में दिव्य जीवन प्राप्त कर लेने के बाद योग के अगम मार्ग में पैर रखने का स्पष्ट आदेश दिया गया है। श्री शंकराचार्य के गुरु श्री भगवत् गोविंदपादाचार्य ने अपने 'रस हृदय' ग्रंथ में स्पष्ट कहा है—'तस्मात् जीवन्मुक्ति समोहमानेन योगिना प्रथमं दिव्या तनुर्विधेया हर-गौरी-सृष्टि-संयोगात्।' अर्थात् जीवन-मुक्ति चाहने वाले योगी को पहले गंधक और पारे के योग से अपना शरीर दिव्य बनाना होगा। रूपांतर की इस क्रिया को लेकर भारतीय काव्यों में एक नयी परंपरा चल पड़ी जिसे हम रासायनिक-रहस्यवाद का नाम दे सकते हैं। श्री हरि पुरुषजी ने भी अनेक बार इस रूपांतर की क्रिया का अपनी वाणी में उल्लेख किया है जिसमें पारद-मारण और पारद-गुटिका-बंधन प्रधान क्रियायें मानी जाती हैं। उनके 'पवन गोटिका पारा बांधे' और 'यों पारा मारे'—इसी क्रिया की ओर संकेत करते हैं। श्री हरिदासजी सिद्ध साधक थे। उनका प्रत्येक शब्द अन्वेषण और उपलब्धि का ऐसा सबल सूत्र है जिसके सहारे साधक अपने आप ही आत्म ज्ञान की सुदृढ़ भूमिका तक पहुँच सकता है। 'धागे लागा जाय आप कूं आप पिछाणे।' श्री हरिदास जी के निरंजनी संप्रदाय के मतानुसार ईश्वर एक ओर निराकार—'अरेख, अदेख, अभेष, निजोग' तथा 'अभंग, अरंग, असाध, असंग है तो दूसरी ओर वह परदुःखकातर निरंजन-नाथ है।

'नाथ निरंजन परदुःख हरण, जहाँ तहाँ जगदीस।'

खेद है कि विद्वत्-समाज में निरंजनी संप्रदाय के इन सुंदर सूत्रों को बटोरने का चाव नहीं है। श्री नगेन्द्र वसु के विशाल हिन्दी विश्वकोष में भी निरंजनी संप्रदाय के बारे मे निम्नलिखित कतिपय पंक्तियाँ लिख कर पिंड छुड़ा लिया गया है—"निरंजनी एक उपासक संप्रदाय। कहते हैं कि इस संप्रदाय के प्रवर्तक निरानंद स्वामी थे। उन्होंने निरंजन निराकार ईश्वर की उपासना चलाई थी। इससे उनके संप्रदाय को निरंजनी संप्रदाय कहने लगे। किन्तु आजकल निरंजनी साधु रामानंद के मतानुसार साकार उपासना ग्रहण करके उदासी वैष्णवों में हो गये हैं। वे कोपीन पहनते हैं तथा तिलक और कंठी धारण करते हैं। मारवाड़ में इनके अखाड़े बहुत हैं। ये लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च श्रेणी के मनुष्यों का अन्न ग्रहण करते हैं। इसी से रामानंदी व साधारण धर्म-निष्ठ वैरागी इन के हाथ का भोजन नहीं करते।" आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ मध्यकालीन भारतीय रहस्यवाद भी निरंजनी संप्रदाय का नामोल्लेख करके मौन हो जाता है। निरंजनी शाखा के श्री हरिदास जी का केवल एक बार उक्त ग्रंथ में नामोल्लेख हुआ है। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि श्री क्षितिमोहन सेन को श्री हरिदास जी के विषय में किसी ने जो सूचना दी है, वह भी गलत दी है। क्योंकि श्री सेन जी दादूके प्रमुख १८ शिष्यों की सूची देते हुए सत्रहवां नाम

श्री हरिदास जी[1]—निरंजनी का लिख रहे हैं। मेरे पास श्री हरिपुरुष जी की वाणी[2] की जो मुद्रित प्रति है उसे मैंने कई बार प्रेमपूर्वक पढ़ा है। श्री हरिदास जी जयपुर और अजमेर की तरफ 'रमणी' कर चुके थे जहाँ दादूपंथी साधुओं से संभवतः उनकी भेंट हुई होगी[3]। परन्तु आश्चर्य की बात है कि तुक मिलाने के लिए भी उन्होंने अपनी बाणी में दादू का कहीं नामोल्लेख तक नहीं किया। श्री दादू जी रामानन्द और कबीर की शिष्य परंपरा में थे और उस परंपरा का प्रभाव निरंजनी संप्रदाय पर भी माना जाता है। इसलिए स्वाभाविक है कि श्री हरिदास जी दादू जी का उल्लेख करें। रामानंदी शिष्य परंपरा के नामदेव, पीपा, सदना और कबीर आदि अनेक संतों का श्री हरिदास जी ने अनेक बार उल्लेख किया भी है, पर दादू जी का उल्लेख नहीं है। राजस्थान के उत्कृष्ट संत दादू जी थे। देश प्रेम के नाते जहां अनेक अपरिचित महात्माओं का नाम श्री हरिदास जी गिना गये हैं, वहाँ भी दादू जी को न जाने क्यों भूल गये। अनेक मतों और पंथों का उल्लेख उन्होंने किया है, पर दादू-पंथ का उल्लेख उनकी वाणी में मेरे देखने में नहीं आया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन संतों और योगियों के प्रति श्री हरिदास जी के मन में स्वाभाविक अनुराग था उनको उन्होंने बार-बार प्रेम पूर्वक स्मरण किया है। किन्तु गुरु रूप में यदि उन्होंने किसी को स्पष्ट रूप से याद किया है तो दादू को नहीं, गुरु गोरखनाथ को याद किया है। वाणी के श्री गुरुदेव के अंग में श्री हरिदास जी ने स्पष्ट लिखा है, 'गोरख हमारे गुरु बोलिए, पाढा हमारी चेली। 'सति का सबद सहज घर—खेलूं यहि विधि दुरमति पेली।' अगले दोहे में तो गोरखनाथ के अतिरिक्त अन्य को गुरु रूप में वे पसन्द ही नहीं करते हुए पाये जाते हैं।

यथा—

'माई मूंडो सिद्ध की, भजूं निरंजन नाथ।
हरीदास जन यों कहै, सिर गोरख का हाथ।।

इससे आगे फिर एक दोहे में बड़े प्रेम से नाथ जी के प्रति अपना अनुराग उँडेलते हुए कहते हैं—

'जन हरिदास नाथ का बालक, रहै नाथ की छाया।
पूरण ब्रह्म परम सुखदाता, निरभै निरंजन राया।।'

---

१. देखो Medieval Mysticism of India—Sen, पृष्ठ 112

२. यह प्रति वैष्णव साधु देवादास द्वारा संपादित तथा प्रकाशित और प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस में मुद्रित है। इसकी प्रथमावृति संवत् १९८८ में प्रकाशित हुई थी। वही मेरे पास है। श्री कुंज बिहारी का मंदिर, कटला बाजार, जोधपुर से यह पुस्तक प्राप्त हो सकती है।

३. किसी संत की वाणी को कोई कड़ी पकड़ कर अपनी वाणी में मिला कर कह डालने की श्री हरिदास जी की आदत है—यह पहिले बताया जा चुका है। एक जगह श्री हरिदास जी ने निज औषधी का उल्लेख किया है जो निश्चित रूप से दादू जी के इस दोहे की कड़ी प्रतीत होती है—'राम नाम निज औषधी काटे कोटि विकार'।

जिन महापुरुषों ने सत्य के लिए सत्याग्रह किया उनका बड़े आदर के साथ श्री हरिदासजी ने मन हठयोग—प्रसंग में नाम लिया है। श्री दादूजी का नाम यहाँ भी नहीं है। परन्तु श्री गोरखनाथजी उन्हें फिर स्मरण आते हैं—

'जाय मछंदर पड़ि रह्या, माया तर की छाँह।
गोरख कछू भोला न था, जिन गुर काढ्या गहि बाँह ॥'

इसी के आगे मेनावती माता और गोपीचंद को प्रेमपूर्वक याद किया है। वे भी नाथ पंथी ही हैं।

गुरु के रूप में गोरखनाथ जी का चलता उल्लेख श्री हरिदासजी ने कर दिया हो—यह बात भी नहीं है। हठयोग के सुप्रसिद्ध सिद्ध गोरख की साधना-पद्धति की छाप श्री हरिदास जी की वाणी पर इतनी स्पष्ट है कि संशय के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। उनके अनेक पद* आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और नाद बिन्दु आदि अनेक तत्वों के उल्लेख द्वारा श्री गोरखनाथजी की साधना-पद्धति का श्री हरिदासजी पर अपना प्रभाव प्रकट करते हैं। उनके समाधि-योग और उनके तत्व चिंतन पर निश्चित रूप से नाथ संप्रदाय की छाप पड़ी है। 'अरथ विचारि अगम में पैंठा, नऊँ नाथ संग लीया'—में नौ नाथों की परम्परा का स्पष्ट स्मरण है। 'देश काँवरू कर गहि तोलूं. सींगी सुन्न हमारी।'—के द्वारा कामरूपवासी मत्स्येन्द्र और उनके शिष्य गोरख तथा उसके साथ ही गोरख संप्रदाय की सींगी आदि का स्पष्ट स्मरण है। इसी प्रकार 'जोग विचारि जुदा हम जीती और 'उलटी ताली लाई'—के द्वारा खेचरी मुद्रा और योग सिद्धियों की ओर संकेत है। वैसे भी श्री हरिदासजी सुप्रसिद्ध सिद्ध योगी थे। उनकी सिद्धि के चमत्कार पहले बताये जा चुके हैं। गुरु गोरखनाथ की कृपा से सिद्ध—पट्टण में उन्होंने मृत व्यक्ति को भी जीवन दान दे दिया था। इन सब बातों से नाथ संप्रदाय का प्रभाव उनके ऊपर स्पष्ट सिद्ध होता है।

वेश भूषा की दृष्टि से भी नाथ संप्रदाय का प्रभाव उन पर लक्षित होता है। ऊपर श्री हरिदास जी महाराज के तीन चित्र दिये गये हैं। पहला चित्र श्री हरिपुरुषजी की वाणी में प्रकाशित श्री हरिदास जी की मूर्ति की फोटो प्रतिलिपि है। इस मूर्ति के नीचे लिखा है—

'श्रेष्ठि गाढार्चितो नित्यं शिष्येण सह शैलके।
गुहाद्वारि स्थितः साधुः वक्ति श्री हरिपूरुषः ॥

* श्री हरिदासजी की वाणी में आई हुई निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए:—

१—'आसण अचल मेर गिर ऊपर, मन हसति गई बाँधा।'
२—'सांस उसासि अगम अरि जीत्या, जागि परम सुख पाया।'
३—'ज्ञान गूदड़ी सहज निरालंब, पिसण पवन गहि बांधा।'
४—'गंग जमन मधि आसण ओधू, चैले सतगुरु लाधा।'
५—'चंद सूर सम सुरति सहज घर।'
६—'परम गति परकास परम सुख।'
७—'बाजै अनहद तूरा।'

ज्ञात होता है कि संभवतः डीडवाने की तीखली पहाड़ी पर श्री हरिदास जी की कोई प्रस्तर मूर्ति है जिसकी प्रतिलिपि पुस्तक में प्रकाशित की गई है। यह मूर्ति उपदेश देने की मुद्रा में अंकित की गई है। श्री हरिदास जी एक शिलाखंड पर कोपीन धारण किये हुए सिद्धासन* लगाये बैठे हैं। ध्यान से देखने पर उनके कान में एक गोल-गोल मुद्रा दिखाई देती है। शिर पर जटा जूट नहीं है। न हाथ और कंठ में कोई माला दिखाई देती है। दूसरा चित्र नरहड़ (पाटण) से प्राप्त हुआ है। इसका सारा पत्थर बड़ा खुरदरा है। गढ़ाई का काम इतनी जल्दी से किया गया है कि प्रस्तर-पट्टिका को घिस कर समान भी नहीं किया गया। इस में श्री हरिदास जी शिला खंड पर पैर लटकाये बैठे हैं। तुंबी हाथ में दबी हुई है। हाथों पर माला है। गले में या तो कंठीमाला है और शिर पर केश रचना है अथवा हो सकता है शिर पर लहरदार टोपा है और जो माला सी दिखाई देती है वह टोपे की बंधी हुई (तनी) रस्सी है। प्रथम और दूसरे चित्र की आकृति की समानता इतनी अधिक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि नरहड़ के किसी शिल्पी ने डीडवाने वाली मूर्ति के आधार पर ही यह मूर्ति तैयार की थी। आँखों की आकृति, मुख की गोलाई, पेट की उभरती हुई स्थिति, कोपीन आदि दोनों में बिल्कुल एकसी है। नरहण की इस मूर्ति के कानों में भी मुद्रा है। तीसरी मूर्ति भी नरहड़ (पाटण) से प्राप्त हुई है। इसके नीचे पत्थर पर खुदे हुए अक्षर हैं। यह भी श्री हरिदासजी की ही मूर्ति है। यहाँ वे हाथ जोड़े हुए संभवतः प्रार्थना की मुद्रा में बैठे हैं। पेट और मुख की आकृति इस मूर्ति की पहली दोनों मूर्तियों से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। केश रचना भी दूसरी मूर्ति से कुछ भिन्न है। परन्तु रुद्राक्ष की माला, कंठीमाला और कानों की काश्मीरी मुद्रा दूसरी मूर्ति की तरह यहाँ पर बिल्कुल स्पष्ट है। यह तीसरी मूर्ति दूसरी से बड़ी भी है और पत्थर के अंदर गड्ढा बनाकर कोरी हुई है। इसलिए केवल शैली में ही भिन्न नहीं है, अपितु काल की दृष्टि से भी भिन्न प्रतीत होती है। नीचे लिखे अक्षरों के मोड़ संवत् १२१५ वाले नरहड़ के शिलालेख से बहुत मेल खाते हैं। इससे प्रतीत होता है कि श्री हरिदास जी की यह तीसरी मूर्ति, दूसरी मूर्ति से अधिक पुरानी है। यहाँ कलाकार ने सफाई भी अच्छी दिखाई है। माला का प्रत्येक मनका साफ दिखता है। क्या ये काश्मीरी मुद्रा और हाथ की रुद्राक्षमाला उनके ऊपर नाथ संप्रदाय का प्रभाव सिद्ध नहीं करते ?

श्री हरिदास जी के ऊपर केवल नाथ संप्रदाय का प्रभाव देखना भी एकांगी दृष्टि-कोण है। वे निरंजनी वैष्णव भी अपने आप को मानते थे। गले की कंठीमाला संभवतः वैष्णवों की तुलसी की कंठीमाला है। कोपीन स्पष्ट रूप से है ही। तीसरे चित्र के नीचे श्री हरिदास जी के लिए 'श्री विभवः' लिखा हुआ है। मैंने निरंजनी संप्रदाय वालों से पूछा तो उन्होंने बतलाया कि निरंजनी साधु माथे पर चंदन की दो खड़ी (वैष्णवों की) रेखाओं के बीच में एक लाल रोली (कुंकुम) की रेखा लगाते हैं। यह बीच की कुंकुम-रेखा निरंजनी साधुओं की मुख्य पहचान मानी जाती है। निरंजनी साधु इस मध्य की कुंकुम-रेखा को 'श्री'—चिह्न कहते हैं। शिलालेख का—'श्री विभवः' इस बात को सुनिश्चित कर देता है कि यह महात्मा 'श्री—चिह्न' के वैभव से युक्त कोई निरंजनी साधु है। कानों

*यह बातचीत के लिए शिथिलित किया हुआ पद्मासन भी हो सकता है।

की काश्मीरी मुद्रा और आगे लेख का 'धर्म-प्रसिद्ध' शब्द यह निश्चय कर देता है कि यह निरंजनी महात्मा श्री हरिदास जी के सिवाय और कोई नहीं है।

जिस प्रकार श्री हरिदास जी की साधना पद्धति नाथ संप्रदाय से प्रभावित है, उसी प्रकार उनकी उपासना-पद्धति श्री रामानंद के वैष्णव संप्रदाय से प्रभावित है। इसमें संदेह के लिए स्थान नहीं है। श्री रामानंद के शिष्यों को श्री हरिदासजी ने जिस प्रेम से स्मरण किया है—वह प्रेम इस बात का द्योतक है। रामानंद की शिष्य परंपरा में कबीर एक महान् विभूति थे। श्री हरिदासजी की वाणी पर कबीर का प्रभाव भी स्पष्ट है। कबीर की तरह सब धर्म-संप्रदायों के भेदभाव को मिटाने वाला उग्र सुधारवादी स्वर उनका भी है। कबीर की तरह साधना और भक्ति दोनों पक्ष वे भी साथ ले कर चले हैं। कबीर की प्रशंसा करते हुए श्री हरिदासजी कहते हैं,

'एक बोड़ि हिन्दु तुरक, एकै दास कबीर।
मन हठ ले ऊभा रह्या, सिर पर साहस धीर ॥'

तथा— 'टेक रहो तन मति रहो, टेक गया पण जाय।
ऐसी टेक कबीर की, चौड़े रह्या बजाय ॥'

श्री रामानंद-शिष्य-परंपरा में नामदेव भी आते हैं। उनकी प्रशंसा करते हुए श्री हरिदास जी कहते हैं—

सेज मंगाई जलां सूं, सो बहोड़ि न जल में जाय।
तब नामें मन हठ किया, मुई जिवाई गाय ॥'

निरंजनी संप्रदाय वाले यह मानते हैं कि श्री हरिपुरुष जी को साक्षात् भगवान ने दीक्षा दी थी। उनकी श्रद्धा उचित है, पर गुरु से बढ़कर भगवान् क्या चीज है? श्री हरिपुरुषजी को भगवान मिले थे और वे गुरु के रूप में ही मिले थे। जहाँ पर श्री हरिदासजी ने स्पष्ट रूप से गोरखनाथजी को अपना गुरु स्वीकार किया है, वहाँ पर भी वाणी के संपादक महोदय ने गोरख का अर्थ परब्रह्म समझने की सलाह दी है। महान् साधुओं ने संप्रदाय के संकीर्ण बंधनों को कभी स्वीकार नहीं किया। श्री हरिदासजी महान् थे—इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है।

श्री क्षितिमोहन सेन ने श्री हरिदासजी को विशिष्ट व्यक्तित्व युक्त प्रधान महात्माओं में माना है। उनकी विशिष्टता और मौलिकता—उनके चिंतन, उनकी साधना और उनकी उपासना सब में परिलक्षित होती है। श्री हरिदासजी निर्भय पुरुष थे। वे स्पष्ट स्वर में भेख के बंधन को अस्वीकार करते हैं—

'आठों पहर भजै अविनाशी, एक भेक मन मांही।
रुंडमूंड कहा टोपी पहर्यां, देह भरोसा नांही ॥'

भेख तो भीतर का काम देगा। बाहर का भेख काम नहीं आ सकता। श्री हरिदासजी ने यह केवल कहा नहीं, करके भी दिखाया है। आप स्पष्ट देखते हैं कि डीडवाने की मूर्ति घोटमोट है, नरहड़ की मूर्ति जटाजूटयुक्त है। निरंजनी संप्रदाय के साधु टोपी पहनते हैं, तुंबी रखते हैं। वे एक मूर्ति में दिखाई देते हैं तो दूसरी जगह वे नहीं भी हैं।

एक जगह माला पहन रक्खी है तो दूसरी जगह नहीं भी है। निरंजनी साधु काश्मीरी मुद्रा चाहे न पहनते हों, पर श्री हरिदास जी को उन्हें पहनने में कोई आपत्ति न थी। लोग कहते हैं कि रामानंदी वैष्णव होने के कारण श्री हरिदास जी की भक्ति सेवक—सेव्य भाव या दास्य भाव की थी। कहना उचित है। पर मुझे तो श्री हरिदास जी में दैन्य और दास्य से भी बढ़ कर उनका विद्रोही स्वर ऊँचा प्रतीत होता है। क्या आपने दीन दासों को प्रेम के क्षेत्र में शूरवीरों की तरह अपने प्यारे के साथ जूझते हुए और 'वीर-रस' के गीतों से मेदिनी को कँपाते हुए देखा है ?

'सिर तेरा तूं सिर धणी, मुझ सिर सूं क्या काम।
सिर है विष का तूंबड़ा, तूं सुख सागर राम'॥

यह है इस प्रेमी शूरवीर की टेक :—

भडां हांक भै कमँप तीर गोली बहै।
सुभट न ताके वोट चोट सन्मुख सहै॥
ज्ञान खड़्ग लें हाथि न फिरि पूठा फिरै।
हरि हौं जन हरिदास शूरवीर अरि जीत सहरि का होय रहै॥

यह लड़ाई भी विचित्र है। शत्रुता बढ़ाने के लिए नहीं यह तो शत्रुता मिटाने के लिए है। जिस शहर पर आक्रमण किया है उसी में हिलमिल कर एक होने के लिए यह खड़्ग उठाया गया है।

इसी प्रकार श्रीरामानंद की शिष्य परंपरा में भगवन्नाम संकीर्तन और नाम महिमा उपासना का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। किन्तु श्री हरिदास जी तो कहते हैं कि बार बार नाम लेने की अशिष्टता तो दूर की बात है, अपने पिताजी—रामजी का मुझे तो एक बार भी नाम लेने में संकोच होता है और नाम लिए बिना रहा भी नहीं जाता। श्री हरिदास जी ने मर्यादा—भक्ति का कैसे विचित्र रूप में पालन किया है—

नाँव धरूं तो मैं डरूं, बहोड़ि भजन तहँ नाँव।
जन हरिदास की बीनती, बाप राम बलि जाऊँ॥'

श्री हरिदास सुलझे हुए व्यक्ति हैं। उनमें कोई ग्रंथि रही ही नहीं गई है। निर्गुण और सगुण, राम और रहीम, साधना और उपासना का आंतरिक स्वर वे पहचान चुके हैं। असत् और सत् दोनों का मर्म वे जान चुके हैं। उनकी दृष्टि में असत् प्रवाह मात्र है। और सत् चिरंतन भाव है। इस कोपीन धारी वैरागी ने असत् और सत् दोनों को समान भाव से देखा है। असत् अर्थात् प्रवाह में पड़कर बहती हुई दुनियाँ को वे अपनी बहिन जी मानते हैं और सत् अर्थात् चिरंतन भाव को अपना भाई जी (ठीक ही है 'भाव राखे सो भाई' की कहावत भी है।) अपने इस अनुभव के मर्म को श्री हरिदास जी कितनी सुंदरता से कह गये हैं; 'बहता सो बहणा, रहता सो भाई।' इस प्रकार एक संत ने अपनी मस्ती प्रगट की है। उनकी वाणी एक महापुरुष का भेद भरा सत्य है।

श्री हरिदासजी की वाणी में लोक-जीवन

हिन्दी भाषा का अमृत संतों की वाणी में है। हिन्दी के इन चिरंजीवि साधकों ने साधना की जो अमर-वाणी हमें दी है, उस की बराबरी विश्व की कोई भाषा नहीं कर सकती। खेद है कि इन संतों की वाणियों के संग्रह में हमने बड़ी भारी उपेक्षा दिखाई। महात्माओं की न आज कमी है और न पहिले थी। एकएक प्रान्त और एकएक प्रदेश से यदि इन संतों की वाणियों का संग्रह किया जाय तो हमारी आँखों को खोलनेवाला एक चमत्कारपूर्ण भंडार खुल जायगा। यह संग्रह केवल पद्यबद्ध वाणी का ही नहीं, संतों की अनुभव भरी गद्य-वाणी का भी होना चाहिए। केवल शेखावाटी में ही महात्मा नाथूरामजी, बल्देवदासजी[1], कुशलारामजी, बालकनाथजी, इमरतीनाथजी, रामनाथजी, श्री गणेशदासजी आदि पहुँचे हुए सिद्ध-पुरुष पिछले दिनों हो चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि श्री हरिपुरुषजी, श्री जिनप्रभसूरिजी, श्री सोमप्रभसूरिजी और श्री जनगोपालजी तथा सुन्दरदासजी जैसे महात्मा भी शेखावाटी की भूमि को अपने पद-रज से पवित्र कर चुके हैं। श्री हरिदासजी की वाणी में अपने से पूर्व के ऐसे अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध महात्माओं के नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ तो भारत-व्यापी हैं और कुछ का संबन्ध विशेष-रूप से राजस्थान से रहा है। इनमें से गोपीचंद भरथरी, शृंगी ऋषि, चर्पटनाथ, अजयपाल, चौरंगीनाथ, अंबरीक, सती कणेरी, हठवाली, नेमकुमार, हालीपाँव, मींडकीपाँव, धून्धलीमल, ओघड़नाथ, और सोझो आदि संतों[2] का संबंध राजस्थान से रहा प्रतीत होता है। श्री हरिदासजी महाराज कहीं 'जल में कुंभ, कुंभ में जल है' और 'गूरूजी अब घरे तन छीजे' जैसे वाक्यांशों द्वारा किसी संत का अप्रत्यक्ष रूप से परिचय देते हैं तो कहीं संतों की साधना और गुणावली पर रीझ कर प्रत्यक्ष रूप से नामदेव पीपा, कबीर, गोरखनाथ और रतनपारखू की प्रशंसा करते हैं। इसी प्रकार नरहड़ शरीफ के पाक-पीर[3] फरीद

---

१. बाबा बल्देव वाणी मंदिर, मंडेला से इनकी वाणी प्रकाशित हो चुकी हैं।

२. देखिए—'घट में गोरख ज्ञान, ब्रह्मा विचार, हणवंत हेत, विष्णु विवेक, भरथरी भाव, महादेव मन, जलन्धरीपाव जोग, नारद नेह, लखमणां कंवार, लखण बत्तीस, सुखदेव संतोष, गोपीचंद आनन्द, सिंगी रिष सील, चिरपट चित्त, प्रेम प्रहलाद, परमगुरु प्रकाश, धू धुनि, अजैपाल अरथ, जनक जाणपणो, चौरंगीनाथ चौथी दसा, अंबरीक अचाहि, सती कणेरी साँच, सनक स्वाति, नाग अर्जुन नेह, सनक सनंदन सहज, हठताली हठ, नेमकँवार निहक्रम, हालीपाँव, होतब, निहकंप कबीर, मींडकीपाँव परमोद, नामदेव नेठाव, धूंधलीमल ध्यान, रहनि रैदास, ओघड़नाथ अघट, पण पीपो, पृथ्वीनाथ प्राण, समझि सोझो·········आदि।''

श्री हरिदास जी की वाणी पृ० ११७—१८

३. इन्हें आज कल लोग हजरत हाजिब शक्करवार कहते हैं। एक अन्य लेख में मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि हाजिब शक्करवार को ही प्राचीन काल में फरीद शक्करगंज कहते थे। 'पाक पीर सूं भेंट्या भै तजि, तब सब कुछ समझाया' के द्वारा श्री हरिदासजी पवित्र गुरु के साथ पाक-पट्टण के पीर से अंतर्मिलन की ओर भी संभवतः संकेत कर रहे हैं।

शक्करगंज के सत्याग्रह की प्रशंसा करते हुए श्री हरिदासजी कह गये हैं—

'सील तुलाइंगी लगी (दवा), ऐह रंक के ईद ।
पत्थर तले बिछाय कर, साईं भज्या फरीद ।।

इस प्रकार श्री हरिदास जी की बाणी राजस्थान के लोक-जीवन में रमने वाले अनेक महात्माओं का उल्लेख करती है ।

श्री हरिदासजी की वर्णनशैली की विशेषता

इन उल्लिखित महात्माओं में से गोरख, कबीर और चर्पटनाथ आदि के पद राजस्थानी में मिल जाते हैं। किन्तु उन पदों में तत्वचिंतन आदि विषय ही प्रधान रूप से पाये जाते हैं । श्री हरिदासजी की वाणी में मुझे एक बहुत ही विशिष्ट बात मिली है और वह यह है कि उनकी वाणी जहाँ एक ओर ऊँचे से ऊँचे दर्जे का योग और तत्वचिंतन करती चलती है, वहाँ दूसरी ओर अपने युग के लोक-जीवन की बड़ी सुन्दर झाँकी भी दिखाती चलती है। सत्रहवीं शताब्दी[१] की शेखावाटी के जन-जीवन का जैसा व्यापक और सजीव वर्णन श्री हरिदासजी की वाणी के संकेतों में मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। श्री हरिदासजी महाप्राण सिद्ध योगी थे। उन्होंने लोक-जीवन को अपने वर्णन का लक्ष्य कभी नहीं बनाया। लोक और जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाला यह महात्मा तो अपने निवास स्थान का नाम भी नहीं बता गया। उनको बतलाने की चिंता नहीं है, टालने की चिंता अधिक है। तभी तो लापता होने के फेर में पड़ कर वे अपना पता दे गये हैं—

'नग्र नाँव बेगमपुरा, बेगम माँहि बसाँहि ।
तहाँ कोई पहुँचे संतजन, दूजा की गम नाँहि ।।

श्री हरिदासजी महाराज कितना ही छिपावें, पर फिर भी उनकी बात पकड़ में आती है। उसका कारण स्पष्ट है । उनका चित्त दर्पण की तरह निर्मल था । जैसे एक विशाल प्रशान्त सरोवर में आस-पास की समग्र प्राकृतिक छटा अपने संपूर्ण वैभव के साथ प्रतिबिंबित हो जाती है उसी प्रकार श्री हरिपुरुषजी के सहज-समाधिस्थ प्रशान्त मन पर लोक-जीवन का प्रतिबिम्ब पड़ा है जिसका संकेत उनकी वाणी करे बिना नहीं रह सकी । इसलिए वे कोरे सिद्ध नहीं हैं, रससिद्ध कवि भी हैं ।

लोक भाषा और लोक-जीवन के भाव

श्री हरिदास जी की वाणी में भाषा का बहता प्रवाह मिलता है । संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग उन्होंने खूब किया है । श्री हरिदास जी के पद अधिकतर ब्रजभाषा में है । वैसे पंजाबी, पूर्वी, ढूंढाड़ी, डिंगल और मारवाड़ी के पद भी उनकी वाणी में मिल जाते हैं । डीडवाने के अतिरिक्त नागौर, नरहड़ (पट्टण), आमेर और पुष्कर (अजमेर)

---

१. श्री हरिदासजी की वाणी के भूमिका लेखक ने उनको सोलहवीं सदी का माना है और निधन तिथि संवत् १७०० बतलाई है । निधन तिथि को यदि प्रामाणिक मान लिया जाय तो उन्हें सत्रहवीं शताब्दि का मानना अधिक संगत लगता है ।

से स्वामी जी का घनिष्ट संबन्ध रहा है। उनका एक दोहा संभवतः इसी बात की ओर संकेत भी करता है।

'अहपुर, महपुर, इन्द्रपुर, स्यों ब्रह्मा लो जौंय।
जन हरिदास दुभर दुनों, सुभर भर्या न कोय॥'[1]

परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि मारवाड़ में जन्म लेकर और मारवाड़ में रह कर भी उनकी वाणी पर जोधपुर की ओर की मारवाड़ी की छाप नहीं दिखाई देती। शब्दों के चुनाव, गीतों की धुन और विभक्ति तथा प्रत्ययों के प्रयोग में शेखावाटी की बोली का प्रभाव उनकी वाणी पर स्पष्ट है। जोधपुरी बोली की 'स' का 'ह' बोलने की आदत यहाँ कहीं नहीं दिखाई देती और साहित्यिक मारवाड़ी की षष्ठी विभक्ति का चिह्न 'रा' 'री' भी इन की वाणी में प्रायः नहीं पाया जाता। उसकी जगह शेखावाटी में प्रयुक्त 'का' 'की' विभक्ति-चिह्न का प्रयोग प्रायः सर्वत्र दिखाई देता है। डिंगल गीत-छंदों में लिखे हुए और डिंगल साहित्य की भाव-धारा से रंगे हुए उनकी वाणी के पदों में भी विभक्ति का चिह्न 'का' 'की' ही मिलेगा। उदाहरण के लिए डिंगल के वीर-गीतों के अनुकरण पर लिखा हुआ उनका यह पद देखिए:—

'आपणं आपणं गह भर्या बोलतां,
घणां अमलां किया आँख नहिं खोलतां।
खार का बायकां और कूं छोलतां।
सार धारा मही देख तन तोलता।
मूंछ गहि सापुरुष न्याय हँसि बोलता।
आज का धांस ने खडग सनि मोलता।'

इसी प्रकार पंजाबी का अनुकरण करके भी वे बोलते हैं मारवाड़ी ही। यथा,

'च्यार पहर दा काम है बिणजारिया तेरा जागण दाछक एह वे'
मन्न हमारा थेह बड़ा में बहोत लिया सिर भार वे।
अंति काल कोई संग न चाले, फूटी हांडी लार वे।'

शेखावाटी के लोक जीवन में बिणजारे[2] और उसकी भाव-वृत्ति का क्या महत्त्व रहा

१इस दोहे का अहिपुर स्पष्ट ही नागपुर (नागौर) है और ब्रह्मपुर पुष्कर (अजमेर) है। महीपुर से संभवतः नरहड़ या पट्टण की ओर संकेत है। क्योंकि सुदूर भूत में (जिसकी स्पष्ट स्मृति भी अब शेष नहीं है) मही मंडल का यह एक प्रसिद्ध नगर रहा होगा जिसकी साक्षि 'नर समुद्र पाटण' की लोकोक्ति देती है। इन्द्रपुर के विषय में कह नहीं सकते। संभवतः इन्द्र की अमरावती के ध्वनि साम्य पर इसके दारा आमेर का संकेत किया गया है।

२ ये बिणजारे बैल पर टांडा लाद कर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्यापार किया करते थे। शेखावाटी में अनेक तालाब, कूप और देवालय इन के बनाये हुए बताये जाते हैं। नरहड़ में यदाकदा मिल जाने वाला कच्छ भुज का तांबे का सिक्का इन बिणजारों की कृपा का फल है। नरहड़ के पीरजी की दरगाह भी एक बिणजारे ने ही कच्ची मिट्टी के ढेलों से चुन कर खड़ी की थी जो अब तक विद्यमान है।

है—यह सुप्रसिद्ध राजस्थानी लोक गीत 'बिणजारा' से ही सिद्ध होता है। श्री हरिदासजी महाराज केवल लोक-जीवन के कवि ही नहीं हैं, वे सुधारक भी हैं। किसी प्रचलित लोकगीत की धुन को पकड़ कर, उन्होंने बड़ी खूबी से उसमें आध्यात्मिक रंग भर दिया है। जयपुर के बाजार में गाते हुए किसी ग्रामीणों के जत्थे को आप देखें और उन के लोक-गीत की धुन पर यदि ध्यान दें तो श्री हरिदासजी के इस पद की धुन आप के स्मृति पटल पर अंकित हुए बिना नहीं रह सकती:—

'बालिम विरह वियोगी रे,
भुरकी मो पर डारि गयो।
जग मंडल जोगी रे।

परम सनेही प्रीतमा, प्रानन ते प्यारा रे।
महल पधारो माधवे, सारां सिर सारा रे।।'

राजस्थान के जन जीवन में श्री कृष्ण-रुक्मणी का व्याहला (विवाह) आज भी धार्मिक महत्व रखता है। अन्य कथावार्ताओं के साथ पंडित जी व्याहला भी गा कर समय-समय पर सुनाया करते हैं। श्री हरिदासजी ने भी—

'दिखण देस सहर कुंदनपुर पत्रणि छतीस सुखारी।
राजा भलो, लोक नित निरभै, कन्या राज कंवारी।।'

से प्रारंभ करके संपूर्ण विवाह का विस्तृत रूपक बांधा है। इसी प्रकार राजस्थानी जीवन में बात-ख्यात और दृष्टान्तों का बाहुल्य देखा जाता है। श्री हरिदासजी की वाणी में भी इन सब की प्रचुरता है। वे दृष्टान्तों द्वारा इस प्रदेश का वातावरण खड़ा कर देते हैं। देखिए—'गोरू ग्वालहि छांडि कर, खेत बिडाणां खाय' 'स्याल पड्यां खर खात हैं जाका सूनां खेत,' 'छाज बजावें डोकरी, ऊंट खेत को खाय'—इन तीनों दृष्टान्तों में शेखा-वांटी के कृषक जीवन के चित्र हैं। पर यहां विलासी छैलों की, रसिक कलाकारों की और रोबदार शासकों की भी कमी नहीं थी। उसका भी चित्र देखिए—

'माल मुलक पगड़ा पहोम, खग पतिवरता नारी।
कर जोड्यां आगे खड़ी, अरस परस दीदारी।।
राग कलावंत हुडक्कणी, काजी मिसर विवेक।
अगम उरक अंतरि नहीं, बेली कथा अनेक।।'

और इसके साथ ही श्री हरिदासजी कहानी की झोंक में डाल कर पाठक को योग तत्व के रस में डुबो देते हैं—

'सप्त धातु की सौंज सब अहं गिर प्रगट कीया।
नव दरवाजा राखि के, त्रिगुण तहाँ चूना दीया।।
पांच तत्व सत छोह, महा सुंदर पुर काया।
नाना बुरज अनेक, चित्र कांगरा बणाया।।

नौसे खाई कोट, पांच पायक अभिमानी।
महल बहैतर मांहि, दोय बारू पटराणी।।'

प्रकृति-चित्रण

योग की परम्परा में वर्णित नदी नालों का वर्णन श्री हरिदासजी की वाणी में भी मिलता है। किन्तु उनकी मौलिकता शेखावाटी के शुष्क वातावरण के चित्रण में है। उनका यह दोहा—

'जन हरिदास सुख अगम है, मथि काढे ते संत।
जल थोड़ा आंधी घणी, ऐसा ज्ञान अनंत।।'

निश्चित रूप से हमें ज्ञान की निर्जल और काली पीली आंधियों वाली मरु-भूमि में ला कर खड़ा कर देता है। यह तो सचमुच मरण-भूमि है जहां जीवन बड़ा दुर्लभ है। इस मरण-भूमि पर रहने वाले वीरों का सबसे बड़ा त्यौहार 'मरण-त्यौहार' है और जिस नदी का वे जल पीते हैं वह भी मरण-नदी है। श्री हरिदासजी चेतावनी देते हुए कहते हैं—

'मरण नदी जल मत पिवै, पीवत लेय तुड़ाय।
बूड़े लोरे बापड़ा, निकस्यो बहोड़ि न जाय।।'

यह मरण-नदी साक्षात् काटली नदी है जहां से पानी पीने के लिए भी घुसा हुआ आदमी वापिस नहीं आ पाता; पैरों के नीचे की रेत काट कर काटली उसे अपनी लहरों में डुबा लेती है। लू इस देश की परिचित चीज है। यदि टट्टियों से छाया हुआ कोई ठंडा मकान न मिले तो इन के मारे दिन काटना कठिन हो जाता है। खस की टट्टियां लगा कर अपने साथियों साहित किसी ऊंचे चौबारे में रहें तब तो आनन्द है। श्री हरिदास जी के शब्दों में—

'साथ सकल ले सावतो, गगन मंडल मठ छाय।
लू काई लागै नहीं, आनन्द में दिन जाय।।'

परन्तु मरु-भूमि भी सदा सुष्क और नीरस नहीं रहती। मरु-वासियों को वर्षा ऋतु जितनी सुन्दर लगती है उतनी सुन्दर और कोई ऋतु नहीं। श्री हरिदासजी के शब्दों में 'ऋतु-परिवर्तन' का सच्चा अनुभव तो राजस्थानियों को वर्षा में ही होता है। उमड़ती हुई घटा को देखकर उसका मन-मयूर नाच उठता है। श्री हरिदासजी कहते हैं, 'मोर मगन चात्रिग सुख चितवन बीज चमकि झड़ लायो।' श्रावण की मनोहारिणी छटा के दर्शन भी उन्होंने कराये हैं, 'सखियो सावण मास विराजै।

परमल प्रीति उमगि जल उलट्या, गगन गरजि घन आया।
दामिणि उलटि आभ में बैठी, नवघण न्यूंत बुलाया।।'

और इसी के साथ सावण के गीतों की रमझोल याद आती है और राजस्थान की तीजणियों की मनोहर छटा सामने आती है—

'तीज रमती पिवतैं डरूं, पीव रूठां कहां ठौर।
जन हरिदास आनन्द भया, छूटि गया भ्रम और।।'

और शेखावाटी का किसान भी इस दुर्लभ अवसर का आनन्द लूटे बिननहीं रहता। उसकी धरती उसे बुलाती है। रूपक की छटा में श्री हरिदासजी गा उठते हैं—

'संतो खेती की रुति आई।
औसर बसौ बहौड़ि नहिं लाभै अब जीता ज्यूं बाही ।।
धरती सूड़ झाड़ अलसोरह्या, विरह अगनि जलाई।
सुबुधि भोमि राम जल बूढ़ा, यूं बाड़ी बनि आई ।।

हलसौतिये अर्थात् कृषिकर्म के आरंभ में सूड़ (अर्थात् छोटे पौधों को काटना) करते और उनको इकट्ठा करके जलाते हुए आज भी यहाँ के किसानों को आप देख सकते हैं। देखते-देखते मरु-भूमि बाजरा, मोठ और गंवार के पौधों से हरी भरी हो जाती है और किसान 'निनाण' (घास काट कर खेत संवारना) शुरू कर देते हैं। इसी निंदाण की ओर संकेत करते हुए श्री हरिदासजी कहते हैं—'खेत निदाण्यो नीपजे, सिरटा मोटा होय।' ठीक तो है खेत की उपज निनाण से बढ़ती है और बाजरे के मोटे सिट्टे (भुट्टे) भी तभी आते हैं।

जब ये काम के दिन बीत जाते हैं तो शेखावटी के जीवन में एक विचित्र प्रकार की उदासी और आलस्य का वातावरण छा जाता है। पशु पक्षी इस उदासी को और भी विचित्र रंग दे देते हैं। गाँव के बाहर कोई मोटी ताजी भैंस छाया में बैठी जुगाली लेती रहती और गुरसल[1] तथा कौवे उस पर आकर लूंब गाते हैं। भैंस आलस्य के कारण उठना नहीं चाहती। उधर चोंच से कुरेद कर मांस निकाल लेने पर भैंस के पूंछ और सींग की फटकार की परवाह न करते हुए काग भैंस को छोड़ कर जाना नहीं चाहते। श्री हरिदासजी के शब्दों में देखिए—

माया भैंस विराट् बय, जीव बिलंबे आय।
काल काग छोड़ै नहीं, वै लागै वो खाय ।।

कभी-कभी कीचड़ में लिपटे हुए पशुओं को पहाड़ी कौवा या द्रोणकाक सताता है जिसे शेखावाटी के पुराने लोग 'हिलियोहाडो' कहते हैं और जिसे इस दोहे में याद किया गया है—

'हरि सुख सागर परहर्या, कीच रहा लपटाय।
जन हरिदास ता जीवकूं हिलीयोहाड़ो खाय ।।'

श्री हरिदास जी की प्रतिभा विलक्षण थी। प्रकृति का ऐसा गूंगा ज्ञान उनके सिवाय और कौन गा सकता था? प्रकृति के प्रति ऐसा उपेक्षा भरा प्रेम और वर्णन की ऐसी गत्यात्मक तटस्थता उनके व्यक्तित्व की बड़ी भारी विशेषता है। अपनी सर्व-स्पर्शिनी दृष्टि से उन्होंने जड़-जंगम, काल्पनिक और यथार्थ सबको छू लिया है।

---

१. मैना की जाति का एक पक्षी।

राजस्थानी साहित्य का प्रसिद्ध काल्पनिक पक्षी 'अनलपंख'[1] का आदर्श और चोरों के शकुनपक्षी की 'दाहिनी भाषा'[2] का यथार्थ श्री हरिदास जी की वाणी में एक साथ हिले-मिले बैठे हैं। शेखावाटी के पेड़-पौधे-आक, बबूल और करील-थूहर का ही वे वर्णन नहीं करते, रासायनिकों की 'जारण-जड़ी' और मंत्रसिद्धों की 'नाग-दमनि' से भी वे सुपरिचित हैं।

प्रसंग-गर्भत्व

आज कल कुछ जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं। सम्भवत: ये जन-श्रुतियाँ श्री हरिदास जी के समय में भी प्रचलित थीं। किसी बात का सीधा उल्लेख तो श्री हरिदास जी करते ही नहीं, परन्तु कहने के रंग ढंग से उन जन-श्रुतियों का आभास हम पा सकते हैं। नरहड़ में एक जन-श्रुति कभी-कभी सुनी जाती है कि नरहड़ के किसी पीरजी ने नरहड़ में सिर कटे कबंध के रूप में प्रवेश किया था। पीरजी ने कबंध के रूप में प्रवेश किया था या नहीं—कह नहीं सकते। किन्तु नरहड़ के पास ही इस्माइलपुरा में एक समाधि बनी हुई है। वहाँ के वयोवृद्ध ठाकुर साहब से जब मैंने पूछा तो उन्होंने बतलाया कि डाका डालने वाला एक मुसलमान था। उससे सब भयभीत रहते थे। नरहड़ के जंगल में कुछ लोगों ने मिल कर उसका सिर काट दिया; पर उसका कबंध लोगों को भयभीत करता हुआ वहाँ से इस्माइलपुरा तक पहुँच गया। जिस जगह वह कबंध गिरा वहाँ उसकी समाधि बना दी गई जिसको पूजने के लिए उनके वंशज कभी-कभी बाहर से इस्माइलपुरा आते हैं। यद्यपि ठाकुर साहब की वर्णन शैली से यह घटना १००-१५० वर्ष पुरानी ही प्रतीत होती थी; किन्तु श्री हरिदास जी का एक पद नरहड़ की इस विचित्र जन-श्रुति का संकेत देता हुआ-सा प्रतीत होता है। विचित्र इसलिए कि (मरु-भारती में प्रकाशित) 'तोगा री तलवार' के उपाख्यान से प्रतीत होता है कि मुसलमानों में सती-प्रथा और कबंध युद्ध की प्रणाली न तो प्रचलित थी और न उन्हें इन दोनों बातों में विश्वास था। श्री हरिदास जी का वह पद यह है—

'जाके कर मुख सिर नहीं, चरन नासिका नांही।
ऐसा मन मेवासिया[3] काया नगरी मांही॥

---

१. एक काल्पनिक पक्षी जो सुदूर आकाश में उड़ता रहता है, जमीन पर कभी नहीं उतरता। यहाँ तक कि जो अंडा वह आकाश में देता है वह भी गिरते-गिरते आकाश में ही फूट जाता है और उसमें से बच्चा अनलपंख निकल कर जमीन देखे बिना ही वापिस चला जाता है।

२. चोरी के लिये जाते समय चोर एक शकुनपक्षी की अनुकूल बोली का शकुन लेकर चलते हैं।

३ यह शब्द मेव + आवास का अपभ्रंश है। राजस्थानी में इस शब्द का प्रयोग बर्बर जरायमपेशा और घुमक्कड़ जातियों के लिए होता है। हिन्दी शब्दसागर में मेवासी का का अर्थ गढ़ में या घर में रहने वाला लिखा है जो विपरीत और भ्रान्ति पूर्ण है। यह अर्थ मेंवासी (महँवासी) का होना चहिए। कोषकार का ध्यान डाका डालने वाले मेव मुस्लमानों की ओर जाना चाहिए था।

मेरा मार्‌या नां मरै और बाट है जाय।
बाजारी बहौ रूप करि, पूठा बैठे आय ।।'

एक दूसरी जन-श्रुति का संकेत और मिलता है। नरहड़ में एक बहुत भारी शिला पड़ी है। लोगों में यह अंधविश्वास है कि यह शिला हटाई नहीं जा सकती यदि हट जाय तो इसके नीचे खूब धन मिलेगा। कह नहीं सकते कि यह शिला श्री हरिदास जी के समय में भी इसी प्रकार पड़ी थी या नहीं; परन्तु झुंझनु के पास नांद रिजाणी की पहाड़ी की एक विशाल शिला है जिसके विषय में एक श्रुति परंपरा बहुत प्राचीन काल से आ रही है और एक पुराना दोहा भी इस जन श्रुति का प्रचलित है कि—

'नांद रिजाणी डूंगरी, बीच रसोड़ो पड़ाड़।
के बादें के दहिणें, कोड़ अठारा माल।।'

कुछ भी हो श्री हरिदास जी की ये पंक्तियाँ रूपक होते हुए भी निर्भ्रान्त रूप के ऊपर वाली जन-श्रुति की याद दिलाती हैं:—

'गरब-सिला कर दूरि, एह बड़ माल है।
हरि हाँ जन हरिदास भजि पूरण ब्रह्म अगाध अमोलिक माल है ।।

दूसरे स्थल पर श्री हरिदास जी ने लिखा है—

'कै बांबै कै दाहिणें, कै ज्ञानहीन गतलार।
जन हरिदास गोविंद भजो ए दह दिसि करै पुकार ।।'

उनके इस दोहे का प्रथम चरण ठीक वही है जो नांदरिजाणे की प्रचलित लोकोक्ति में पाया जाता है।

उपसंहार

श्री हरिदास जी की वाणी में न एक तानता है और न जीवन का एकांगीपन। वे केवल अद्भुत देवालयों का ही वर्णन नहीं करते मदिरालयों का वर्णन भी करते हैं— 'गगन मंडल भाठी चिगै, सखै बहो धारा रे। पाँच सखी सन्मुख सदा गुरु पावण हारा रे।' ज्वाला में स्नान करने वाली सतियों का और रणवांकुरे शूरवीरों का ही वर्णन उनकी वाणी नहीं करती; महलों में लगने वाली चौपड़ और शतरंज की बाजियाँ, बाजार में बाजीगरों के खेल और नटों के नृत्य का भी वह परिचय देती है। सत्रहवीं शताब्दि के शेखावटी के लोग चौगान का खेल 'मायादड़ी'[१] खेलते थे। बड़े बड़े युवक 'गोडारि'[२] के खेल में अपने पैंतरे चलाते थे, विणजारे 'मौनी बैल' पर बैठकर व्यापार करने निकलते थे, रसायन प्रेमी साधु पारद गुटिका बंधन और पारद-मारण[३] करते थे जगाती जगात लेते

१ शेखावाटी में आजकल इस खेल को 'मारदड़ी' कहते हैं। २ घुटनों के बल बैठकर खेले जाने वाला एक प्राचीन खेल।

३ देखिये 'ब्रह्म अगनि आकाश न भेदें तो पारा क्यों मारे।' वाणी ।

थे और किसी-किसी नगर में जगात की माफी[४] भी रहती थी। गारुड़ी सर्प का विष उतारते थे, मंत्रवेत्ता सर्प कीलते थे, योगी प्राणायाम-साधना करते थे, शिकारी कुत्ते साथ लेकर घोड़ी पर सांटी चटकाते हुए शिकार को निकलते थे और पनघट के फूटे ठीकरियों के ढेर पर खड़ी होकर 'पनिहारी' स्वयं उमंग भरे गीतों में फूट पड़ती थी। तीर्थ, व्रत, तपस्या, समाधि, उपदेश से लेकर वाणिज्य, भीख, नौकरी और खेतीपाती की कोई बात उनकी वाणी में छूटती नहीं। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दि की शेखावटी के लोक जीवन का श्री हरिदास जी की वाणी अक्षय भंडार है।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में श्रीपत्तन (नरहड़)

पिछले लेखों से यह स्पष्ट हो गया है कि नरहड़ का नाम पाटण था। यही नहीं, नरहड़ जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र प्राचीन काल में रह चुका है। सन् १९३२ में जब एक बरात में मैं नरहड़ गया था, तब कुओं की दीवारों तथा अन्य गृहों की दीवारों पर मैंने अनेक छोटी बड़ी जैन साधुओं की मूर्तियां देखी थी। आश्चर्य है कि वे मूर्तियाँ उक्त स्थानों पर आज नहीं मिल रही हैं। वे कैसे गायब हुईं बताना कठिन है। फिर भी बिरला पब्लिक स्कूल के प्रांगण में नरहड़ से ला कर रखी हुई कुछ जैन मूर्तियाँ हैं। एक कुछ बड़ी दिगंबर जैन-मूर्ति बिरला केन्द्रीय विचित्रालय में रखी हुई है। इन चिन्हों से नरहड़ का जैन धर्म का एक केन्द्र होना स्वतः सिद्ध हो जाता है। जैन ग्रंथों में नरहड़ नाम तो भाग्य से ही मिले तो मिले; परन्तु पाट्टण नाम से प्राचीन जैन ग्रंथ भरे पड़े हैं। अनिल्हवाड़ पाटण (गुजरात) जैन धर्म का बड़ा भारी केन्द्र रहा है। प्राचीन स्मारकों और पुरानी हस्त लिखित प्रतियों का वह अद्भुत भंडार है। इधर नरहड़ (पट्टण) एक छोटा सा उजड़ कर बसा हुआ गाँव है। इस प्रकार के संग्रहालयों का यद्यपि आज यहाँ अभाव है तथापि प्राचीन काल में यह भी पुस्तकों का सुप्रसिद्ध केन्द्र रहा था। यह इस बात से सिद्ध होता है कि तांत्रिकों के पंच 'म' कार की तरह नरहड़ के पंच 'प' कार की जन-श्रुति बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। नरहड़ की पांच चीजें प्रसिद्ध हैं। वे हैं–पत्थर, पुस्तक, पंडित, पीर और पानी। गुजरात के पाटण से जो प्राचीन ग्रंथ मिले हैं, उन में नरहड़ (पाटण) का बिल्कुल स्पष्ट उल्लेख है। दोनों पाटणों के नाम और सभी बातों में बहुत कुछ साम्य देखकर जैन यतियों ने नरहड़ वाले पट्टण को प्रायः श्री पत्तन नाम दिया है और अणहिलपुर पाटण (गुजरात) को केवल पाटण भी कहा है। तथापि अनेक बार भ्रमवश श्री पत्तन को भी पाटण और पाटण को श्री पत्तन भी लिखा दिया है।

मुनि श्री जिनविजयजी की कृपा से गुजरात के पाटण, भावनगर, राजकोट आदि स्थानों से प्राप्त महत्वपूर्ण प्राचीन लेख उनके द्वारा संपादित 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' में

---

४ कहते हैं कि नरहड़ में पहले जगात नहीं लगती थी। यहाँ तक कि नरहड़ में घुस जाने पर अपराधी को भी दण्ड नहीं मिलता था। श्री हरिदास जी का 'लेता डाण जगाती डंड्या'-पद्यांश भी इसी ओर संकेत करता है क्या ?



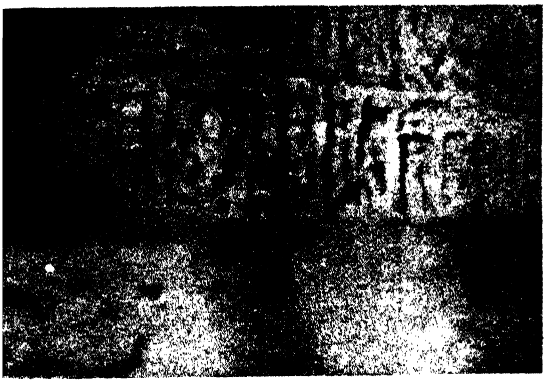
शेख फरीद शकरगंज की दरगाह का बाहरी दरवाजा। दरवाजे के सामने ७०० वर्ष पुराना पीलू का पेड़ दिखाई देता है। इस वृक्ष पर रक्षा के रंगीन अनेक धागे बंधे हैं और इसके नीचे की धूल में बैठकर रोगी दुआ मांगते हैं।



नरहड़ में एक कुएं की दीवार पर चिपका हुआ एक पुराना पत्थर जिसके ऊपर बेल बूटे के साथ नगाड़ा अंकित है। इन नगाड़ों का सम्भवतः नरहड़ के सुप्रसिद्ध 'नीसानो' से सम्बन्ध है। यहाँ लोकोक्ति ने प्रस्तर में अभिव्यक्ति पाई है क्या ? यह मुस्लिम काल से पहिले का है।



नरहड़ के पूर्व में स्थित एक प्राचीन दुर्ग के खंडहर। मुसलमान इसे हजीरा बताते हैं, पर इस जगह से प्राप्त हिन्दू देवताओं की मूर्तियों से यह कोई पुराना हिन्दू दुर्ग प्रतीत होता है।



एक प्राचीन मूर्ति अंकित प्रस्तर खंड जो नरहड़ के पश्चिमी सुराणा जोहड़ में प्राप्त किया गया था ।



खुर के दोनों ओर तीरः—नरहड़ की उत्तरी सीमा पर स्थित सुराणा जोहड़ में यह स्मारक गड़ा है जिसे यहाँ के लोग सुराणा की सती दादी कहते हैं। मेरे लेख के फुटनोट में इस पत्थर का उल्लेख हुआ है ।



एक अति प्राचीन काल के शिव मंदिर के नवनिर्मित मंदिर में चिपका हुआ पत्थर जिसमें नृत्य की मुद्राओं का अंकन है ।

प्रकाशित हुए हैं। इन में से एक प्रबन्ध 'जिन प्रभ सूरि* प्रबन्ध' है जिस में निर्भ्रान्त रूप से श्रीपत्तन अर्थात् नरहड़-पाटण का उल्लेख आया है।

मुनि जिन विजय जी द्वारा संपादित 'प्राचीन जैन लेख संग्रह' के द्वितीय भाग में पींपाड़ से तपागच्छीय श्री हीरविजय सूरि का जयपुर राज्यान्तर्गत वैराट् नगर में आने का उल्लेख हुआ है। इससे वैराट् और आस पास के स्थानों में तपागच्छ जैन साधुओं के रहने का प्रमाण मिलता है। उपर्युक्त जिनप्रभसूरि प्रबन्ध से हमें ज्ञात होता है कि इस से पूर्व भी तपागच्छीय श्री सोमप्रभ सूरि वैराट् से अनविदूर श्री पत्तन अर्थात् नरहड़ में चौदहवीं सदी में रहते थे। यहीं खरतरगच्छीय श्री जिनप्रभसूरि श्री सोमप्रभसूरि से मिले थे। इसी प्रबन्ध से ज्ञात होता है कि ये श्री जिनप्रभसूरि जिन्हें 'धूर्माण सरस्वती' भी कहा गया है 'बागड़' के रहने वाले थे। यद्यपि आज कल हम पिलानी से पश्चिमी और पश्चिमोत्तर भाग को बागड़ कहते हैं तथापि हमें भी लोग बागड़ देश वाला कह देते हैं। इस बागड़ देश में झुंझणूं के पास के किसी लंगड़े आदमी की जन श्रुति सुनी जाती है। कह नहीं सकते यह लंगड़ा कौन है। पर प्रबन्ध के अनुसार पद्मावती देवी के आदेश से श्री जिनसिंह सूरि ने बागड़ के एक लंगड़े लड़के को दीक्षित किया। उस का नाम रखा गया श्री जिनप्रभसूरि। इस चमत्कारी साधु ने फिरोजशाह तुगलक (सुरत्राण पैरोज) पर अपनी धाक जमा ली थी। फिरोजशाह कभी झुंझणूं की ओर आये थे—यह बात प्रसिद्ध है और राजस्थान के सुप्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ वीर-विनोद' में लिखा[1] भी है कि 'काइम खानियों की तवारीख जो हमारे पास फार्सी जबान में कलमी मौजूद है, उस में राजपूत खानदान से फिरोजशाह तुगलक के वक्त में इस खानदान का मुसलमान होना लिखा है।' यह बात झुंझणूं के शासक कायमखां के प्रसंग में कही गई है। इसलिए फिरोजशाह का झुंझणूं की तरफ केवल आना ही सिद्ध नहीं होता, बल्कि अनुमान होता है कि उक्त धर्म-परिवर्तन के लिए उन्हें इधर रुकना भी पड़ा होगा। आगे सिद्ध हो जायगा कि झुंझणूं के समीपवर्ती नरहड़ (श्रीपत्तन) में फिरोजशाह ठहरे भी थे। वैसे भी यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि श्री जिनप्रभसूरि सुल्तान को अपनी मातृ भूमि की ओर ले आवें।

श्री जिनप्रभसूरि के कई चमत्कारों का वर्णन करके इस प्रबन्ध में आगे लिखा है, 'एकदा[2] सुरत्राणो गुर्जर धरित्रीं प्रति यात्राभिप्रायेण सूरिं प्राह-पांडे ! अहं कस्यां प्रतोल्यां निस्सरिष्यामीति'—अर्थात् एक बार सुल्तान (फिरोज) ने गुजरात की ओर यात्रा करने के अभिप्राय से (श्री जिनप्रभसूरि से) पूछा कि पांडे, बताओ मैं किस मार्ग से होकर प्रस्थान करूंगा ? सुल्तान योगिनीपुर अर्थात् दिल्ली से चल रहे हैं और जा रहे हैं गुजरात को।

---

* जिन जिनप्रभसूरि की कथा यह प्रबन्ध कहता है वे केवल प्रभावशाली विद्वान् और चमत्कारी साधु ही नहीं है, इतिहास और भूगोल के ज्ञान की दृष्टि से वे जैन साधुओं में बेजोड़ माने जाते हैं।

१ देखिये वीर-विनोद जिल्द तीसरी पृ० १३१०

२ प्रामाणिकता के लिए प्रबन्ध का मूल संस्कृत दे रहा हूं। अनुवाद मेरा है।

अब दिल्ली से नरहड़ और नागौर हो कर प्राचीन काल में गुजरात का सीधा³ मार्ग था।

हाँ तो ऊपरवाले (सुल्तान के) प्रश्न का उत्तर श्री जिनप्रभसूरि ने कागज में लिख कर गोली बना कर उसे दे दिया और दिल्ली (योगिनीपुर) से बाहर निकल कर कागज की गोली खोलने की बात कह दी। जब बाहर जाकर सुल्तान ने उसे खोला तो उस में लिखा था, 'सुरत्राण: काकराख्य कोटस्य एकत्रिंशच्छराणि पातयित्वा निस्सरिष्यति।' अर्थात् सुल्तान काकर नामक किले के इकतीस बाण गिरा कर निकलेगा। तो इस का अर्थ यह है कि सुल्तान दिल्ली से काकर नामक दुर्ग की ओर आया था। महेन्द्रगढ़ के पास कांकड़ो नामक गाँव अब भी है और दिल्ली से नरहड़ आने वाले के महेन्द्रगढ़ काकर बीच में पड़ता है। यहाँ से आगे 'स सूरि: कियत्प्रयाणैर्नागपुरादिमार्गेण (नागपुर नगरमार्गेण) मरुस्थल्यां प्राप।' अर्थात् वह जिनप्रभसूरि (सुल्तान के साथ) नागौर नगर को जानेवाले मार्ग से (चलते हुए) कुछ पड़ावों के बाद मरुभूमि (अर्थात् बागड़) में पहुँच गया। अर्थात् दिल्ली से कांकडा होते हुए आते समय मार्ग में कई स्थानों पर पड़ाव डाला और फिर बागड़ के टीले नजर आये। इस जंगली बागड़ प्रदेश की उन दिनों भी आज की सी दुर्दशा थी। हर गाँव में सुल्तान और सूरि का स्वागत करने के लिए चावल नारियल आदि पूजा सामग्री लेकर नर नारी इकट्ठे होते थे। उनमें भूषण और सुवस्त्रहीन स्त्रियों को देख कर सुल्तान ने पूछा— ये स्त्रियाँ इतनी श्रीहीन क्यों हैं? किसी ने इन्हें दण्डित करके जांगल प्रदेश में (वानीपाते पातिता) डाल दिया है क्या? एक आदमी ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि महाराज यह देश स्वभाव से ही निर्धन है और कोई कारण नहीं है। तो सुल्तान ने परोपकार-बुद्धि से स्वर्णमय टंक-दीनारादि दे कर उन सब को विदा किया।

'एवं प्रतिग्रामं समस्तनिर्धन जनानामाशा: सफलयन् पत्तनं यावत्पूर्वरीत्या प्राप।' अर्थात् इस प्रकार प्रतिग्राम में सब निर्धन आदमियों की आशा पूरी करते हुए पूर्व रीति से श्रीपत्तन तक पहुँच गये। जंघरालनगरे बहि: कटकमुत्तरितम्। श्री जिनप्रभसूरय: पत्तन

---

३ नरहड़ के सुराणा जोहड़ में एक बड़ा सा काला पत्थर गड़ा हुआ है। इस पत्थर पर घोड़े के खुर खुदे हुए है और उन के दोनों ओर दो तीरों के चिन्ह हैं (देखिए चित्र)। इस पत्थर को नरहड़वाले सुराणां की सती दादी बतलाते हैं, पर यह पत्थर सती-लीरों से भिन्न प्रतीत होता है। नरहड़ से लाया हुआ संवत् १५५६ का एक सतीलीरा पिलानी में रखा है। यह ठीक वैसा ही है जैसे अन्य सतीलीरे राजस्थान में मिलते हैं। (देखिए चित्र)। जब मैंने इस पहिले पत्थर को सबसे पहिले देखा तब मुझे लगा जैसे किसी युद्ध-प्रिय जाति का चिन्ह यह हो। सोचा शायद किसी यौधेय जाति या अश्वक जाति का चिन्ह यह हो। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल से इन चिन्हों के विषय में पूछा गया; पर वे भी कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सके। उन्होंने यह अनुमान अवश्य किया कि संभवत: ये सेना के पड़ाव के चिन्ह या डाक ले जाने के मार्ग के चिन्ह हैं।

नगरं गच्छन्तः[1] तपापक्ष श्री सोमप्रभसूरिशालामीयुः ।' अर्थात् जंघराल नगर में (नगर से) बाहर कटक उतार दिया । श्री जिनप्रभसूरि पत्तन नगर को जाते हुए (इस गच्छन्तः का अभिप्राय जिस समय गये उस समय भी हो सकता है) तपापक्ष श्री सोमप्रभसूरि की शाला में गये । सेना का पड़ाव जंघराल नगर के बाहर हुआ और दोनों जैन साधुओं का मिलन पत्तन में या पत्तन के पास हुआ था । जंघराल नगर में कटक उतार कर जाने का अर्थ है कि इस स्थान से श्रीपत्तन बिल्कुल पास था । शाला-जंघराल नगर में होती तो कटक उतार कर जिन प्रभसूरि श्रीपत्तन क्यों जा रहे थे ?

जंघराल नगर वर्तमान सूरजगढ़ और उसके पास की पुरानी बस्ती घरड़ू का नाम है । घरड़ू के रहने वाले बताते हैं कि हमारे गाँव को पुराने जमाने में लोग जभरुगढ़ या झगरुगढ़[2] कहा करते थे । प्रबन्ध का जंघरालनगर इसी झगरुगढ़ का संस्कृत रूप है । दिल्ली-महेन्द्रगढ़ से नरहड़ आनेवाला व्यक्ति सूरजगढ़ (अड़ीचा)-घरड़ू हो कर ही आना चाहेगा । इसके बाद प्रबन्ध में शाला के चूहे को दंडित करने का चमत्कार वर्णित हुआ है । इसके बाद लिखा है—कियद्दिनानि पत्तने स्थित्वा गुर्जरन्नाव्यवहारिभिः सह सुराष्ट्रां प्रति चलितः ।' अर्थात् कुछ दिन श्री पत्तन में ठहर कर गुजरात के व्यापारियों के साथ (अथवा गुजरात के भाषा-व्यवहारादि जानने वालों के साथ) सौराष्ट्र की तरफ चल पड़े ।

---

१. अक्टूबर १९५६ की मरु-भारती में श्री अगरचंदजी नाहटा ने 'अंदर रासो' पर एक लेख लिखा है जिसमें इसी प्रबन्धका उल्लेख इस प्रकार है,'संवत् १५०३ में रचित उपदेश सप्तति और संस्कृत जिनप्रभसूरि प्रबन्ध में लिखा है कि पाटन के निकटवर्ती झंगराल-नगर में जब जिनप्रभसूरि तपागच्छीय सोमप्रभसूरि से मिले···आदि आदि ।' विज्ञपाठक देखेंगे कि ऊपर की मूल पंक्ति का जो अर्थ श्री नाहटाजी ने किया है, वह न केवल गलत है-- प्रत्युत भ्रामक भी है ।

२. पिलानी से दो तीन कोस उत्तर की ओर भी, पिछले दिनों की बीकानेर और जयपुर राज्य की सीमा, 'झगड़' नाम से प्रसिद्ध है । झगड़ या झगड़ा शब्द गजग्राहिका या गजग्राह के पहिले ग का लोप हो कर बना हुआ प्रतीत होता है । पिलानी के इस उत्तरवाली झगड़ की ऐतिहासिक निरुक्ति वृद्धपुरुष ऐसे करते हैं कि दोनों राज्यों की सीमा का झगड़ा मिटाने के लिए दोनों राज्यों का एक एक चौधरी नियत किया गया । वे दोनों बलपूर्वक एक दूसरे को आपस में धकेलते हुए जिधर से निकल गये उस संपूर्ण सीमा-रेखा का नाम 'झगड़' पड़ा । इस प्रकार का झगड़ा किन्हीं दो राज्यों में शायद घरड़ू के पास भी कभी हुआ हो । अथवा हो सकता है यह झगड़ नाम जयपुर और बीकानेर रियासतों के निर्माण के पूर्व भी किसी अन्य झगड़े का सूचक रहा हो । इस प्रकार जग्राह+अंतरालवर्ती नगर को जग्राहल या जंघरालनगर हम कह सकते हैं । पिलानी के उत्तरवाली झगड़ रेखा पर 'काजी' नाम का गाँव पड़ता है । इस गाँव के खंडहर इसे भी बहुत पुराना सिद्ध करते हैं । नरहड़ के पीरजी के काजियों से संबद्ध होने के कारण बाद में काजी नाम इसका पड़ा बताते हैं । पूर्व निरुक्ति के अनुसार प्राचीन जंघरालनगर यह भी हो सकता है । नरहड़ के नवाबों के घोड़े भी बाद में यहीं चरने आया करते थे और यह दिल्ली-चूरू के रास्ते पर भी पड़ता है ।

अणहिलपुर पाटण-सौराष्ट्र को भी पार करके अरब समुद्र के पास अवस्थित है। फिर जिस श्रीपत्तन को छोड़ कर ये यात्री सौराष्ट्र की ओर बढ़ रहे हैं वह अणहिलपुर पाटण कैसे हो सकता है ?

पट्टण या पाटन बहुत से अप्रसिद्ध और प्रसिद्ध स्थानों के नाम हैं। तोरावाटी में पुराना पाटण है, शेखावाटी में नरहड़-पाटण है झालावाड़ में झालरापाटन है, सिरोही की ओर भी किसी नहरवाले पाटन का नाम आया है, मौंटगुमरी में पाक-पट्टण है और गुजरात का सुप्रसिद्ध अनिल्हवाड़ पाटण है ही। इन में से उपर्युक्त वर्णन का पाटन कौनसा है ? इन सब पाटनों में इस प्रकार का पाटन जो जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र रहा हो, जो ऐतिहासिक महत्व का स्थान भी रह चुका हो और साथ ही जो दिल्ली से नागौर हो कर गुजरात जाने वाले रास्ते पर पड़ता हो- इन तीनों शर्तों को पूरी करने वाला पाटन केवल नरहड़-पाटन हो सकता है अथवा अणहिल-पाटन। अणहिल पाटन मार्ग के बीच में नहीं अंत में आता है। इस लिए केवल नरहड़-पाटण शेष रहता है। अकबर कालीन इतिहास-कारों ने गुजरात के नागौर-जालौर मार्ग पर पड़ने वाले किसी नहर वाले पाटन का उल्लेख किया है; पर न तो वह जैन धर्म के केन्द्रके रूप में विख्यात माना जाता है और न उसका उन संक्षिप्त उल्लेखों के अतिरिक्त कोई ऐतिहासिक महत्व है।

प्रबन्ध की कथा आगे बढ़ती है। मार्ग में चलते हुए 'एकदा सूरि पृष्टः—भो पांडे ! हिन्दू जन मध्ये किं तीर्थं बृहत्।' अर्थात् एक बार सूरि ने (सुल्तान ने) पूछा कि हे पांड हिन्दू लोगों में कौनसा तीर्थ बड़ा है ? 'सूरिराह-राजादनो दुग्धेन वर्षति।' अर्थात् सूरि ने (सुलतान के ऊपर वाले प्रश्न का उत्तर देते हुए) कहा कि राजादन दूध की वर्षा करता है। यह सुन कर सुलतान संघ बना कर राजादन तीर्थ पर गया और जब तीन परिक्रमा करके राजादन वृक्ष के नीच बैठा तो उन सब पर राजादन वृक्ष ने कुकुभ-केसर-कर्पूर-मिश्रित दूध की वर्षा की। राजादन क्या है ? हिन्दुओं का बड़ा तीर्थ राजादन कहाँ है ? प्रबन्ध संग्रह के संपादक मुनि जिन विजयजी इस विषय पर मौन हैं। बड़े बड़े कोष भी मौन हैं। सुल्तान के प्रश्न का उत्तर देने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनप्रभ-सूरि ने तीर्थों के विषय पर ही 'विविध-तीर्थ-कल्प' जैसी विशिष्ट कृति रच डाली, परन्तु अपने उत्तर में बसाये हुए राजादन को तो वे भी भूल गये। क्यों ? क्या हिन्दुओं का तीर्थ है इसलिए ? चाहे भूल जाओ, पर राजादन तो खड़ा हुआ आज भी उसी प्रकार वर्ष में एक बार अक्षय-तृतीया को पूजा के लिए आये हुए पंडितों की मंडली पर अन्न की अलौकिक वर्षा करता है और जिस अन्न के दाने राजादन अधिक बरसाता है उसी अन्न की अधिक उपज उस वर्ष होगी यह दृढ़ विश्वास आस पास की भोली जनता का है। पर राजादन क्या है ? राजादन कहते हैं राजाम्र को, प्रियाल को, अमल्तास के पेड़ को और खिरनी (सं० क्षीरिणी वृक्ष) को।

अब जो हम नरहड़ से नागौर की ओर रवाना हों तो चूरू हो कर सीधा रास्ता पड़ेगा। चूरू के पास ही में एक गाँव है जिसका नाम है खारा दूदवा। खारा तो वह

शाप से हो गया और शायद दूध की वर्षा भी उसकी शाप से रुक गई है ; परन्तु दूदवा[1] अर्थात् दूध बरसाने वाला—क्षीरिणी या राजादन नाम मिस से इसने आज भी अपना छिपा ही रखा है। यह है हिन्दुओं का बड़ा—परोक्षप्रिय देवताओं का—गुप्त तीर्थ राजादन जहाँ मील आधमील भर के दायरे में प्राचीन काल का बरसा हुआ दूध जम कर एक दूधिया पत्थर[2] बन गया है। फिर भी इतने बड़े साबुत प्रस्तर खंड पर मनुष्यों के और पशुओं के पद-चिह्न अंकित हैं। परन्तु यहाँ वह राजादन वृक्ष कहाँ जिसने सुल्तान फिरोज तुगलक पर दूध की वर्षा की थी ? इस मरु-प्रदेश में आम और प्रियाल कहाँ ? राजाम्र की तो बात ही छोड़िये। यहाँ स्वाभाविक रूप से न अमलतास उगता है और न खिरनी। फिर भी राजा के खाने योग्य वस्तु (राजादन) तो यहीं पाये जाते हैं। कोषकार ने राजन् का अर्थ यज्ञ किया है और उस यज्ञाग्नि के भक्षण योग्य तो केवल शमी है जिसके आधार पर ऋषियों ने यज्ञ-काष्ठ को समिधा कहा। इसी खारे दूदवे से कुछ मीलों की दूरी पर संसार का एक अद्भुत शमी (राजादन) वृक्ष[3] आज भी विद्यमान है जिसकी पूजा हर अक्षय तृतीया को होती है। और वह अन्न के कुछ दानों की वर्षा करता है। 'ततश्चमत्कृत चित्तेन सुरत्राणेन सह गिरनारं प्रति चलित:।' अर्थात् (राजादन की अद्भुत दुग्ध वर्षा से) चकित हो गया था चित्त जिसका—उस सुल्तान के साथ (सूरि) गिरनार की ओर चल पड़ा। तो दिल्ली और दूदवा के बीच में जो श्रीपत्तन चौदहवीं—पंद्रहवीं सदी में स्थित था और आज भी है, उसके सिवाय अन्य किसी पत्तन का वर्णन यह हो ही नहीं सकता। बुद्धिमान् आदमी तो उक्त प्रबन्ध के इस श्रीपत्तन को गिरनार-पार का पाटन कभी मानेगा नहीं। क्रमपूर्वक वर्णित इस यात्रा की महत्वपूर्ण मंजिलें इस बात की अकाट्य साक्षि हैं।

इसी पुरातन प्रबन्ध संग्रह में संवत् १३१० की माघ मास की पंचमी का मंत्री यशोवीर प्रबन्ध है जो मुनि श्री जिनविजयजी के अनुसार मूल्यवान् ऐतिहासिक सामग्रि है। इस प्रबन्ध में एक जगह लिखा है, 'क्रमेण नागड़स्य श्रीपत्तने श्रीकरणं जातं राज्ञ: श्रीवीसलदेवस्य।' अर्थात् क्रम से नागड़ के श्रीपत्तन में राजा श्रीवीसलदेव का श्रीकरण (राजा)[4] हुआ। संवत् १२१५ में नरहड़ (नृपुवाड़)[5] में श्री वीसलदेव का राज्य

---

१. दुग्धं वेति (द्रवतीति) दुग्धवा = दूदवा (द्राति याति पततीन्वति द्रमत्येजति द्रवति वेति वेनति—इति पं० मधुसूदनस्य वैदिककोषे)।

२. (वा गमने हिंसने चेति वाचस्पत्य:) तांत्रिकों के मतानुसार नजर या शाप के प्रभाव से दूध का दूधिया पत्थर बन जाता है।

३. कुछ दिन पहिले खारा दूदवा के रहने वाले मेरे शिष्य श्री महावीर प्रसाद दाधीच, बी०ए० ने मुझे इस अद्भुत वृक्ष और उस विचित्र दूधिया पत्थर की सूचना दी थी। वृक्ष की अन्न वर्षा की बात उन्होंने भी पर्व के समय जा कर देखी नहीं है। उधर की मान्यता की सूचना उन्होंने दी है। श्री महावीर प्रसादजी के पिताजी ने इस शमी से पर्व पर अन्न बरसते हुए अपनी आँखों से देखा है। मैं यहाँ पर तीर्थ की स्थिति मात्र का विचार कर रहा हूँ। उक्त तीर्थ के महात्म्य की सचाई का निर्णय करना यहाँ मेरा उद्देश्य नहीं है। प्रबन्ध के अनुसार तो राजादन ने सूरि के प्रभाव से दूध बरसाया था। चूरू से तीन मील दक्षिण को खासोली गाँव में यह बहुत पुराना शमी (राजादन) है।

था, यह पहिले लिखा जा चुका है। उसी लेख में नरहड़ के नागड़ मंत्री का उल्लेख भी मैंने 'राव जैतसी रो छन्द' के आधार पर किया है। श्री यशोवीर प्रबन्ध में पत्तन, वीसलदेव और नागड़-तीनों एक स्थान पर विद्यमान है। फिर यह प्रबन्ध नरहड़ वाले श्रीपत्तन का क्यों नहीं माना जाय ? इसी प्रबन्ध में आगे लिखा है, 'पश्चात् रगउल उदयसिंह राजादेशे समायाते मू (वी) सल देवस्य कक्किडिकमर्प्पय। नागड़ाग्रे त्रा (भा) गड़ं च कथयति। राज्ञा रुष्टेन ससैन्यो मंत्री नागड़ प्रहितः।' अर्थात् बाद में रावल उदयसिंह (के पास) राजाज्ञा आने पर कि वीसलदेव (जिसे उसने नाम बिगाड़ कर मूसलदेव कहा था) की कक्किडिक ? (शायद इसका अर्थ खंधी-instalment है) दो तो उसने (रावल ने) नागड़ को त्रागड़ कहा। त्रागड़ अर्थात् तगा। ब्राह्मण का अपमान करने के लिए आज भी यहाँ के लोग उसे तगा कहते हैं। तगा अथवा त्यारग (कसाई) महाब्राह्मण को कहते हैं जिन के मुहल्ले के मुहल्ले अब भी नरहड़ में बसे हुए हैं, यद्यपि इनमें से बहुत से कसाई (मुसलमान) हो चुके हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि नरहड़ के आसपास के नागड़ पठान भी धर्मपरिवर्तित नागड़ ब्राह्मण ही हैं। इस प्रबन्ध के प्रसंग में आने वाले जाबालिपुर, स्वर्ण-गिरि और बाघरा आदि को ले कर इतिहासकारों ने भूलों की जो एक अभेद्य शृंखला खड़ी कर दी है—वे सब स्थल मेरे स्वतंत्र लेखों के विषय होंगे। यहाँ उन पर विचार करने को गुंजाइश नहीं है। आगे लिखा है, 'राणकः प्रतिहारेण विज्ञप्तः— देव! मारुकस्य प्रधानः समागतोऽस्ति। राणक (उदयसिंह) को प्रतिहारी ने सूचना दी कि मारुक (अर्थात् मरु-देशस्थ राजा) का प्रधान (मंत्री नागड़) आया है। इस से अधिक स्पष्ट प्रमाण नरहड़ को श्रीपत्तन सिद्ध करने के लिए क्या चाहिए ?

प्राचीन जैन लेख संग्रह (द्वितीय भाग) में नाडलाई (मारवाड़) के श्री जादवा जी के मंदिर की देवकुलिकाओं के बाजुओं पर खुदे हुए दो छोटे छोटे शिलालेखों की प्रतिलिपि दी गई है जिनमें से संवत् १५७१ का लेख इस प्रकार है, 'संवत् १५७१ वर्षे कुतबपुरा तपागच्छाधिराज श्री इंद्रनंदिसूरि शिष्य श्री प्रमोदसुन्दर गुरूपदेशात् चंपकपुर्य श्री संघेन कारिता देवकुलिका चिरं जीयात्। १५७१ चंपक दुर्ग श्री संघेन। १५७१ दत्तनीय श्री संघेन। १५७१ चंपकनेर संघेन...।' अर्थात् संवत् १५७१ में कुतबपुरा तपागच्छ संघ के प्रधान श्री इंद्रनंदसूरि के शिष्य श्री प्रमोद सुन्दर गुरु के उपदेश से चंपकपुरी श्री संघ के द्वारा तथा श्रीपत्तन के श्रीसंघ द्वारा देवकुलिका का निर्माण (या जीर्णोद्धार) कराया गया। यह पहले बतलाया जा चुका है कि श्री पत्तन (नरहड़) में तपागच्छ जैन-धर्मियों का केन्द्र था। इसी श्रीपत्तन नरहड़ के पश्चिम में नरहड़ से तीन या चार मील की दूरी पर कुतबपुरा था—इसी नाम से प्रसिद्ध छोटा सा गाँव आज भी स्थित है। श्रीपत्तन के तपागच्छ संघ की एक शाखा संवत् १५७१ में कुतबपुरा में भी थी—यह इस लेख से

४. जातं का अर्थ उत्पन्न हुआ भी हो सकता है। किन्तु यदि यह अर्थ लें तब यह वीसलदेव नरहड़ के शिलालेख वाले वीसलदेव से भिन्न है, क्यों कि दोनों में ६५ वर्ष का अंतर है। इस अर्थ में 'क्रमेण' की संगति भी नहीं बैठती। इसलिए यह घटना वीसल के पुत्र श्री करण के राज्य काल की होनी चाहिए। नागड़ भी बाद में आते हैं।

५. देखिए मरु-भारती के अक्टूबर ५६ के अंक में मेरा लेख।

सिद्ध होता है। पट्टण शहर का विस्तार वर्तमान नरहड़ से पश्चिम और दक्षिण दिशा में अधिक था—क्योंकि नरहड़ से आये हुए पिलानी के शिलालेख और मूर्तियाँ प्रायः इन्ही दिशाओं से प्राप्त हुई हैं। कुछ दिन पूर्व सूचना मिली थी कि नरहड़ के पश्चिम में कुतबपुरा के पास किसी गाँव के थेह (भग्नावशेष) दबे पड़े हैं। भग्नावशेष का अनुमान काटली नदी के किनारे निर्जन प्रदेश में बिखरी हुई ठीकरियों से किया गया था। इस शिला-लेख से कुतुबपुरे के इन भग्नावशेषों का सम्बन्ध जुड़ता है।

प्राचीन जैनलेख संग्रह के संपादक श्री मुनि जिन विजयजी ने इन शिला लेख पर टिप्पणी देते हुए श्रीपत्तन को गुजरात वाला पाटण माना है। मंदिर भी उधर ही है और अन्य उल्लेख भी पाठक को गुजरात की तरफ ही ले जाते हैं। इसलिए मुनि श्री जिनविजय जी का यह विचार बिल्कुल स्वाभाविक ही लगता है। किन्तु हम तो स्वयं अनिल्हवाड़-पाटण के भांडारों से प्राप्त लेखों में इस श्रीपत्तन का सुस्पष्ट उल्लेख प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए अब शिलालेख के श्रीपत्तन को गुजरात का पाटण ही मानना आवश्यक नहीं रहता। जीर्णोद्धार करने वाले उसी प्रदेश के न हो कर दूर के भी हो सकते हैं। क्योंकि गिरनार पर्वतस्थ श्री नेमिनाथ के मुख्य मंदिर के पूर्वी बाजू पर झुंझणू के निवासी साह गुणराज के पुत्र जाजा, रायमल आदि का उल्लेख इस प्रकार है—'संवत् १४६६ वर्षे आषाढ़ शुदि १३ गुरौ जंझणपुरि वास्तव्या महतीआणी खरतरगच्छे गौत्र नन्हड़े साह चाढूण संताने साह गुणराज सुत साह जाजा वीरमदेव पुत्र माणकचन्द भ्रातृ संघवी राइमल श्री गिरि (नारि) जात्रा करी श्री नेमि (नाथस्य)[1]। अर्थात् संवत् १४६६ के आषाढ़ सुदि १३ गुरुवार को जंझण-पुरिवासी महनीआणी, खरतरगच्छ, नन्हड़गोत्र, साह चाढूण के वंशज साह गुणराज पुत्र साह जाजा, वीरम, देवपुत्र, माणकचंद भ्राता संघवी रायमलने श्री गिरिनार की यात्रा की—श्री नेमिनाथ की। खरतरगच्छीय श्री जिनप्रभसूरि का झुंझनू से संबन्ध रहा था—यह पहिले बताया जा चुका है। जंझणपुर के उसी खरतरगच्छ का उल्लेख इस लेख में भी है। इस शहर की वर्तनी के कई रूप मिलते हैं। एक प्रसिद्ध दोहे में इसको झुंझनू[2] लिखा गया है। सुप्रसिद्ध आइने अकबरी में इसे झिझनु लिखा गया है। वहीं इस लेख में जंझणपुरि बना हुआ है। इसी का एक विकृत रूप जुरजान भी मिलता है।

सारांश यह है कि यदि हम आग्रह छोड़ कर देखें तो नरहड़ का नाम ही श्रीपत्तन या पट्टण शहर है। गुजरात के श्रीपत्तन अर्थात् अणहिलवाड़-पाटन और नरहड़ (नृपवाड़)—श्रीपत्तन के पारस्परिक संबन्धसूत्र इतने उलझे हुए हैं कि चतुर आदमी भी किसी देवता का प्रसाद बोल कर हो उनको सुलझाने बैठेगा।

---

१. देखिए—लि० आ० रि० इ० बाम्बे प्रेसीडेन्सी पृ० ३५५।

२. 'सत्रह सौ सत्तासिये अगहन मास उदार।
सादे लीनी झुंझनू, सुदि आठें रविवार ।। देखिए पं० झाबरमल्लजी शर्मा द्वारा लिखित खेतड़ी का इतिहास—पृष्ठ ३५।

श्री गोलोक बिहारी धळ

हिन्दी शिक्षा का प्रसार और संस्कृत

ब्रिटिश शासन का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव जो इस देश पर पड़ा वह था यहाँ के देशवासियों द्वारा अपने रहन-सहन और भाषा की ओर उपेक्षा का भाव। वह संस्कृत भाषा जिसने योरुप को भाषा-विज्ञान के गंभीर अध्ययन के लिए जागरूक कर दिया और उन्हें भाषा-विज्ञान की एक स्वस्थ परम्परा डालने की प्रेरणा दी वही यहाँ बिल्कुल उपेक्षित हो कर रह गई। संस्कृत वाङमय और उसकी रक्षा करने वाले विद्वान् पंडित आज भी इस देश में उपेक्षित ही हैं। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में संस्कृत का जो महत्त्व था उसका अनुमान सन् १७९६ में कहे हुए सर विलियम जोन्स के निम्नलिखित शब्दों से लगाया जा सकता है:—

"संस्कृत भाषा की प्राचीनता चाहे जितनी हो पर उसका गठन आश्चर्यान्वित कर देने वाला है। वह ग्रीक से अधिक पूर्ण है, लेटिन से अधिक बहुलतायुक्त है, और दोनों से ही बहुत अधिक परिष्कृत है।"[1] बहुधा यह बात कही जाती है कि संस्कृत की खोज ने भाषा-विज्ञान के इतिहास में एक नया मोड़ उपस्थित किया; और हमें आशा करनी चाहिए कि इस देश में संस्कृत को जो उपेक्षा और उपहास प्राप्त हुआ है, उसके बावजूद भी, वह समय जल्दी ही आ रहा है जब उसे अपने ही देश में सम्मान मिलेगा, यदि उसके साहित्य के अप्रतिम सौन्दर्य या दर्शन की गहराई के लिए नहीं तो कम से कम आधुनिक भारतीय भाषाओं के शिक्षण में उसके व्यावहारिक उपयोग की असीम क्षमताओं के लिए ही सही। हम लोग इस बात की ओर से बिल्कुल बेखबर नहीं हैं कि घोट कर पढ़ाने की पुरानी पद्धति निश्चित रूप से त्रुटिपूर्ण है और वह हमारे इस बहुमूल्य उत्तराधिकार के प्रति आधुनिक चेतना को सजग न कर सकने का एक प्रमुख कारण रही है। अब समय आ गया है कि हम उसे भारतीय भाषाओं को पढ़ाने के लिए, विशेष रूप से अहिन्दी भाषियों को राष्ट्र-भाषा हिन्दी पढ़ाने के लिए, एक सफल माध्यम के रूप में प्रयोग में लावें।

यह छोटा सा निबन्ध प्रस्तुत लेखक के, जो संस्कृत और भाषा-तत्त्व का एक विद्यार्थी है और जो हिन्दी से भिन्न, एक भारतीय भाषा बोलता है, अपने प्रयोगों पर आश्रित है। दूसरे शब्दों में यह एक अहिन्दी भाषी की हिन्दी पर संस्कृत के माध्यम से किए

---

१. ऑटो जेस्पर्सन: लेंग्वेज-इट्स नेचर, डेवलपमेंट एंड ऑरिजिन-द्वितीय अध्याय तथा पीडर्सन : लिंग्विस्टिक साइंस इन दि नाइन्टीन्थ सेंचुरी।

गए प्रयोगों की कहानी है। इस लख में केवल उन्हीं बातों को, जिन्होंने प्रस्तुत लेखक को अपने दृष्टिकोण से हिन्दी सीखते समय आकर्षित किया, सूत्र रूप से उठाया गया है। सामान्यतः इनके अन्तर्गत मनोविज्ञान, शब्दावली तथा व्याकरण की चीजें आ जाती हैं। इनमें से प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत आने वाली चीजों का हम यहाँ अलग-अलग विवेचन करेंगे।

मनोविज्ञान—किसी भी चीज के लिए पहिले से मन में बैठा हुआ भय उस दिशा में प्रगति का बहुत बड़ा बाधक होता है। किसी भी भाषा को सीखने के लिए जो चीज सबसे जरूरी है वह है सीखने वाले का भाव—वह भाव जो दृढ़ निश्चय को लेकर चलता है, जो उस भाषा के प्रति प्रेम से पूर्ण है और जो पहिले से बनाए हुए किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त है। पर अनेक लोगों के लिए पूर्वाग्रहों से मुक्त होना आसान नहीं होता क्योंकि वे कई माध्यमों द्वारा उसके पास पहुँचते हैं विशेषत: वे पूर्वाग्रह जो समाचार-पत्रों और सार्वजनिक मञ्चों पर विवेचित होते हैं। हिन्दी में एक सामान्य कठिनाई लिंग के विषय में आती है जो बहुतसी अन्य भाषाओं में नहीं है, इस चीज के लिए मनोवैज्ञानिक भय इतना प्रबल है कि कोई इसे सुलझाने की बात भी नहीं सोचता। सभी भाषाओं की अपनी कुछ विचित्रतायें होती हैं और इन विचित्रताओं का मनोरंजक संग्रह किसी भी भाषा-तत्व[1] की पुस्तक से किया जा सकता है। बहुतसी परेशानी उसी समय खत्म हो जायेगी जिस समय हम जान लेंगे कि दूसरी भाषाओं में क्या हो रहा है, हालाँकि हम यह नहीं मानते कि वे हमारे लिए आदर्श हैं जिनका हमें अनुगमन करना चाहिए पर अभाग्यवश उनकी चिन्ता हमें करनी पड़ती है। लिंग का सामान्य भय जो हिन्दी की उन्नति के मार्ग में काँटे बोता है, दूर किया जा सकता है अगर हम किसी समय दुनियाँ की सबसे ज्यादा फैशनेबिल भाषा फ्रेंच[2] और हमारे दरवाजे पर खड़ी संस्कृत[3] भाषा की ओर देखें। संस्कृत भाषा का ज्ञान हमें मनोवैज्ञानिक रूप से उस चीज के लिए तैयार कर देता है जो हमें हिन्दी में मिलती हैं। हम संस्कृत से कुछ उदाहरण लेकर देखें कि वे हमें हिन्दी के लिंग के लिए किस प्रकार तैयार करते हैं—

संस्कृत शब्द	अर्थ	लिंग
दारा	स्त्री	पुल्लिग
उपानह	जूती	स्त्रीलिंग
देवता	देवता	स्त्रीलिंग
तारा	तारा	स्त्रीलिंग
नक्षत्र	तारा	क्लीबलिंग
हिन्दी शब्द		
पढ़ाई	अध्ययन	स्त्रीलिंग
रुकावट	अवरोध	स्त्रीलिंग

१. देखिए ऑटो जेस्पर्सन: 'दि साइकॉलॉजी ऑव ग्रामर', 'चेटिंग एबाउट इंगलिश'
२. मार्गरेट स्लब 'दि टंग्स ऑव मैन', 'दि फ्रैंच लैंग्वेज'
३. 'दि संस्कृत लैंग्वेज'

मौत	मृत्यु	स्त्रीलिंग
नीर	पानी	पुल्लिग
पुस्तक	—	स्त्रीलिंग

संस्कृत की तुलना में हिन्दी में लिंग कम हैं और फ्रेंच की तरह हिन्दी ने पदार्थ जगत को दो विभागों में बाँट दिया है, पुल्लिग और स्त्रीलिंग में; तीसरा विकल्प 'नपुंसक' का है।

मैं अहिन्दी भाषियों की इस लिंग विषयक कठिनाई को मैं कम नहीं समझता। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि संस्कृत के विद्यार्थियों के लिये यह कोई अनोखी चीज़ नहीं है। उन्होंने दारा (पत्नी) को पुल्लिग और उपानह् (जूती) को स्त्रीलिंग में पढ़ा है। अतः पहिले से संस्कृत का ज्ञान होने से विद्यार्थी मनोवैज्ञानिक रूप से हिन्दी को कम अनोखेपन से देखने के लिए तत्पर हो जाता है।

शब्दावली

किसी नई भाषा को सीखने में एक बड़ी कठिनाई उसकी शब्दावली सीखने में पड़ती है जिसके लिए स्मरणशक्ति पर बड़ा बल देना पड़ता है। अगर यह नई भाषा, सीखने वाले की अपनी भाषा की सजातीय हो और दोनों की शब्दावली मूलधातुओं की दृष्टि से या बनावट की दृष्टि से समान हो तो सीखने वाले की बहुत बड़ी कठिनाई हल हो जाती है। योरोपीय परिवार की किसी भाषा को बोलने वाले के लिए हिन्दी की शब्दावली इतनी परिचित है कि वह एक दिन में दर्जनों शब्द सीख सकता है। तामिल सीखते हुए मैंने यह अनुभव किया कि उसकी शब्दावली बिल्कुल भिन्न होने के कारण उसे सीखने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। पाठकों के अनुरंजन के लिए हम एक-दो शब्द उदाहरण स्वरूप यहाँ दे रहे हैं—

तमिल शब्द	अर्थ
मरुन्दु	औषध
कासु	पैसा
नाड़	देश

या संस्कृत का ज्ञान होने पर हिन्दी सीखना बहुत सरल हो जाता है और अहिन्दी भाषियों के सौभाग्यवश, जान में अनजान में, हिन्दी प्रतिदिन संस्कृत की ओर बढ़ती जा रही है। अगर हम कोई रेडियो का प्रोग्राम सुनें या वर्धा से प्रकाशित होने वाले किसी ग्रंथ को देखें या किसी मान्य लेखक के ग्रंथ पढ़ें तो हमें बहुत अधिक मात्रा में संस्कृत-निष्ठ शब्दावली के दर्शन होंगे जो संस्कृत के विद्यार्थी के लिये कुछ भी कठिनाई नहीं पैदा करेंगे। मै यह बात बहुत गंभीरता से अनुभव करता हूं कि अगले दश वर्ष की अवधि में हम जैसी हिन्दी देखेंगे वह उसका एक तरह स्वभावतः विकसित (Esparento) रूप होगा जिसमें भागिनी भाषाओं की शब्दावली मिश्रित होगी। विशेष रूप से संस्कृत के वे शब्द जो दूसरी भाषाओं में भी प्रयुक्त होते हैं, पर हिन्दी से भिन्न अर्थ में, हिन्दी में आ जाएंगे, अपने अन्य भाषाओं में प्रचलित अर्थ के साथ। उदाहरण के लिये हम

उड़िया में प्रयुक्त कुछ ऐसे संस्कृत के शब्दों को देखें जिनका उड़िया में वही अर्थ है जो संस्कृत में—

संस्कृत शब्द	उड़िया अर्थ
हन्ता	हत्याकारी
आततायी	हत्याकारी
पन्था	मार्ग
आपत्ति	अभियोग

हम कहना यह चाहते हैं कि उड़िया लेखक अनजाने ही इन संस्कृत शब्दों को हिन्दी में ले आयेगा और उसका अर्थ वही रखेगा जो उसकी अपनी भाषा में है। इसका परिणाम होगा हिन्दी में प्रयुक्त कुछ संस्कृत शब्दों को उनके अपने अर्थ देना और कुछ शब्दों को एक बिल्कुल नये अर्थ से संपन्न कर देना।

आगरा और उसके आस पास के क्षेत्र में बोले जाने वाली हिन्दी में उर्दू शब्दावली बहुत मात्रा में मिली रहती है। एक अहिन्दी—भाषी के लिए उसे समझने की कठिनाई बहुत कुछ कम की जा सकती है अगर उन उर्दू तथा हिन्दी के बहुत साधारण रूप से प्रचलित शब्दों के समानार्थी प्रस्तुत कर दिये जायँ। अगर ऐसी एक समानार्थी संस्कृत शब्दों की तालिका प्रस्तुत की जाय तो अहिन्दी भाषियों के लिए, कम से कम उनके लिए जो संस्कृत जानते हैं, एक बहुत महत्व का काम होगा। पाठकों की दिलचस्पी के लिए आगरे के एक हिन्दी दैनिक 'सैनिक' के एक उद्धरण को हम यहाँ दे रहे हैं जिसके साथ उसमें आए हुए उर्दू शब्दों के लिए समानार्थी संस्कृत शब्द देकर लिखा हुआ उद्धरण भी है। इससे हम देख सकेंगे कि हिन्दी सीखने में संस्कृत कितनी मदद करती है।

चांदमारी

सुना है कि मुग़लिया जमाने में जब एशो-अशरत, सुरा-सुन्दरी का दौर-दौरा था तब बादशाह सलामत को खुशोखुर्रम रखने और उनकी नजर में चढ़ने के लिये कुछ अमीर उमरा अलबेली हसीनायें रखते थे। वे जहाँपनाह की ख़िदमत में उनकी दिलजोई करने को पेश होती थीं। जाहिर था कि अमीर उमरावों में बड़ी रकाबत चलती थी। हर अमीर इस फिराक में रहता था कि बादशाह मेरे द्वारा भेजी हसीना पर गर फिदा हो जायं तो किस्मत-कपाट ही खुल जायं। सुना है कि एक बार एक अमीर ने एक खूबसूरत नाजनी को बादशाह सलामत के हुजूर में भेजा ही था कि उसके मुखालिफ दूसरे अमीर ने तुरंत ही जवाब में हर मुल्क और मजहब की एक दर्जन छोकरियाँ जहाँपनाह के दौरे-हरम में दाखिल कर दी थीं। आखिर बादशाह किसी एक पर तो लट्टू होगा ही!

[सम्पादकीय, सैनिक, मार्च १९५६]

लक्ष्य-विन्दु

सुना है मुसलमानी काल में जब आराम और विलास, मदिरा और कामिनी का आधिक्य था तब बादशाह सलामत को प्रफुल्ल रखने के लिये और उनकी दृष्टि में चढ़ने के लिये कुछ धनी वैभव से पूर्ण चंचल सुन्दरियाँ रखते थे। वे जहाँपनाह की सेवा में उनके मन-

बहलाव के लिये प्रस्तुत होती थीं। यह प्रसिद्ध था कि धनिकों में पर्याप्त वैमनस्य चलता था। प्रत्येक धनिक इस खोज में रहता था कि बादशाह मेरे द्वारा भेजी गई सुन्दरी पर यदि आकर्षित हो जांय तो भाग्य-पट ही खुल जांय। सुना है एक समय एक धनिक ने एक सुन्दर युवती को बादशाह सलामत की सेवा में भेजा ही था कि उसके प्रतिद्वन्द्वी दूसरे धनिक ने शीघ्र ही प्रत्युत्तर में प्रत्येक देश तथा प्रत्येक धर्म की एक दर्जन नवेलियां जहांपनाह के केलि-भवन में उपस्थित कर दी थीं। अन्ततः बादशाह किसी पर तो लट्टू होगा ही।

उक्त उद्धरण में संस्कृत जानने वाले विद्यार्थियों को बिना किसी प्रयास के ३५ शब्द प्राप्त हो जाते हैं।

व्याकरण

जहां तक व्याकरण का सम्बन्ध है हम यहां कुछ ऐसी बातों का ही उल्लेख करेंगे जो बहुत ही दूर से ध्यान आकर्षित करतीं हैं और जिनके लिये संस्कृत ज्ञान से सहज ही सहायता ली जा सकती है। इनके अन्तर्गत (अ) लिंग (आ) कृदन्त रूप (इ) 'ने' रूप तथा (ई) प्रत्यय आते हैं।

(अ) लिंग का जहां तक सम्बन्ध है मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि हिन्दी की इस विचित्रता के लिये हम मनोवैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत हो सकते हैं। जैसा कि हम ऊपर भी कह चुके हैं संस्कृत के विद्यार्थी के लिये यह कोई बड़ी चीज नहीं है। वस्तुतः पश्चिम में सच्चे भाषा सीखने वालों के लिए भाषा तत्व सम्बन्धी प्रथम आवश्यकता के रूप में ग्रीक और लैटिन सीखना अनिवार्य माना जाता है। इससे उन्हें मानसिक अनुशासन की उपलब्धि हो जाती है। भारत में संस्कृत का भी यही स्थान है पर ऊपर के लोगों के रुख के कारण इसका पतन हो गया है। आज संस्कृत को हमें माध्यमिक शिक्षा के लिए एक अनिवार्य विषय बना देना चाहिये जिससे कि भारत में राष्ट्र भाषा के प्रचार में योग मिले।

(आ) जब इस लेखक ने हिन्दी पढ़ना शुरू किया तो उसे कृदन्त रूपों ने विशेष रूप से आकर्षित किया। लेकिन ज्यों ही आप संस्कृत से उनकी तुलना करेंगे तो कठिनाई बहुत कुछ दूर हो जाएगी और आप उनसे परिचित से प्रतीत होंगे। हम हिन्दी से एक दो उदाहरण लेकर संस्कृत से उनकी तुलना करें और देखें कि संस्कृत वहां हमारी किस तरह सहायता करती है :—

(अ) जिह्वा का पिछला भाग उठा रहता है।

(आ) देश की उन्नति के लिये चेष्टा की जा रही है।

(इ) चोर को मैंने भागते हुये देखा।

ऊपर के हिन्दी के वाक्यों में रेखांकित रूपों ने मुझे कुछ समय तक परेशान किया। मैंने यहां उठ, किया, भागना जैसे बहुत से स्थानापन्न रूपों की बात सोची। क्योंकि ये मुझे स्वाभाविक प्रतीत हुये। पर संस्कृत के वाक्यों से तुलना करने पर यह कठिनाई बहुत देर तक नहीं रहती।

(अ) गच्छतः तान् बालकान् अहमपश्यम्।

(आ) गृह गच्छन्ती सा बालिका पथि मया दृष्टा ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत जानने वाला हिन्दी रूपों के समानांतर रूप को यहां देखसकता है और उन्हें समझने की युक्ति निकाल सकता है । मैं नहीं समझ पाता कि किसी उडिया विद्यार्थी को जो न संस्कृत जानता है न फ्रेंच और अधिक आसानी से यह बात किस तरीके से समझाई जा सकती है ।

(इ) अहिन्दी भाषियों के लिए प्रत्यय 'ने' बहुत बड़ी कठिनाई उपस्थित करता है । इसके प्रयोग अपने नियम हैं जो, अहिन्दी भाषी को कभी कभी चक्कर में डाल देते हैं । इस कठिनाई का एक सरल उदाहरण निम्न दो वाक्यों में दिखाई देगा जिनमें एक में 'ने' है दूसरे में नहीं :—

(१) मैंने खाया
(२) मैं लाया

पर संस्कृत का विद्यार्थी उसे आसानी से कर्मणि प्रयोग (passive) के रूप में समझ लेगा जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है । बहुत सी चीजें ऐसी होतीं हैं जिन्हें हम केवल भाषा सिखाने में सहूलियत के लिये स्वीकार कर लेते हैं । भाषा–तत्व में ऐसी बहुत सी चीजें मिलतीं हैं ।[1]

सामान्यत: आप हिन्दी 'ने' की तुलना संस्कृत कर्मणि प्रयोग (passive) से करें तो फिर इसे याद रखना सुगम हो जायगा । उदाहरण :—

संस्कृत:	सा पत्रिका मया दृष्टा ।
	तत् पत्रं मया प्रेषितम् ।
	तानि पत्राणि मया प्रेषितानि ।।
हिन्दी	वह पत्रिका मैंने देखी ।
	वह पत्र मैंने भेजा ।
	वे पत्र मैंने भेजे ।।

हिन्दी और संस्कृत के किसी भी विद्यार्थी के लिए यह तुलना बहुत स्पष्ट है । और इस तरह हिन्दी 'ने' रूपों की संस्कृत की सहायता से याद कर लेना बहुत आसान होता है । वास्तव में कुछ थोड़े से उदाहरणों को छोड़ कर शेष में यह ठीक काम करता है ।

(ई) जहाँ तक प्रत्ययों का प्रश्न है वे बहुत अच्छी संख्या में हैं, जितने कि किसी भाषा में हो सकते हैं । संस्कृत मेरी समझ से प्रत्ययों के विस्तार की दृष्टि से सबसे अधिक आश्चर्य चकित कर देने वाली भाषा है । जहाँ तक अहिन्दी भाषियों का प्रश्न है मैं चाहूंगा कि हिन्दी के विभिन्न प्रत्यय युक्त शब्दों के स्थान पर संस्कृत पर्याय रख दिये जायँ । इसके कई कारण हैं एक तो हिन्दी लिंग की बाधा हटाने के लिये, दूसरे उस शब्दावली के प्रयोगार्थ जिसे वह पहले से जानता है और तीसरे उर्दू शब्दावली को हटाने के लिये जिसका व्याकरण जानना उसके लिये आवश्यक नहीं है ।

विभिन्न प्रत्ययान्त हिन्दी शब्द	उनके संस्कृत पर्याय
खुदाई	खोदन

[1] दि फोनीम : डेनियल जोन्स

	पढ़ाई	अध्ययन
	मिलावट	मिश्रण
	रुकावट	अवरोध
	बुढ़ापा	वृद्धावस्था
	बचपन	बाल्यावस्था
	बाढ़	वृद्धि
	लुटेरा	लुण्ठनकारी
	परसौया	परिवेषणकारी
हिन्दी में	सामान्यतः मिलने वाले उर्दू शब्द	उनके संस्कृत पर्याय
	ज़रूरत	आवश्यकता
	हालत	दशा
	बरदाश्त	सह्य
	कोशिश	चेष्टा
	हर्ज	क्षति
	शिकायत	अभियोग

व्यक्तिगत रूप से मैं भाषा के ध्वन्यात्मक सौन्दर्य की रक्षा के लिये हिन्दी और उर्दू शब्दों को सीखना चाहूँगा पर जहाँ तक हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का प्रश्न है यह हमेशा ही उचित होगा कि उसे संस्कृत के जो हमारी अन्तर्राष्ट्रीय परम्परागत सम्पत्ति है, के समीप लाया जाय। इससे प्रत्येक अहिन्दी भाषी के लिये, जो राष्ट्रीय और अन्तर्राज्यीय विचार-विनिमय की साधन भूत हिन्दी भाषा को सीखने का प्रयास कर रहा है समय और परिश्रम की बचत होगी।

श्री कैलाशचन्द्र भाटिया

अंग्रेजी 'ट्' व 'ड्' तथा हिन्दी में उसके विभिन्न स्वरूप

अंग्रेजी /t⌐ट्/ ध्वनि ग्राम की प्रधान ध्वनि का उच्चारण करते समय नासिका मार्ग कोमल तालु से तथा वायु मार्ग वर्त्स भाग को स्पर्श करने के हेतु उठी हुई जिह्वानोक से सम्पूर्णत: रुद्ध हो जाता है। फेंफड़ों से आनेवाली वायु रुक जाती है और ज्योंही वर्त्स भाग से जिह्वा हटती है, वायु शीघ्रता से मुख मार्ग से बाहर आती है और यही स्फोट [ट्] ध्वनि है। स्वर-यन्त्र में कम्पन नहीं होता है। इस प्रकार अंग्रेजी [ट्] ध्वनि अघोष वर्त्स्य स्फोट (स्पर्श) व्यंजन है।

अंग्रेजी /t/ के दो संस्वन (allophones) हैं यथा [t^h] और [t] प्रथम प्रकार का संस्वन शब्दों के स्वराघात युक्त प्रथम अक्षर व मध्य में भी स्वराघात युक्त अक्षर के प्रारम्भ में पाया जाता है और द्वितीय अन्यत्र। 'tip' व 'tin' के प्रारम्भ में [t^h] संस्वन है। महाप्राणत्व युक्त[ट् ⌐ह्.th] हिन्दी में किसी भी परिस्थिति में ग्रहण नहीं होता, क्योंकि हिन्दी में /ठ्⌐ṭh/ पृथक् ध्वनि ग्राम है।

हिन्दी में इस ध्वनि का पूर्णत: अभाव है अतएव हिन्दी भाषा भाषी अंग्रेजी की अघोष वर्त्स्य व्यंजन [t] के स्थान पर कहीं पर दन्त्य [त्⌐t̑] और कहीं पर मूर्धन्य [ट⌐ṭ] का प्रयोग करते हैं। इससे पूर्व, कि इस समस्या पर विवेचन प्रस्तुत किया जाय, दन्त्य [त्] वर्त्स्य [ट्] तथा मूर्धन्य [ट्] ध्वनियों के वास्तविक उच्चारण स्थलों पर दृष्टि-पात कर लेना उचित होगा।

१. दन्त्य [त्⌐t̑]

जिह्वानोक + ऊपर का दाँत

चित्र — १

२. वर्त्स्य [ट्⌐t]

जिह्वानोक + वर्त्स

चित्र — २

३. मूर्धन्य [ट्⌐ṭ]

जिह्वोपाग्र (उलटकर) + कठोर तालु

चित्र — ३.

जहाँ तक अंग्रेजी व योरपीय-भाषाओं के शब्दों के रूप का सम्बन्ध है, हिन्दी में कुछ शब्दों में वर्त्स्य [ट्] के स्थान पर दन्त्य [त्] अपनाया गया है और शेष में मूर्धन्य [ट्]।

योरपीय-भाषाओं के निम्न शब्दों में हमने वर्त्स्य [ट्] के स्थान पर दन्त्य [त्] को स्वीकार किया है:—

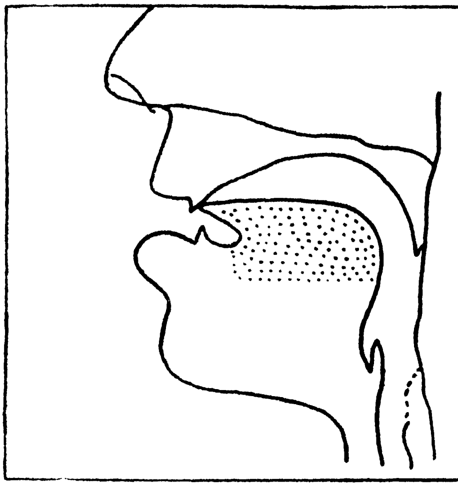
शब्द	ध्वन्यात्मक स्वरूप	हिन्दी रूपान्तर[1]	ध्वन्यात्मक स्वरूप
१. bottle	[bɔtl]	बोतल	[botal]
२. canister	[kænistə]	कनस्तर	[kanastar]
३. captain	[kæptin]	कप्तान	[kaptān]
४. Cartridge	[ka:tridz]	कारतूस	[kārtūs]
५. christian	[kristjən]	किरस्तान	[kirastān]
६. hospital	[hɔspitl]	अस्पताल	[aspatāl]
७. tarcoal	[ta:kol]	तारकोल	[tār kol]
८. stable	[steibl]	अस्तबल	[astabal]
९. secretary	[sekrətri]	सिकत्तर	[sikattar]
१०. tabacco	[tæbəkou]	तम्बाकू	[tambākū]
११. pistol	[pistɔl]	पिस्तौल	[pistola]
१२. pantaloon	[pæntəlu:n]	पतलून	[patlūn]
१३. mast	[ma:st]	मस्तूल	[mastūl]
१४. towel	[tauəl]	तौलिया	[taulia]
१५. baptism	[bæptizəm]	बपतिस्म	[boptisma]
१६. kettle	[ketl]	केतली	[ketlī]
१७. sentry	[sentri]	सन्तरी	[santrī]
१८. trump	[trʌmp]	तुरप	[turap]
१९. turpentine	[tə:pəntain]	तारपीन	[tārpīn]
२०. plaster	[pla:stə]	पलास्तर	[plāstar]
२१. August	[ɔ:gʌst]	अगस्त	[agast]
२२. September	[səptembə]	सितम्बर	[sitambar]
२३. october	[ɔktoubə]	अक्टूबर	[aktūbar]
		अक्तूबर	[aktūbar]

अगर उक्त शब्दों के वर्णविन्यास और ध्वन्यात्मक रूप का विश्लेषण किया जाय, तो हमको निम्न फल प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर नियम बनाये जा सकते हैं:—

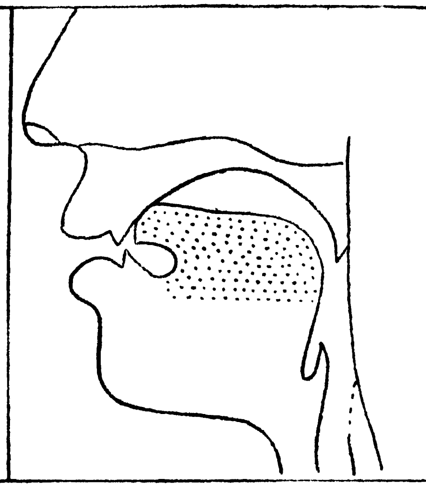
(अ) [ट्] के स्थान पर [त्] शब्दों के प्रारम्भ, मध्य व अन्त सभी स्थलों पर हो गया है।

---

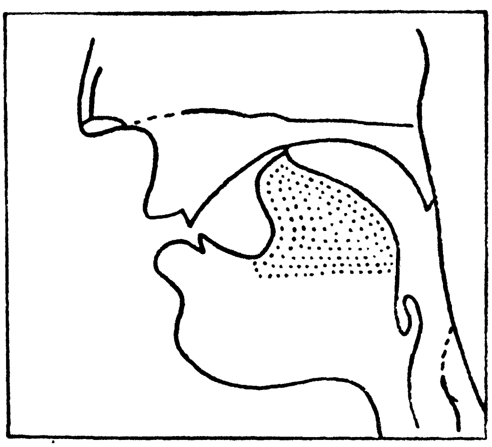
१. प्रत्येक अन्तिम ध्वनि जैसे क्रमशः [ल] [र] [न] [स] अ रहित हैं।



१. दन्त्य [त्]



२. वर्त्स्य [ट़]



३. मूर्धन्य [ट्]

(ब) इनमें से अधिकतर शब्द किसी वस्तु, माह अथवा पद को सूचित करते हैं।

(स) [त्] किन-किन व्यंजनों एवं स्वरों के साथ आया है इसका भी विश्लेषण करना आवश्यक है।

आदि

किस ध्वनि के पूर्व	आवृत्ति
[अ]	एक बार
[आ]	दो बार
[ओ]	एक बार
[उ]	एक बार

मध्य

किस ध्वनि के बाद	आवृत्ति
[स]	सात बार
[प]	दो बार
[क]	एक बार
[र]	एक बार
[ओ]	एक बार
[अ]	तीन बार
[ए]	एक बार
[न]	एक बार
[इ]	एक बार

अन्त

किस ध्वनि के पूर्व	आवृत्ति
[स्]	एक बार

उक्त विश्लेषण के पर्यवेक्षण के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है, कि [त्] अधिकांशत: अग्र स्वरों व व्यंजनों (ओष्ठय, दन्त्य व वर्त्स्य) के साथ आता है, केवल दो अपवाद हैं:—

[उ] ध्वनि के पूर्व—तुरप—सम्भवत: वर्त्स्यध्वनि [र] के प्रभाव से।

[क्] ध्वनि के बाद—अक्तूबर—लेकिन अक्टूबर भी प्रचलित रूप है।

(द) यह भी देख लेना आवश्यक है, कि उक्त शब्दों में कितने शब्द पुर्तगीज़ व फ्रेञ्च से अंग्रेजी भाषा के प्रसार के पूर्व ही आ चुके थे।

पूर्तगीज शब्द[1]	हिन्दी शब्द नागरी लिपि में	ध्वन्यात्मक स्वरूप
Botelha	बोतल	[botal]
Capitão	कप्तान	[kaptān]
Cartucho	कारतूस	[kārtūs]
Christian	किरस्तान	[kirastān]
hospital	अस्पताल	[aspatāl]
baptism	बपतिस्म	[baptisma]
toalha	तौलिया	[tauliya]
mastro	मस्तूल	[mastūl]
pistola	पिस्तौल	[pistaul]
tabaco	तमाकू	[tamākū]
	तम्बाकू	[tambākū]
pantalona	पतलून	[patlūn]
trunfo	तुरप	[turap]
Secretary	सिकत्तर	[sikattar]
Agosto	अगस्त	[agast]
Setembro	सितम्बर	[sitambar]

मेरी ऐसी धारणा है, कि निम्न शब्द अंग्रेजी के माध्यम से आये। पुर्तगीज शब्द भी विचारार्थ साथ दिये जा रहे हैं:—

पुर्तगीज	अंग्रेजी	हिन्दी	
Sentinella	Sentry	सन्तरी	[Santrtī]
Calderia	Kettle	केतली	[ketlī]
Trebintin	Turpentine	तारपीन	[tārpīn]
Outubro	Octobar	अक्टूबर	[aktubar]
			[aktubar]

पुर्तगीज भाषा से लिए गये 'आगत शब्दों' के विवेचन के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है, कि हिन्दी भाषा में ऐसे समस्त शब्दों में दन्त्य [त्] का ही प्रयोग हुआ है। डा० बेली इस मत से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। 'बोतल' और 'पतलून' को वह पुर्तगीज द्वारा लिया हुआ नहीं मानते, उनका कथन है, कि ये शब्द उत्तरी भारत में पुर्तगीज के आगमन से पूर्व ही व्यवहृत होते थे।

डा० बेली का कथन है, कि यदि यह सिद्धान्त मान लिया जाय, कि पुर्तगीज द्वारा आये हुए सभी शब्दों में हमने दन्त्य (त्) ग्रहण किया है, तो फिर निम्न शब्दों में मूर्धन्य (ट्) क्यों ?

---

१. पुर्तगीज् भाषा से लिए गये अन्य शब्द जिनमें दन्त्य [त] है इस्पात, परात, फीता, मिस्त्री आदि भी उल्लेखनीय हैं।

पुर्तगीज़ शब्द	डा० बेली द्वारा किया गया रूप	
१. Balde	baltị	बाल्टी
२. falto	phāltụ	फाल्टू
३. foguete	patākā	पटाका
४. topo	topị	टोपी
५. biscoito	biskuṭ	बिस्कुट[1]

उक्त शब्दों के विषय में मेरा मत निम्न है। ऐसा प्रतीत होता है, 'बाल्टी' शब्द का आगमन हिन्दी क्षेत्र में उस प्रदेश से हुआ जहाँ पर मूर्धन्य [ळ] प्रचलित है और उसके फलस्वरूप निकटतम ध्वनि के संसर्ग से दन्त्य [त्] भी मूर्धन्य [ट्] बोला जाने लगा। डा० चटर्जी का कथन है, कि बंगाल में 'बाल्ति' का भी प्रचार है। टर्नर[2] महोदय ने हिन्दी क्षेत्र में प्रचलित इसके दोनों रूप लिखे हैं—बाल्टी ~ बाल्ती। उनके द्वारा दिये गये अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्द ये हैं—पंजाबी—बाल्टी, गुजराती—बाल्डी, मराठी—बाल्डी, बंगला—बाल्टि।

'फाल्टू' शब्द के स्थान पर हिन्दी में तो फाल्तू शब्द ही प्रचलित है, इसके अतिरिक्त सिन्धी, गुजराती मराठी में भी इसका प्रचलित रूप फाल्तू ही है।[3]

'पटाका' के सम्बन्ध में तो बेली महोदय ने स्वयं ही यह सुझाव रक्खा है, कि यह शब्द भारतीय है और संस्कृत की (पट् + का) से बना हो। यह सुझाव पूर्णतया मान्य है। हिन्दी के अतिरिक्त पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला में भी इससे ही मिलते जुलते रूप हैं।

'टोपी' के सम्बन्ध में मेरा विचार है, कि चाहे टोप शब्द का प्रचार पुर्तगीजों के आने के पश्चात् हुआ हो, पर टोपी शब्द भारतीय है। भारतीय भाषाओं में किसी न किसी रूप में यह शब्द विद्यमान है—कुमांउनी—टोपी, बंगला—टोपि, उड़िया—टोपि, हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी लहंदा—टोपी।[4] कृष्णा जी पाँडुरंग कुलकर्णी जी[5] ने विभिन्न भारोपीय भाषाओं में उसके रूप इस प्रकार दिये हैं (Dut-Top, L. German-Topp, Port—Topo. French-Topet, Eng—top, सं०—स्तुभ् स्तुव्, दे, प्रा० टिपिआ टोप्पर, हि० टोपी, कान० टोपा) बंगाली भाषा में १५वीं शताब्दी की कविता में यह पंक्ति प्राप्त होती है—

---

१. यह शब्द अंग्रेजी के माध्यम से आया है—देखो Turner Comparative Dictionary of Nipali पृष्ठ ४५०। डा० चटर्जी ने इसका प्रयोग हिन्दुओं के लिए वर्जित होने के कारण (विष+कुट) व्युत्पत्ति दी है देखो Original and Development of Bengali Language पृष्ठ ६२६

२. Turner—Comparative Dictionary of Nepali पृष्ठ ४३६

३. वही—पृष्ठ ४०५.

४. वही—पृष्ठ २४७.

५. मराठी व्युत्पत्ति कोश—कृष्णाजी पांडुरंग कुलकर्णी पृष्ठ ३४०

रावण राजार शिरेर टोपर
बाणेर तेजे काटे[1]

कन्नड़ भाषा में भी यह शब्द निम्न रूप में उससे भी पूर्व प्रचलित था—

टोप्पिगे [toppige]—a cap, टोपी इस शब्द का प्रयोग १२६० ए० डी० में शब्द मणि-दर्पण में हुआ है—सूत्र ७८[2]।

मैंने अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी उच्चारण के (स्वंय के आधार) विविध रूपों का अध्ययन किया और मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हूँ, कि जब कभी वर्त्स्य [t—ट्] ध्वनि हमारी दन्त्य अथवा वर्त्स्य ध्वनियों के साथ सटकर आती है, जैसे [स्[[न्] [र्] तो हम बहुत कुछ उस ध्वनि का उच्चारण वर्त्स्य स्थान से ही करते हैं और ऐसा स्वाभाविक भी है। दूसरी ध्यान देने की बात यह है, कि हिन्दी के उच्चारण में मूर्धन्य [ष्] [ण्] [ळ्] ध्वनियों का भी उतना प्रमुख स्थान नहीं जितना अन्य आ० भारतीय आर्य भाषाओं में है। उदाहरणार्थ मैं कुछ शब्द नीचे दे रहा हूँ—

		हिन्दी उच्चारण
Central	[sentəl]	[sentral]
magistrate	[mædʒistret]	[majistret]
trade	[treid]	[tred]
gentle	[dʒente]	[jentil]
Industry	[indʌstri]	[indastri]

यह सम्भव हो सकता है, कि कुछ व्यक्तियों के उच्चारण में वर्त्स्य [ट्] अधिक मूर्धन्य हो, जिसके फलस्वरूप (र) में भी मूर्धन्यता आजावेगी। Straight [stre:t] 'स्ट्रेट' के उच्चारण में मुझको स्पष्टतः यह अनुभव होता है, कि अन्तिम [ट्—t] का मूर्धन्य उच्चारण करने के लिये जीभ की नोक उलटकर कुछ पीछे को हटती है।

यही वर्त्स्य [t — ट्] जब पश्च स्वरों अथवा कंठ्य व्यंजनों के साथ आता है, तो उसकी ध्वनि स्पष्टतः मूर्धन्य हो जाती है—जैसे :

आँग्ल शब्द			हिन्दी रूप
doctor	[dɔktə]	डाक्टर	[dāktar]
coat	[kout]	कोट	[kot]
Inspector	[inspektə]	इन्सपेक्टर	[inspektar]

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की यह है, कि आज से एक शताब्दी पूर्व कुछ अंग्रेज व्यक्तियों के नामों में [t—ट्] के स्थान पर [त्] का प्रयोग हुआ है। ऐसा सम्भव हो सकता है, कि उनको [ट्] ध्वनि [त] सुनाई दी और वैसा ही उन्होंने रूपान्तर किया। ये बात हिन्दी व नागरी लिपि तक ही सीमित नहीं है, वरन् उर्दू और फारसी लिपि में भी लिखित नामों में दृष्टिगोचर होती है।

---

१. यह पँक्ति डा० चटर्जी जी के वार्तालाप से ली गई है।

२. Kittel's—Kannada Eng Dictionary पृष्ठ ६६८—६६९

ग़ालिब ने १८३० में उर्दू ऐ मौला[1] में स्टर्लिंग (Sterling) के लिए (Istarling) इस्तरलिंग लिखा। लल्लू जी लाल ने प्रेमसागर में Gilchrist महोदय का नाम गिलक्राइस्त लिखा।[2] मीर अम्मन ने अपनी पुस्तक 'बाग़ो बहार' में भी गिलक्राइस्त ही लिखा है।[3] इन सभी नामों में [t⌐ट्] के पूर्व [स्⌐s] ध्वनि है, जो दन्त्य है। इन सभी ने अन्य स्थल पर मूर्धन्य [ट्] का प्रयोग किया है जैसे मीर अम्मन ने बाग़ो बहार में ही Lord Mornington में [ट्] का ही प्रयोग किया है जिसके पूर्व [ग्] ध्वनि है और लल्लू लाल ने डाक्टर (Doctor) का प्रयोग किया है, जिसमें [ट्] से पूर्व [क्] ध्वनि है। इस प्रकार [ट्] का प्रयोग भी उस समय प्रचलित था। उक्त कथन से हमारा यह निष्कर्ष अधिक पुष्ट होता है, कि हमारी दन्त्य व वर्त्स्य ध्वनियों के साथ आने वाला अंग्रेजी वर्त्स्य [t⌐ट्] उतना मूर्धन्य नहीं हो पाता जितना स्वतन्त्र रूप में, पश्चस्वरों व अन्य व्यंजनों के साथ हो जाता है।

अंग्रेजी /d⌐ड्/ ध्वनि ग्राम की प्रधान ध्वनि का उच्चारण अंग्रेजी [t⌐ट्] के समान ही होता है, केवल अन्तर इतना हो जाता है, कि इस ध्वनि [d] के उच्चारण के समय स्वर-यन्त्र में कम्पन रहता है इस प्रकार (d⌐ड्) ध्वनि सघोष है। इसको हम सघोष वर्त्स्य स्फोट व्यंजन कह सकते हैं।

[ट्⌐t] के समान [d] भी हिन्दी में कहीं दन्त्य [द्] और कहीं मूर्धन्य [ड्] हो जाता है।

निम्न शब्दों में [d] के स्थान पर हम [द्] हो गया है:—

	अंग्रेजी		पुर्तगीज	हिन्दी	
१.	guard	[ga:d]	guard	गारद	[gārad̲][4]
				गार्ड	[gārḍ][5]
२.	salad	[sələd]	salada	सलाद	[salād̲]
३.	dozen	[dʌzn]	duzia	दर्जन	[d̲arzan]
४.	Verandah	[Verændə]	Varanda	बरामदा	[baramad̲a][6]

	अंग्रेजी शब्द		हिन्दी शब्द	
५.	London	[lʌndn]	लन्दन	[land̲an]
६.	orderly	[ɔ:dəli]	अर्दली	[ard̲ali]

१. ग़ालिब—'उर्दू ए मौला' १६२१ संस्करण पृष्ठ १११.
२. लल्लू लाल—प्रेम सागर—भूमिका
३. मीर अम्मन—बाग़ो बहार—भूमिका द्वितीय संस्करण १८४६ पृष्ठ ५, ६ व ८.
४. गारद—सैनिकों के लिए प्रयुक्त।
५. गार्ड—रेलवे विभाग में प्रयुक्त।
६. यह विवादास्पद विषय है, कि यह शब्द किस माध्यम से आया पर इतना निश्चित है, कि यह शब्द फ़ारसी का है और इसका प्रयोग योरपीय निवासियों के आगमन के साथ बढ़ा।

अंग्रेजी शब्द		हिन्दी शब्द
७. godown	[goudoun]	गोदाम [godām][1]
८. drill	[dril]	दलेल [dalel][2]

उक्त शब्दों में से प्रथम चार पुर्तगीज के प्रभाव से आये और शेष अंग्रेजी के द्वारा। लन्दन और अर्दली में (न्) और (र्) वर्त्स्य ध्वनियों के प्रभाव से सम्भवत: (द्) होगया। गोदाम शब्द अपवाद है, जिस पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है, कि यह शब्द किसी न किसी रूप में अंग्रेजों व पुर्तगीजों के आगमन के पूर्व भी विद्यमान था।

कहीं कहीं आसन्न ध्वनि के प्रभाव से वर्त्स्य (ड्) भी सुनाई देती है:—

अंग्रेजी		हिन्दी	
drama	[dra:mɔ]	ड्रामा	[drāmā]

वसे सामान्यत: [d ∽ ड्] मूर्धन्य [ड् ∽ d] में परिवर्तित हो जाता है—

Powder	[paudɔ]	पाउडर	[paudar]
down	[daun]	डाउन	[daun]
dinning	[dainiṅ]	डाइनिंग	[dāiniṅg]

कभी कभी [ड् ∽ d] के स्थान पर [ट्] का भी प्रयोग होता है—

अंग्रेजी—	lord	[lɔ:d]	हिन्दी—लाट	[lāt][3]
	lemonade	[leimɔneid]	लेमनेट	[lemnet]
			लेमनेड	[lemned]

उक्त विवेचन के आधार पर हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं:—

हमारी प्रवृत्ति यह रही है, कि हम अंग्रेजी वर्त्स्य स्फोट ध्वनियों [t, d] को अपनी मूर्धन्य ध्वनियों [ट्, ड्] में बदल दें, फिर भी हमारे यहाँ इनके स्थान पर दन्त्य [त्, द्] भी प्राप्त होते हैं, जिसके निम्न कारण हो सकते हैं—

(अ) कुछ पुर्तगीज़ शब्दों का प्रभाव जिसमें वर्त्स्य ध्वनियों का अभाव है और फलस्वरूप हमने दन्त्य ध्वनियों को ही ग्रहण किया।

(ब) समीपवर्ती ध्वनियों विशेषत: [स्] [न्] [ल्] व [र्] जो हिन्दी में दन्त्य व वर्त्स्य हैं के प्रभाव के कारण दन्त्य [त्, द्] का उच्चारण व प्रयोग।

(स) जिन नामों को प्रारम्भ में हमने अंग्रेजी से भाषण के माध्यम से सुनकर प्राप्त

---

१. यह शब्द भी विवादास्पद है, पर इतना निश्चित है, कि इसका प्रचार हिन्दी क्षेत्र में अंग्रेजी राज्य काल में ही बढ़ा।

२. यह लोक निरुक्ति (folk etymology) के आधार पर बन गया। दंड के अर्थ में ग्रहीत है।

३. 'लॉर्ड' का 'लाट' जो जनता में बहुत अधिक प्रचलित है, सम्भवत: महानता व ऊँचाई के अर्थ में पूर्व प्रचलित 'लाट' से प्रभावित हो।

किया, उनमें निकटवर्ती ध्वनि के प्रभाव से [त्] [द्] कर दिया गया। यही कारण है कि Gilchrist महोदय के नाम में प्रयुक्त [t] को हिन्दी भाषा भाषी लल्लू लाल और उर्दू भाषा भाषी मीर अम्मन दोनों ने ही दन्त्य [त्] के रूप में ही ग्रहण किया।

(द) कुछ शब्दों में लोक निरुक्ति (folk etymology) के आधार पर दन्त्य (त्) व (द्) का प्रवेश हो गया।

श्री वी० सी० बालकृष्णन

तुंचत्तु श्री रामानुजन् एलुत्तच्छन्*

केरल के प्राचीन कवियों में एलुत्तच्छन की तरह सार्वजनीन समादर और कालातीत प्रतिष्ठा दूसरे किसी कवि को नहीं मिली है। केरल के साहित्य में ही नहीं बल्कि केरलवासियों के आध्यात्मिक और सांस्कारिक जीवन में भी उन्होंने जो प्रभाव डाला। वह हम आज भी देख सकते हैं।

ग्यारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक भारत में आसेतु हिमाचल विविध धर्मों के प्रचार का आन्दोलन होता रहा। उस आन्दोलन का प्रभाव भारत के विभिन्न प्रदेशों के साहित्य में भी दिखायी देता है। हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न आचारों और विश्वासों की संकीर्णता से जटिल था। ईश्वर के अलग अलग नामों पर हिन्दू धर्म के अनुयायी आपस में लड़ने लगे। शैव और वैष्णवों में मन-मुटाव था। हिन्दू धर्म के इस तरह दुर्बल हो जाने पर इस्लाम और ईसाई धर्मों का यहाँ प्रचुर प्रचार हुआ।

बारहवीं सदी में किसी तरह हिन्दू-धर्म अपनी निद्रा से जाग उठा और भक्ति की लहरों से सारा भारत तरंगित हो गया। इस बार प्राबल्य विष्णु भक्ति को मिला।

अवधी में तुलसीदास का 'रामचरितमानस' कबीरदास की कृतियाँ, ब्रजभाषा में सूरदास का 'सूर-सागर,' कन्नड़ भाषा में कुमार व्यास का 'गडगिन भारत' और कुमार वाल्मीकि की 'तोरवे रामायण,' तमिल में 'कम्परामायण' मलयाल भाषा में एलुत्तच्छन की 'अध्यात्मरामायण,' 'महाभारत,' 'महा भागवत' आदि रचनायें इस समय विष्णु भक्ति का कैसा पुनरुद्धार हुआ यह उसका प्रमाण है। इसी नवोत्थान की माला में एक प्रमुख दाना था श्री रामानुजन् एलुत्तच्छन्।

यह ठीक नहीं बताया जा सकता कि उनका जीवन काल कब था और माता-पिता कौन थे। पंडितों की राय में उनका जीवनकाल सन् सोलह सौ से सत्रह सौ के बीच में था। उनका जन्म और माता-पिता के बारे में कई कथायें प्रचलित हैं। आशा है कि गवेषकों का यत्न इन बातों पर प्रकाश डालेगा। काल और माता-पिता के बारे में हमें विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता, तो भी जन्मदेश के बारे में हमें सन्देह नहीं।

* eluttacchan एलुत्तच्छन्—अक्षरों के पिता eḻuttu—विद्या, acchan—पिता

आपकी अनुवाद शैली का यह उदाहरण देखिये—सीता स्वयंवर के प्रसंग में शैव चाप-भंजन मूलग्रन्थ में इस तरह वर्णित है : "घण्डा सहस्रमणिवस्त्रादि भूषित शैवचाप, सभा में लाया हुआ देखकर राम प्रहृष्टमानस हुए। उन्होंने दक्षिण हस्त से चाप को उठाया और आसानी से तोड़ डाला।"

अनुवाद में एलुत्तच्छन ने राम को इतना उद्दण्ड नहीं बनाया। राम चाप देखकर भक्ति से बद्धांजलि हो गये। विश्वामित्र का मुख देखकर चाप में डोरी बाँधन की अनुमति मांगी।

"एल्लामाकुन्नतु चेटतालुं मडिक्केण्ड"[1]
कल्याणमितुमूलं वन्नु कूडीडुमल्लो।

विश्वामित्र की अनुमति पाकर—

"मन्दहासवुं पूण्डु राघवननूकेट्टु
मन्दंमन्दं पोय् चेन्नुनिन्नु कण्डितु चापं
ज्वलिच्च तेजस्सोडु मेडुत्तु वेगत्तोडे
कुलच्चु वलिच्चुडन मुरिच्चु जितश्रमं"

[अर्थ :—मुस्कुराते हुए राम मन्दपदविन्यास हो चाप के सामने पहुँचे और चाप को अच्छी तरह देखा। उज्वलित तेज के साथ चाप को लेकर वेग से ज्या बंधन किया और अनायास तोड़ दिया]

मूलग्रन्थ के अनुसार चाप के टूटने पर सीता जयमाला लेकर सभामण्डप में आई और राम के कण्ठ में माला डाली। निर्विकार भाव से इतना कहकर कवि स्वयंवर के वर्णन में संलग्न हो जाता है। अनुवाद में एलुत्तच्छन इस अवसर को मूल कवि की तरह निर्विकार होकर नहीं देख सकते। उनके वाक्यों में चाप के टूटते ही—

"इडि वेट्टीडुंवण्णम विल मुरिञ्ञोच्च केट्टु
नडुङ्ङी राजाक्कन्मारुरगंङलेपोले
मैथिलि मयिलघेड पोले संतोषं पूण्डाल"

[अर्थ :—मेघ गर्जन के समान चाप के टूटने का भयंकर शब्द सुनकर सभासद राजा लोग सर्पों के समान काँप उठे। मगर मोरनी (सीता) कब इससे भयभीत हो सकती थी ? उलटे उसके दिल की कली खिल उठी]

स्वयंवर मंडप में आने वाली सीतादेवी—

"स्वर्णमालयुं धरिच्चादराल मन्दंमन्द-
मर्णोजनेत्रन मुन्पिल सत्रपं विनीतयाय्
वन्नुडन नेत्रोत्पलमालयुमिट्टीडिनाल
पिन्नाले वरणार्थमालयुमिट्टीडिनाल।।"

---

१ अपनी ताकत भर कर लो। इस से कल्याण होगा (मलयाल में 'कल्याण' शब्द मंगल तथा विवाह दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है)

मलयाल भाषा और साहित्य की ओर आकर्षित किया जाय । आशा है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के द्वारा केवल मलयालम् की ही नहीं बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठता समझी जा सकेगी ।

पहले दो अनुच्छेदों का मूल नागरीलिपि में

केरलत्तिले[1] प्राचीन कविकलिल् एलु[8] त्तच्छने[6] प्पोले[1] सार्वजनीनमाय समादरवु कालातीतमाय प्रतिष्टयु वेरे ओ[7]रु कविक्कुं लभिच्चिट्टिल्लि, केरलीय साहित्यत्तिल् मात्रमल्ल केरलवासिकलुडे[2] आध्यात्मिकवु सांस्कारिकवुमाय जीवितत्तिलु अद्देहं अन्नु प्रसरिप्पिच्च चैतन्यं इन्नु नमुक्कु काणान् कलि[3]युं ।

पतिनोन्नां शतकं मुतल् पतिनेलां[3] शतकं वरे[4] भारतत्तिल् विविधि मतंकलुडे[2] प्रचरणकोलाहलं नडन्नुकोण्डिकन्न कालमायिकन्नु हिमालयं मुतल कन्याकुमारि वरे[4] व्यापिच्च आ मतप्रचरण कोलाहलत्तिन्टे प्रभावं भारतत्तिले[1] विभिन्न प्रदेशङ्ङलिले[1] साहित्यत्तिलुं काणान कलि[3]युं । हिन्दुमतं भिन्नंकलाय आचारंकलुडे[3]युं विश्वासंकलुडेयुं संकीर्णतकोण्डु जटिलमायिकन्नु । ईश्वरन्टे वेरे वेरे पेरुकले[1] आधारमाक्किक्कोण्डु हिन्दुमतानुयायिकल तम्मिलडिक्कान् तुडंङि्ङ । शैवन्मारुं वैष्णवन्मारुं शत्रुक्कलायि मारि[5] इंङङ्ङने हिन्दुमतं दुर्बलमायित्तीर्न्नतोडुकूडि इस्लां मतत्तिनुं क्रिस्तुमतत्तिनुं इविडे[2] प्रचुरप्रचारमुण्डायि

१. ले —le (interatinonal Script)
२. डे —te („)
३. ळे —l („)
४. रे —r'e („)
५. रि—ri („)
६. ने —ne („)
७. ओ —o („)
८. लु —lu („)

NB. [˘] यह चिह्न ह्रस्व [e] प्रकट करता है ।

श्री कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय

खुम्माण रासो

दलपति विजय कृत खुम्माण रासा की हस्तलिखित एक खण्डित प्रति ओरिन्टल भण्डारकर रिसर्च इंस्टिटयूट पूना के प्राप्त हुई है जिसमें १३६ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र के दोनों पार्श्वों पर लिखा हुआ है। पत्र की लम्बाई व चौड़ाई १०½″ × ४½″ है। प्रत्येक पत्र में १५–१५ पंक्तियां हैं। एवं प्रत्येक पंक्ति में प्रायः ४२–४२ अक्षर हैं। पुस्तक माधोपुरी कागज पर लिखी गई है जो मेवाड़ का एक विशेष ढंग का कागज है और जो आज से कुछ वर्षों पूर्व तक प्रायः सभी लेखन कार्यों में प्रयुक्त होता था। पत्र के दोनों ओर एक एक इंच का हासिया छोड़ा गया है और प्रत्येक के मध्य भाग में १½″ × २″ का रिक्त स्थान छोड़ा गया है जिसमें प्रायः कुछ कलात्मक चित्र बने हुए हैं। पुस्तक काली स्याही से लिखी गई है और छन्दों की संख्या लाल स्याही में दी हुई है। प्रत्येक पत्र के दूसरे पार्श्व के प्रथम कोने पर 'षुमांण राश' और नीचे पत्र संख्या लिखी हुई है। अन्तिम कोने पर एक चित्र के भीतर पत्र-संख्या फिर से दी हुई है यह पुस्तक भण्डारकर इंस्टिटयूट पूना में नं० २५८ पर सन् ए १८८२-८३ (No. 258/A 1882-83) में पंजीकृत हो चुकी है। इसके ५०,५७,६६ तथा ७८वें पत्र सचित्र हैं। पत्र १३५ में का प्रथम पार्श्व संभवतः हल्दीघाटी का चित्र खींचने के लिये रिक्त छोड़ा गया है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ बाप्पा रावल से होता है। इसमें आठ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में १६ पत्र तथा ५०७ छन्द है और बाप्पा रावल का इतिहास दिया हुआ है। बाप्पा के राज्यसिंहासनारोहण का सम्बत भी दिया हुआ है।

संवत चार एकांणवे। एक लिंग अंद्राज।
वर दीधा बापा वदें। सगत किये सुरगाव ॥४२०
शुक्ल पक्ष बैशाष सुध। पंचमी पुष्य नषत्त।
श्री गुरु वासर चित्रगढ़। बैंठौ बप्प तषत्त ॥४३१

द्वितीय खण्ड पत्र ३२ पर समाप्त हुआ है और छन्द संख्या ८६७ पहुँची है। इस खण्ड में चित्तौड़ के रावल करण के पुत्र खुम्माण का चरित्र आया है जिसमें उसका विवाह

दिल्ली के तोमर बंशी राजा जयसिंह की पुत्री रति सुन्दरी से हुआ है । रावल करण ने क प्रासाद का निर्माण कराया है जिसका सम्वत तो नहीं दिया है किन्तु महीना तिथि आदि सब दी हैं ।

माहा सुद तिथ तेरसी । नीम रची गुरू वार ।
सूरज सशी तुल राशी बहू । सिद्ध जोग सीकार ।।५३५

ज्योतिष की गणना के संभवतः इसका सम्वत भी निकल सकता है । तृतीय खण्ड पत्र ६० पर समाप्त हुआ है और छन्द संख्या १५५६ पहुँची है । इस खण्ड में खुम्माण रतिसुन्दरी से अप्रसन्न होकर नलवरगढ़ पहुँचता है और वहां तिलोत्तमा से मिलाप होता है और वह उसके रति संभोग में अवलिप्त हो जाता है । चतुर्थ खण्ड पत्र ८२ व छंन्द संख्या २१११ पर समाप्त होता है । इसमें खुम्माण रतिसुन्दरी का विरह-सन्देश पक्षी द्वारा प्राप्त कर चित्तौड़ लौटता है किन्तु अपने साथ नलवरगढ़ के वेश्य मंत्री की पुत्रबधू को ले आता है जिसके परिणाम स्वरूप उसका पति प्रथम तो चित्तौड़ के रावल करण के पास न्यायार्थ उपस्थित होता है । किन्तु स्वाभिमानी खुम्माण के अस्वीकार करने पर वह निराश होकर गजनी पहुँचता है और गजनीपति महमूद पातशाह को अपना आर्त्तनाद सुना कर अपनी सहायता के लिये उसे चित्तौड़ पर ले आता है । अन्त में घोर युद्ध होता है जिसमें महमूद शाह बन्दी होता है । पंचम खंड पत्र ६४ तथा छन्द संख्या २४२१ पर समाप्त होता है । इसमें खुम्माण के वंशज राहप समरसिंह आदि का चरित्र आया है । समरसिंह के चरित्र पर पृथ्वीराज रासो की छाप है । षष्ठ खण्ड पत्र ११३ तथा छन्द संख्या २८६२ पर समाप्त हुआ है । इस खण्ड में रतनसेन, पद्मिनी व गोरा बादल का चरित्र आया है जिसमें स्पष्टतः मलिक मोहम्मद जायसी के पद्मावत की छाया विद्यमान है । सप्तम खण्ड पत्र १२६ तथा छन्द संख्या ३२५१ पर समाप्त हुआ है जिसमें महाराणा हमीर से लेकर महाराणा सांगा तक का मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास वर्णित हुआ है । अष्टम खण्ड खण्डित है । यह पत्र १३६ तथा छन्द संख्या ३५७५ तक पहुँचा है । छन्द ३५७६ वां आधा है । इसमें महाराणा राजसिंह के राज समुद बाँध तक का इतिहास वर्णित है ।

ग्रन्थकार का नाम दलपति विजय तथा दौलत विजय दिया हुआ है । कवि ने सर्व प्रथम हिमतविजय को नमस्कार किया है जो अनुमानतः उसका गुरु या काव्य गुरु हो सकता है । द्वितीय खण्ड की समाप्ति में ग्रन्थकार की गुरु परम्परा दी हुई है ऐसा प्रतीत होता है कि दलपति विजय तपगछव्रती साधु था और उसकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी हुई है ।

तपगछ गिरू आगणधार । सुमति साधू पंसें सुषकार ।
पंडित पदम विजें गुरुराय । पटोहय गिरी खी कहवाय ।
जयबुध शान्ति विजयनो शीश । जंपे दोलत मनह जगीश ।

दलपति विजय ने अपनी माता का नाम कमला दिया है । निस्सन्देह उपर्युक्त गुरु परम्परा कवि के जीवन काल पर प्रकाश डालती है । ग्रन्थकार के विषय में इससे अधिक पता नहीं चलता है । कवि को भाषा से विदित होता है कि उस पर ढूंढाड़ी भाषा का प्रभाव है ।

संभवतः वह बाल्य काल में ढूँढ़ाड़ प्रान्त में रहा हो अथवा उसकी माता ढूँढाड़ प्रान्त की रही हो। ढूँढाड़ प्रान्त से उसका सम्पर्क अवश्य प्रतीत होता है। कवि का निवास स्थान मेवाड़ देश ही पाया जाता है और ऐसा अनुमान होता है कि जन्म से वह किसी चारण या भाट वंश में रहा हो और बाद में यती साधु हो गया हो क्योंकि उसकी काव्यशैली चारणों या रावों जैसी है। उसके काव्य वर्णनों में भी वही विशेषता विद्यमान है। किसी कारणवश वह तपगच्छ यतियों का शिष्य हो गया हो। कुछ भी हो यह तो निश्चय है कि उसने मेदपाट देश में ही बैठ कर यह ग्रन्थ लिखा है--

भाषा, छन्द और शैली--

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्य रासो ग्रन्थ देखे हैं। अतः प्रत्येक खण्ड के आरंभ में उन्होंने 'गाहा' छन्द का प्रयोग किया है जो प्राकृत भाषा का एक छन्द विशेष है और वीरगाथ काला के काव्यों में भी प्रयुक्त हुआ है। इस छन्द की भाषा पर भी प्राकृत का प्रभाव है जिससे सहसा यह भ्रान्ति हो जाती है कि यह कवि बारहवीं शताब्दी के आसपास ही हो। किन्तु कवि ने इस गाहा छन्द और प्राकृत भाषा का तो केवल रासो की परम्परा निर्वाह हेतु थोड़ा सा प्रयोग किया है। ग्रन्थ अधिकांश दोहे और चौपाइयों में लिखा गया है जिसकी भाषा मेवाड़ी है। हिन्दी के विद्वानों की अभी तक यह धारणा बनी हुई है कि मेवाड़ी केवल बोली है और उसका कोई साहित्य नहीं है किन्तु खुम्माण रासो इस धारणा का खण्डन करता है। उसमें प्रधानतः मेवाड़ी भाषा ही प्रयुक्त हुई है। और वह भी सतरहवीं और अठारहवीं शताब्दी की भाषा प्रतीत होती है। उसे ब्रजभाषा मानना भाषा-ज्ञान की अनभिज्ञता प्रकट करना है। उसी प्रकार यह धारणा भी निराधार है कि खुम्माण रासो एक कवि या काल विशेष की रचना न होकर कई कवियों तथा भिन्न भिन्न समय की रचना है। ग्रन्थ के आरंभ में ही दोहे और चौपाइयों में प्रयुक्त भाषा का नमूना देखिये—

प्रगट्यो श्री पंजर धारे। बापो नृप बलवन्त।
ग्रहे तेग चितोड़ गढ़। साबल छल सामन्त।
मष्ठ करें सदू मोरियां। चढ़ीयो गढ़ चीतोड़।
अवनी आंणी आप घर। महीपतीयां रो मोड।
असुरें लोधो गढ़ गाजणो। छूटो गढ़ गहि लोनां तणो।
सुदृड संग्राम आया कांम। बीन बहोड बड रहीया नांम।

ग्रन्थ की समाप्ति की भाषा भी देखिये—

जगपति रे दरबार। परेवा कांइ न हूआ।
कण चुणता कोठार। पीछोलें पाणी पीयां।
चोथी चीतोडाह। वांटो बानंती तणो।
मोपें आहाडाह। कमल तुंम्हारे करणौत।
कागल लिखियो कांमनी। तेड्यो बांभण एक।
रांणा श्री रांजड भणी। दे कागल सुविवेक।

मेद पाट घर आलिम बड़े । चोज करीने आयो चढ़े ।
षत्रर हूई पातल रांणा । रोस चढ्यो बोधो जमरांण ।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों उदाहरणों की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अतः यह एक ही कवि की भाषा प्रतीत होती है। ग्रन्थ में कवित्त सवैया और चारण गीत का भी प्रयोग हुआ है। वैसे तो काव्य में कई अलंकार प्रयुक्त हुए हैं और उनका प्रयोग बड़ा ही सरस हुआ है किन्तु कवि पर वयण सगाई का आग्रह अधिक है जो राजस्थानी डिंगल कविता का मुख्य स्तंभ है।

ग्रन्थ का सामान्य परिचय--

यद्यपि ग्रन्थ का नाम करण चित्तौड़ के रावल खुम्माण के नाम से हुआ है तथापि उसमें खुम्माण से पूर्व और पश्चात् का इतिहास दिया हुआ है। इसमें बाप्पा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक का इतिहास आया है। सम्पूर्ण प्रति में तो इससे भी आगे का इतिहास रहा होगा। यदि इसके ऐतिहासिक वर्णनों की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सामान्यतः राजपूतों तथा विशेषतः मेवाड़ के इतिहास की बहुमूल्य सामिग्री प्रस्तुत कर सके विशेषकर बाप्पा रावल से रावल रत्नसिंह तक। किन्तु इसमें इतिहास की अपेक्षा कवित्व अधिक है और वही कवि की अमर कीर्ति का स्तम्भ भी है। यद्यपि कवि स्वयं इसे नवरस विलास ग्रन्थ मानता है तथापि काव्य का मुख्य लक्ष्य शृंगार और युद्ध वर्णन है जैसा कि उसके इस दोहे से प्रतीत होता है और इसी में कवि की वृत्ति अधिक रमी है।

नाती डरी न पलांणिया । अरि सिर षग्ग न भग्ग ।
एैल जमारो ज्यां नरां । गोरी कंठ न लग्ग ।

ग्रन्थ में अधिकांश खुम्माण का वर्णन है और काव्य की सरस सामिग्री भी उसी में प्रस्तुत हुई है। इतिहास की तो उसमें कोरी रेखाएँ हैं। कवि ने अपनी कल्पना तूलिका द्वारा अद्भुत काव्य रंग भर कर वास्तव में नवरसविलास की रसात्मकता प्रस्तुत की है। कवि के अन्य वर्णनों में भी शृंगार और युद्ध वर्णन की शैली अभिलक्षित हो रही है। कवि ने उन्हीं ऐतिहासिक स्थलों को चुना है जिनमें येन केन प्रकारेण स्त्री प्रसंग आजाता है, यहाँ तक कि सांगा, बाबर और प्रताप अकबर के सुप्रसिद्ध युद्धों के मूल में भी स्त्री प्रसंग जुड़ा हुआ है। प्रताप और अकबर के युद्ध का कारण यह बताया गया है कि जयपुर के कछवाह राजा मानसिंह की बहिन का विवाह महाराणा प्रताप के साथ हुआ था और प्रताप उसके साथ दुर्व्यवहार करता था। इस पर दुखी होकर उसने अपने भाई मानसिंह से अपने त्राण की याचना की। परिणाम स्वरूप हल्दीघाटी का युद्ध हुआ। किन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों की अप्राप्ति में इसे केवल कवि कल्पना ही मानना होगा। युद्ध तो मेवाड़ के महाराणाओं का जीवन ही रहा है। अतः खुम्माण रासो मेवाड़ के महाराणाओं का वंश वर्णन भी है और खुम्माण रावल के नाम से काव्य ग्रन्थ भी। खुम्माण रासो में खुम्माण के पूर्ववर्ती और परवर्ती राजाओं का वर्णन यह भ्रान्ति उत्पन्न करता है कि संभवतः खुम्माण विषयक रचना दलपति विजय की रही हो और उसके पूर्व तथा पश्चात् का भाग क्षेपक या अन्य

कवियों द्वारा जोड़ा गया हो किन्तु यह भ्रान्ति निराधार है। मेवाड़ के महाराणा खुम्माण के वंशधर होने से खुम्माण कहलाते ही हैं। अत: खुम्माण रासो या खुम्माण चरित्र में उनका वर्णन होना अस्वाभाविक नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि वर्णन की क्रमिकता का कहीं भी भंग नहीं है। क्या भाषा की दृष्टि से और क्या वर्णन शैली की दृष्टि से खुम्माण रासो में एक ही कवि प्रतिभा का सर्वत्र आभास पाया जाता है। अत: खुम्माण रासो एक ही कवि की रचना होने में सन्देह नहीं है।

ग्रन्थ का रचनाकाल---

ग्रन्थ की अप्राप्यता के कारण हिन्दी के विद्वानों में इसके रचनाकाल के विषय म भ्रम रहा है। काल और नामकरण के अनुसार यह हिन्दी का आदि काव्य माना जाता है। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे विक्रम की नवीं दसवीं शताब्दी का ग्रन्थ माना है। स्वर्गीय ओझा जी को कहीं इसकी प्रति देखने को मिल गई थी और उसके विषय में एक क्षीण धारणा बन गई थी। उसी के आधार पर वे उसे सोलहवीं व सत्रहवीं शताब्दी का कवि मानते हैं। श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी ओझा जी के स्वर में अपना स्वर मिला कर उसे सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी का ही कवि माना है। किन्तु ग्रन्थ का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस खण्डित प्रति में भी महाराणा राजसिंह के राजसमुद्र बाँध तक का इतिहास आजाता है। इसके आने का अंश अप्राप्य है। न जानें कितना अंश खण्डित होगया है किन्तु ग्रन्थकर्त्ता ने बापा के सामन्तों में उमरावों की संख्या सोलह बताई है।

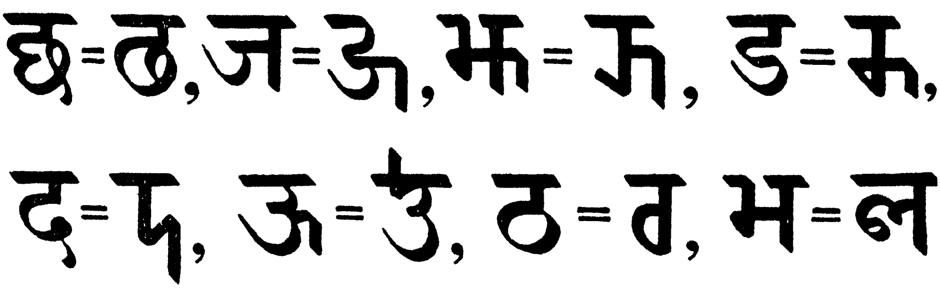
सझि चढ़िया सोलै सामन्त। अउठ कोड दर्भो बलवंत।

मेवाड़ में दो श्रेणियों के उमराव हैं---सोलह और बत्तीस। प्रथम श्रेणी के उमराव सोलह उमराव कहलाते हैं और द्वितीय श्रेणी के बत्तीस। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के समय में इनकी उपर्युक्त श्रेणियाँ नियत हुई थीं। अमरसिंह द्वितीय महाराणा राजसिंह के पौत्र थे और उनका राजत्व-काल १७५०--१७६५ ई० है। अत: कवि महाराणा अमरसिंह का समकालीन ठहरता है। इस प्रकार ग्रन्थ का रचना-काल अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। मेवाड़ के एक आश्रित कवि दयालदास का लिखा हुआ राणा रासो भी महाराणा राजसिंह के समय का लिखा हुआ है। संभवत: इसी से प्रेरणा पाकर दलपति विजय ने खुम्माणा रासो की रचना की हो। खुम्माणा रासो में महाराणा प्रताप के भाई शक्तिसिंह के वंशधरों की वीरता का भी खूब वर्णन किया गया है। महाराणा अमरसिंह प्रथम के समय में शक्तावतों और चुण्डावतों में हरावल के प्रश्न पर प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी थी। उसका उग्ररूप उठगला के युद्ध में प्रतिलक्षित हुआ था। इससे भी कवि का सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् ही होना सिद्ध होता है। खुम्माण रासो में महाराणा प्रताप से लेकर महाराणा राजसिंह के समय तक की बहुत सी घटनाएँ एतिहास विरुद्ध मिलती हैं। इस से भी सिद्ध होता है कि कवि इस समय में नहीं हुआ वरना कम से कम अपने समय के इतिहास में तो इतनी अप्रामाणिकता नहीं आती।

ग्रन्थ की लिपि

ग्रन्थ में लिपिकार का नाम हेतु विजय दिया हुआ है जो उसका शिष्य या गुरु भाई प्रतीत होता है। यह हेतु विजय कब हुआ इसका ज्ञान तपगद्द कुल के यतियों द्वारा प्राप्त

हो सकता है तथापि यह निश्चित है कि कहीं कहीं पर यह ग्रन्थ वर्तमान देवनागरी लिपि के पूर्व रूप में लिखा गया है । उदाहरणार्थ इसके कतिपय प्रयुक्त वर्ण इस प्रकार हैं :—



ख तो नियमतः मूर्धन्य ष ही लिखा गया है जो राजस्थानी वर्णमाला की विशेषता है। कहीं कहीं मात्राएँ भी विचित्र प्रकार से लगाई गई हैं। जैसे—कइल पुरइ रा ।जा।द वाडा = केल पुरे राजो देवड़ो। ए की मात्रा के लिए स्वतंत्र इ का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार ओ की मात्रा के लिए स्वतंत्र उ स्वर का प्रयोग भी पाया जाता है। ए और ओ की मात्रा भी भिन्न प्रकार से लगाई गयी है। देखिए उपर्युक्त प्रयुक्त पद में–रा। जाद वाड।। ए की मात्रा वर्ण के पीछे आ की मात्रा लगा कर सूचित की है जो परि मात्राएँ कहलाती हैं और जो बंगला लिपि में भी पायी जाती हैं। इ ई और उ ऊ का कोई अन्तर नहीं है और अनुस्वार दीर्घ ई की मात्रा के पीछे लगाई गई है। जैसे–हीदवारम । ग्रन्थ में 'ड़' का प्रयोग कहीं नहीं पाया जाता है। उसके स्थान पर सदैव 'ड' ही प्रयुक्त हुआ है। उसी प्रकार द के नीचे कहीं भी बिन्दुका नहीं लगायी गयी है। भ न और ण के उच्चारण सानुनासिक होने से उनके पूर्व वर्णों पर अनुस्वार लगायी गयी हैं जो मेवाड़ी लिपि की विशेषता है। जसे–श्रीरांमजी बांण, कांनड। उ की मात्रा वर्ण के नीचे नहीं लगाकर वर्ण के आगे लगायी गयी है। जैसे :—जहार, मक्हार। अनुस्वार के लिए सदैव वर्ण के ऊपर बिन्दुका लगायी गयी है। उसके स्थान पर पंचम वर्ण का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। उपर्युक्त विशेषताएँ इस बात के सबल प्रमाण हैं कि खुम्माण रासो मेवाड़ी या राजस्थानी भाषा का ही ग्रन्थ नहीं है अपितु मेवाड़ी लिपि में भी लिखा गया है।

ग्रन्थकार की बहुज्ञता—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि ग्रन्थकार में अद्‌भुत कवि प्रतिभा के दर्शन होते हैं। काव्य शास्त्र का उसे पर्याप्त ज्ञान हैं। शृंगार रस के अन्तर्गत उसने केवल संभोग और विप्रलंभ नामक दोनों पक्षों पर ही रचना नहीं की है किन्तु संयोग के अन्तर्गत 'ऋतु विलास' तथा वियोग में बारह मासा से मिलता जुलता वर्णन उसकी काव्य शास्त्रविज्ञता का पूर्ण परिचायक है। कवि को शालि होम का ज्ञान भी बहुत है। उसने अश्वों की भिन्न भिन्न जातियां गिनाई है।

साथ ही में उसके भँवरी आदि शुभाशुभ लक्षणों का फलादेश भी बताया है। शस्त्रों के भी अनेक नाम बताये गये हैं। युद्ध वर्णनों में वीभत्स दृश्य का समावेश उसके रस-ज्ञान का सूचक है। साहित्याचार्यों ने रौद्र, भयानक वीभत्स आदि रसो को वीररस के अंग तथा

सहायक रस बताये हैं। किसी प्रसंग के साथ कवि कल्पना द्वारा अद्भुत अंश की योजना करने से काव्य की रसात्मकता में अभिवृद्धि हुई है। यह कवि की नवोद्भावना शीलता का परिचायक है। कवि को ज्योतिष शास्त्र का भी ज्ञान प्रतीत होता है। उसे प्राकृत राजस्थानी एवं मेवाड़ी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। संस्कृत श्लोकों की योजना से काव्य स्वरूप की विविधता ही प्रकट नहीं होती है अपितु संस्कृत की अपिज्ञता भी सूचित करती है। काव्यगत भावों की सचित्र अभिव्यंजना उसके चित्रकलानुराग को व्यंजित करती है। उसी प्रकार रागसिन्धु के उदाहरण में प्रयुक्त टेर–"चीतोडि राजारे, मेवाडि रांणा रे, थांरी बेटी नें मांगे अकबर लाडलो रे।" कवि के संगीत शास्त्र-ज्ञान की सूचक है। अतः उसे काव्य, संगीत चित्र आदि कला का पूर्ण ज्ञान था।

काव्य गत भावों को चित्र द्वारा व्यक्त करने के लिए दलपति विजय ने खुम्माण रासो में चार चित्र प्रस्तुत किये हैं तथा एक के लिए रिक्त स्थान छोड़ दिया गया है। उसकी चित्र कला का परिचय देने के पूर्व प्रसंगवश भारतीय चित्रकला का संक्षिप्त परिचय देना अभीष्ट प्रतीत होता है। भारतीय कला के विकास में चित्रकला की परम्परा बहुत प्राचीन है। इतिहास की सीमा में इसे नहीं बांधा जा सकता। मानव की सामूहिक रसोपलब्धि के कारण भिन्न-भिन्न कला का विकास हुआ जिस में चित्रकला ने भी उल्लेखनीय गौरव प्राप्त किया। चित्र रसानुभूति का प्रतीक होने के कारण भारतीय जनजीवन में इतना प्रविष्ट हुआ है कि यह उसका एक अभिन्न अंग बनगया। चित्रकला की अभिवृद्धि इतनी हुई कि सामान्य गृहों में भी आँगन, भित्ति या छत पर चित्रों की अवतारणा होने लगी। यह प्रथा यहाँ तक बढ़ी कि चित्र शून्य भित्ति या द्वारतोरण अपशकुन जनक माना जाने लगा। सामाजिक प्रथाओं का प्रभाव सब विषयों पर पड़ने लगा। कला कृतियाँ जनमानस की सामूहिक अभिव्यक्ति होने के कारण कैसे बच सकती है? टेढ़ी-मेढ़ी और सापेक्षतः भद्दी रेखाएँ विक्रम सम्वत् के प्रचलन के साथ-साथ परिष्कृत कला-कृतियों का रूप धारण करने लगीं। उस समय आभ्यन्तरिक भावों को किसी प्रकार तूलिका द्वारा अभिव्यक्त कर देना ही पर्याप्त नहीं माना जाता था किन्तु अधिकाधिक आनन्दोपलब्धि के उद्देश्य से उसे यथासंभव सुन्दर बनाने की भी तीव्र भावना अभिव्यक्त होने लगी। यही कारण है कि प्रागैतिहासिक कालीन चित्रों की अपेक्षा उत्तर कालीन भीति चित्रों की परम्परा अधिक उज्ज्वल और उत्प्रेरक रही है। दसवीं शताब्दी के उपरान्त सामाजिक संघर्ष बढ़ जाने के कारण सामूहिक आनन्द व्यक्ति की ओर मुड़ा। परिणाम स्वरूप सम्पन्न व्यक्तियों के प्रोत्साहन से प्राचीन भीतिचित्र परम्परा ग्रन्थस्थ चित्रों के रूप में अवतरित होने लगी। भारतीय कला का विकास मुख्यतः धर्म के आधार पर हुआ है। अतः धार्मिक कहानियाँ व महान पुरुषों के जीवन के विशिष्ट प्रसंगों को लोकोपभोग्य बनाने के लिए ग्रन्थों में लघुतम या प्रतिमा चित्रों का निर्माण हुआ। यही कारण है कि शताधिक प्राचीन तम ग्रन्थ चित्रित उपलब्ध हुए हैं जिनका कला की दृष्टि से जितना महत्व है उससे कहीं अधिक तात्कालिक वेशभूषा, निर्माण कला तथा अन्य समाज विज्ञान की विकासात्मक परम्पराओं का महत्व भी तथा कथित चित्रों में परिलक्षित होता है। विषयान्तर होने के भय से हम इसे यहीं छोड़ना चाहते हैं।

भावों की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकारों से होती है। उनमें चित्र एक ऐसा प्रकार है कि लिपि से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति भी सौंदर्यानुभूति नेत्रों द्वारा कर सकता है। भारतीय

साहित्यिक सृजनात्मक परम्पराओं में रासो संज्ञक जितनी भी कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं उनमें ऐतिहासिक कहे जाने वाले सचित्र रासो की प्रतियाँ अत्यल्प संख्या में उपलब्ध हैं। खुम्माण रासो जिस का सूक्ष्म परिचय उपर्युक्त पंक्तियों में हो चुका है, सौभाग्य से चार चित्रों से सज्जित है। यद्यपि प्रत्यन्तरगत चित्र कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण नहीं हैं तथापि भावाभिव्यक्ति के माध्यम होने से इनका अपना विशिष्ट महत्व है। सक्षम कलाकार ने इन चित्रों में मेदपाटदेशीय तात्कालिक शिल्प शैली, वस्त्राभूषण एवं कृत्य कला पर विशेष ध्यान दिया प्रतीत होता है। विज्ञजनों की सुविधा के लिए चारों चित्रों का परिचय पृथक-पृथक दिया जाता है।

१. प्रथम चित्र पत्र ५० पर अंकित है जिसकी आकृति ४½" × ४" है। इसमें आसमानी, श्वेत, पीत रक्तिम तथा श्याम रंग प्रयुक्त हुए हैं। यह चित्र एकान्त-प्रणय का भव्य प्रतीक जान पड़ता है। आसमानी पृष्ठ भूमि, चन्द्रोदय तारे और दीपक नैश प्रणय की अनुकूलता पर मोहर छाप अंकित कर देते हैं। लघुतम मंचस्थ दम्पति युगल की आकृति में पुरुष का पौरुष स्वभावत: दीपित हो रहा है। पुरुष की जंघा पर बैठी हुई कृशोदरी मर्यादित आलिंगन प्रणय की स्थिति में एकान्त रति-केलि का दृश्य उपस्थित करती है जिसका बाँया हाथ पुरुष के स्कन्ध पर पड़ा हुआ है। पति वस्त्र से सुसज्जित पुरुष का व्यक्तित्व साधारण व्यक्ति का न होकर मेवाड़ के महाराणा का ही प्रतीक जान पड़ता है। चित्र राजपूती कलम का है। अमरशाही पगड़ी पर कलंगी, मुक्ता जटित पछेवड़ी, कानों में मुक्ता जटित दीर्घकाय मोती, लम्बी मूंछें और कपोलों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई जुल्फें और छोटी दाढ़ी ओर पीत जामा महाराणाओं की वेशभूषा और वस्त्राभरण हैं। तरुणी की वेशभूषा भी साड़ी, लहँगा व चोली पूर्णत: मेवाड़ी है। पुरुष का भालस्थ त्रिपुंड्र तिलक निश्चयत: उसे शिवोपासक सिद्ध करता है। मेवाड़के महाराणा शिवोपासक हैं। आश्चर्य इस बात का है कि भले हो पारस्परिक स्नेह की तीव्र अभिव्यक्ति के कारण दम्पति युगल का अतिनैकट्य इस चित्र में व्यक्त हुआ हो, पर वह इतना मर्यादित है कि इसे व्यंजनात्मक कलावृति कहना उपयुक्त होगा। रात्रि के निविड़ अन्धकार में भी कलाकार ने सामान्य शिल्प कृतियों को भी चमका ही दिया है। चित्रांकित तीन छतरियाँ मेवाड़ की शैलिक कृतियों की ओर संकेत करती हैं। लघुतम कँगूरे भी प्रेक्षणीय हैं। शयनागार में किसी भी प्रकार का अर्थहीन आडम्बर प्रदर्शित नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कवि ने आभ्यन्तरिक स्नेह के सामने कृत्रिम रतिभावोद्दीपक प्रस्तुत नहीं कर स्वाभाविक प्रणय स्नेह का प्रामुख्य प्रकट किया है।

२. दूसरा चित्र पत्र ५७ पर है। यह अनुमानत: २¾" × ३¾" लम्बा और चौड़ा है। यह चित्र उद्यान वाटिका का है। प्रस्तुत चित्र में संभ्रान्त परिवार की तीन नारियां प्रदर्शित हैं जिनमें एक का प्रामुख्य स्पष्टत: झलक रहा है। तीनों ही रमणियों की वेशभूषा, वस्त्राभरण एवं साजसज्जा स्पष्टत: मेवाड़ी ही हैं। उनके वस्त्राभरण इस प्रकार है:— सिर पर रखड़ी, नाक में जड़ाऊ नथ हाथों में वलच और कंकण तथा गले में हार। वेशभूषा साड़ी चोली और लहँगा है जो स्पष्टत: मेवाड़ी हैं। प्रधान रमणी वृक्ष की टहनी को पकड़े हुए खड़ी है

जो आकृति व वेशभूषा से प्रथम चित्र में अंकित रमणी से सादृश्य लिए हुए खुम्माण की रानी ही है। उसका मुखमण्डल आश्चर्य चकित मुद्रा लिए हुए है। पुस्तकान्तर्गत प्रसंग

से पता चलता है कि सखियाँ खुम्माण की विरहिणी रति सुन्दरी को 'भीम बगीचा' नामक बाटिका में खुम्माण के आगमन की सूचना दे रही हैं। उसकी मुखाकृति से ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसके हृदय की आन्तरिक जिज्ञासा उसके मख मण्डल पर सजीव हो उठी हो। इसकी वेशभूषा अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक एवं व्यक्तित्व सूचक है। दो महिलाएँ जो इस रमणी के सामने खड़ी हैं, उनमें से एक इस महिला का वस्त्र खींच रही हैं। दोनों के हाथों के अभिनय एवं वदनाकृति से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वे आश्चर्यान्वित मुद्रा में खड़ी हर्षोल्लास सहित मुख्य रमणी को कुछ संदेश सुना रही हैं। दोनों महिलाएं पीताम्बर धारिणी हैं तथा मुख्य रमणी कज्जली रंग की चूनड़ी ओढ़े हुए हैं जो मेवाड़ की विशेष स्त्री भूषा है और प्रोषित-पतिका नारी के लिए उपयुक्त वेशभूषा है।

३. तृतीय चित्र पत्र ६९ पर है। इसकी लम्बाई चौड़ाई २½" × ३½" है। खुम्माण अपनी प्रियतमा का विरह सन्देश पा कर नरवरगढ़ से चित्तौड़ लौट आता है। किन्तु साथ में अपनी प्रेयसि को जो नरवर के प्रधान वणिक मंत्री की पुत्रवधू है, ले आता है। इस पर इस रमणी का पति चम्पकदत्त पत्नी प्राप्ति को चित्तौड़ पहुँचता है। किन्तु मैत्री वार्ता असफल होने पर वह निराश होकर अपनी आन्तरिक व्यथा लिए हुए गजनी के बादशाह महमूद शाह के निकट पहुँचता है और उसकी सभा में मनोव्यथा प्रकट करता है। इन्हीं भावों का व्यक्तीकरण प्रस्तुत चित्र का मुख्यविषय है। राज सभा बहुत ही सामान्य है, न वहाँ कोई नेत्राकर्षक साज सज्जा है और न कोई नरसमूह ही। बादशाह सामान्य किन्तु कुछ भिन्नत्व लिए हुए सिंहासन पर बैठा है जिसे सिंहासन न कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। उसके सिर पर श्वेत क्षत्र लटक रहा है जिसमें कई अल्प छुद्र घंटिकाएँ लगी हुई हैं। पृष्ठ भाग में पूर्णतः भारतीय वेशभूषा से सुसज्जित एक प्रतिहारी बादशाह पर श्वेत चमर डुलाते हुए खड़ा है। बादशाह का चेहरा लम्बा और मोटा है। मुसलमानी ढंग की दाढ़ी मूंछे हैं। आँखें गोल हैं। साधारण आभूषण पहिने हुए है। यद्यपि बादशाह गजनी निवासी होने से उसका चेहरा मंगोल शैली का बनाया गया है। तथापि अंकित दृश्य में गजनी के कलात्मक तथा सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व करने के लिए कोई क्षमता प्रकट नहीं की गई है। इसे कलाकार की त्रुटि कहना असमीचीन होगा क्योंकि उसका लक्ष्य विशेष गजनी की राज सभा की चमक दमक प्रदर्शित करना नहीं है अपितु फरयाद सुनाते हुए मनोव्यथा लिए हुए बादशाह के सामने करुणार्त्त चम्पकदत्त की भावनाओं का व्यक्तीकरण है। सिंहासन के ऊर्ध्व भाग में वन्दनवार व छत्र हैं। जो विशुद्ध भारतीय परम्परा का विशुद्ध आलंकारिक प्रतीक हैं। बादशाह के सम्मुख भारतीय राज्य सभा की वेशभूषा से पूर्णतः सुसज्जित चम्पकदत्त अपनी आन्तरिक मनोव्याथा तन्मयता के साथ सभा में खड़ा खड़ा सुना रहा है। ऊर्ध्वस्थ दोनों हाथों की अंगुलियाँ उसकी दीन व करुणार्द स्वर की चरमावस्था व्यंजित कर रही हैं। उसके ऊपर उठे हुए हाथों का यह विशिष्ट भाव व्यंजक अभिनय जो कलाकार का अभीष्ट है अत्यन्त मर्मस्पर्शिता के कारण प्रेक्षणीय है।

चित्र के समग्र निम्न भाग में हल्का सा बोर्डर है। यद्यपि चित्र की पृष्ठभूमि काली है पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह श्यामवर्ण रात्रि का सूचक है। दीपक का अभाव और प्रस्तुत समस्या की गम्भीरता उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि करते हैं।

४. चतुर्थ चित्र पत्र ७८ पर है जो सम्पूर्ण पत्र पर व्यापक है। इसकी लम्बाई एवं चोड़ाई ८'' × ४¾'' इंच है। प्रस्तुत चित्र युद्ध स्थल का है। एक ओर बादशाह की सेनाएँ हैं और दूसरी ओर रावल खुम्माण की। चित्र की विशेषता आकृति बहुलता है। इसमें कई सैनिक हाथी, घोड़े, विविध शस्त्रास्त्र तथा सैनिक वेश स्पष्टतापूर्वक चित्रित है। चित्र में विवरण इस प्रकार है। बादशाह सैनिक वेश में हाथी पर बैठा हुआ है जो अपनी पूंछ और सूंड उठा कर तेजी से आगे की ओर दौड़ रहा है। उसके सहायक सैनिक घोड़ों पर बैठें हुए हैं। सिर पर गोल व लम्बे सिरस्त्राण हैं। यवन सेना चित्र के चौथे या पांचवें भाग तक ही है। शेष भाग में मेवाड़ी सैनिक चित्रित हैं जो उनकी संख्या बहुलता प्रकट करते हैं। मेवाड़ी सैनिकों के सिरों पर श्वेत, लाल एवं पीतवर्ण की पगड़ियाँ हैं। उनकी आकृति, वेषभूषा एवं शस्त्रों से वे पूर्णतः मेवाड़ी प्रतीत होते हैं। मेवाड़ी सैनिकों की ओर से अश्वारूढ़ पाँच स्त्रियाँ लड़ रही हैं जो साक्षात देवी या शक्तियाँ हैं अश्व स्वेत, श्याम, पीत एवं नीले रंगों में चित्रित हैं। मेवाड़ में नील वर्ण पूर्व सर्वोत्तम समझा जाने के कारण नील अश्व का पर्यायवाची होगया हैं। शक्तियों के सिर पर लम्बा व पतला लोहे का शिरस्त्राण है। वे ढाल, भाले, चक्र, तलवार, कटार आदि शस्त्रों से सुसज्जित हैं। उनके आगे और पीछे मेवाड़ी सैनिक हैं। कटार और तलवारें लम्बी और सीधी हैं। मेवाड़ी सैनिक अधिक व्यवस्थित प्रतीत होते हैं। यवन सैनिकों के अश्वों की जिह्वाएँ बाहर निकल रही हैं। जो उनकी घबराहट और अस्त व्यस्तता की सूचक हैं। मेवाड़ी सैनिक तो बादशाह के सन्निकट पहुँच गये हैं किन्तु यवनों में से विरला ही मेवाड़ी सैनिक पंक्ति में प्रविष्ट हो पाया है। बादशाह की पंक्ति में हताहत सैनिक पड़े हुए हैं कहीं कटि से ऊपर का भाग पड़ा हुआ है, कहीं आधे पेट से इधर का तथा कहीं घुटने से समूचा इधर का भाग दिखाई दे रहा है तो कहीं कटी हुई टाँगें। ये सब यवन सैनिक हैं क्योंकि इनके मुख मेवाड़ी सेना की ओर उन्मुख दिखाये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मेवाड़ी सेना में प्रथम पंक्ति सैनिकों की है तथा द्वितीय पंक्ति में शक्तियाँ हैं। यवन सैनिक प्रथम पंक्तिस्थ सैनिकों से उलझ रहे हैं। एक आध शक्तियों तक भी पहुँच गया है। शक्तियों के पास पड़ी हुई मुंडमाला इस बात का प्रतीक है कि इनके आसपास की युद्ध की भीषणता रही है। यद्यपि बादशाह तथा उसके सैनिकों की आकृतियाँ मंगोलियन टाइप की हैं तथापि उनके शस्त्रास्त्र मेवाड़ी ही प्रतीत होते हैं। बादशाह की मुखाकृति गंभीर एवं चिन्तित प्रतीत होती है। सम्पूर्ण चित्र कलाकार की कुशलता का द्योतक है जिसने न केवल आकृतियों की सुक्ष्मता ही स्पष्टतापूर्वक चित्रित की है अपितु अपने मनोगत सूक्ष्म भावों को भी अभिव्यंजित करने में सफल हुआ है। चित्र की वर्ण विविधता प्रेक्षणीय है। ढालों का श्यामवर्ण उनके चर्मनिर्मित होने की ओर अद्भुत संकेत कर रहा है। प्रस्तुत चित्र में सैनिक वेश तथा शस्त्रास्त्रों पर पश्चात्य प्रभावशून्यता भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पूर्व खुम्साण रासो की समाप्ति की व्यंजक है जो अनुमानतः इसकी रचनाकाल विक्रम की १८वीं शताब्दी के आसपास ध्वनित करती है।

उपर्युक्त चारों चित्रों के विहंगावलोकन के संश्लिष्ट निष्कर्ष से न केवल कवि की चित्र-कलात्मकला ही सिद्ध होती है अपितु चित्रों के मूल में सन्निहित विचारधारा कवि के पूर्वोद्धत दोहे—

तातो तुरी न पलाणीया, अरि सिर षग्ग न भग्ग ।
ऐल जमारो ज्यां नरां, गोरी कंठ न लग्ग ।।

की पुष्टि करती है। प्रथम चित्र संभोग शृंगार की अद्भुत कलाकृति है जो उपर्युक्त दोहे की चतुर्थ चरण की ओर संकेत करती है। द्वितीय चित्र विप्रलंभ शृंगारान्तर्गत प्रिय के आगमन की आकस्मिक सूचना प्राप्ति पर प्रेषितपतिका के मनोभावों की अभिव्यंजना की ओर संकेत करता है। तृतीय चित्र प्रथम दो तथा अन्तिम चतुर्थ चित्र की अवस्थाओं का सन्धि स्थल है। यद्यपि रस मीमांसकों ने शृंगार एवं वीर परस्पर विरोधी रस माना है तथापि अनेकानेक शृंगार रस काव्यों में प्रसंग वश वीर रस का वर्णन इस बात का परिचायक है कि किसी प्रेमाख्यान काव्य के नाम के चरित्र विकास में केवल हृदय की कोमल एवं मधुर वृत्तियों का चित्रण ही अभिवांछनीय नहीं है अपितु उसमें पौरुष व्यंजक वृत्तियों की उद्भावना भी अपेक्षित है। यही कारण है कि इस मीमांसकों की आलोचना के भय से निडर रह कर रसौकार अपने काव्यों की पूर्ण रसायणता चरितार्थ करने के उद्देश्य से उनमें स्त्री और युद्ध केवल इन्हीं दो प्रसंगों की योजना करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी मानव जीवन चिरन्तन वृत्तियों में शृंगार एवं युद्ध की भावना का भी प्रामुख्य है। अत: तृतीय चित्र इन दोनों भावनाओं की समिश्रणभूमि है। चतुर्थ चित्र तो दोहे के प्रथम और द्वितीय चरण की प्रबल पुष्टि कर रहा है। 'अरि सिर खग्ग न भग्ग' नामक पद में सन्निहित मनोभाव को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत चित्र में रणांगण में उछलते हुए नरमुण्डों की बहुलता प्रदर्शित की है। अत: उपर्युक्त चित्रों की पृष्ठभूमि में समिहित विचारधारा पूर्णत: प्रसंगानुकूल है और कवि के मनोगत भावों की सूक्षम सचित्राभिव्यंजना है और जिनकी अवतारणा काव्य एवं चित्रकला के अद्भुत समिश्रण से बाध्य तथा आभ्यन्तरिक ज्ञान संवाहकों द्वारा पूर्ण रसोपलब्धि के साधन स्वरूप हुई है।

श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति

तेलुगु का शतक साहित्य

पहली अक्तूबर १९५३ को भारत के मानचित्र पर आन्ध्रराज्य का अवतरण हुआ। इस राज्य के पूर्व में उड़ीसा, उत्तर में हैदराबाद, पश्चिम में मैसूर और दक्षिण में मद्रास राज्य है। श्रीकाकुलम, विशाखपट्टणम, पूर्व गोदावरी, पश्चिम गोदावरी, कृष्णा, गुंटूर, कर्नूल, नेल्लूर, चित्तूर, कडपा, अनन्तपूर और बल्लारी के तीन तालुकों से यह राज्य संबंधित है। इसकी आबादी २०,५०७,८०१ है।

यह कहना मुश्किल है कि आंध्र शब्द का संबंध भाषा के साथ है या किसी जाति या स्थान के साथ है, फिर भी आन्ध्र जाति का इतिहास ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। वरुणदेव को नरबलि देने के लिए शुनश्शेप सौ गाएँ देकर खरीदा गया था। शुनश्शेप के मामा विश्वामित्र उस नरमेध यज्ञ के पुरोहित थे। शुनश्शेप ने अपने मामा से प्राणदान मांगा। उन्होंने उसे प्राणदान दिया और अपने सौ लड़कों में से एक को बलिपशु बनने की आज्ञा दी। जब सौ पुत्रों में से कोई बलिपशु बनने को तैयार नहीं हुआ तब विश्वामित्र क्रोधित हो गये। उन सब को अनार्य बन जाने का शाप दिया।

"त एते आन्ध्रा पुंलिदा पुंड्रा पुष्कसा:"

इससे मालूम होता है कि आर्यों के साथ साथ ही आन्ध्र जाति का भी प्रादुर्भाव हुआ।

आन्ध्र भाषा को तेलुगु या तेनुगु भी कहते हैं। कुछ विद्वान तेलुगु शब्द को त्रिलिंग शब्द-भव मानते हैं। उनका कहना है कि "आन्ध्र के पूर्व में द्राक्षाराम, दक्षिण में कालहस्ति और पश्चिम में श्रीशैल नामक तीन शिवलिंगों के प्रसिद्ध शैवतीर्थ हैं। उनके बीच में बसे रहने के कारण इस भूमि को त्रिलिंग का नाम दिया गया।" और कुछ विद्वानों का कहना है कि त्रिलिंग शब्द त्रिकलिंग शब्द-भव है। समुद्र-तीरस्थ आन्ध्र प्रांत पुराने जमाने में कलिंग नाम से प्रख्यात रहा। यह तीन विभागों में विभाजित था। उत्तर कलिंग, मध्य कलिंग और दक्षिण कलिंग। चूंकि यह देश तीन कलिंगों का संयुक्त रूप था, इसलिये त्रिकलिंग बना। धीरे धीरे त्रिलिंग, उसके बाद तेलंग और तेलुगु हुआ।

तेलुगु साहित्य का प्रारंभ ग्यारहवीं सदी में हुआ। इस भाषा के आदि कवि नन्नया ने ग्यारहवीं सदी में महाभारत का स्वतंत्र रूप से अनुवाद किया। तब से लेकर अब तक अनगिनत कवियों ने अपनी अमूल्य रचनाओं से तेलुगु साहित्य-सदन को सजाया है।

इस तेलुगु साहित्य में शतक साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब इन शतकों को पढ़ा करते हैं। अनपढ़ जनता में भी तेलुगु के शतकों का अनन्य प्रचार है। जीवन की सच्ची घटनाओं तथा अनुभूतियों का जीता-जागता वर्णन इन शतकों में पाया जाता है। यही कारण है कि आन्ध्र प्रांत के जन-जन के मुँह से शतक के पद सुनने को मिलते हैं। अब हम इन शतकों के प्रधान लक्षणों पर विचार करेंगे।

प्रबंध काव्य की भांति शतक का कलेवर विस्तृत नहीं होता। आम तौर पर एक शतक में १०८ पद्य होते हैं। पूजा विधान में अष्टोत्तर शत नामों से ईश्वर की स्तुति होती है। मालूम होता है कि यही रीति शतक कवियों ने अपनाई है। लेकिन कुछ शतक ऐसे भी मिलते हैं जिन में एक सौ से भी कम पद्य हैं। जो भी हो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तेलुगु के शतकों में १०८ से अधिक पद्य होते ही नहीं। प्रबंध काव्य की तरह भिन्न भिन्न छंदों का प्रयोग शतक में नहीं होता। आरंभ से अंत तक एक ही छंद का प्रयोग होता है। हर एक शतक का एक मुकुट होता है। सुमती, वेमा, दाशरथी, वृषाथिपा आदि संबोधन देकर कवि शतक की रचना करता है। हर एक पद्य में इस संबोधन के नियम का पालन किया जाता है। इसी संबोधन को मुकुट कहते हैं। जैसे—

अक्करकु रानि चुट्टमु,
ओक्किन वर मीनि वेल्पु,
मोहरमुन दा नेक्किन बारनि गुर्रमु,
अक्कुन विड्वंग वलयु गदरा सुमती।"

(सुमती शतक)

(जो बंधु आवश्यकता पड़ने पर काम नहीं आता, आराधना करने पर भी जो ईश्वर वर नहीं देता, जो घोड़ा युद्ध क्षेत्र में नहीं दौड़ता, अड़ जाता है, हे सुमती! उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए।) इसी तरह तेलुगु शतक के हर एक पद्य में यह मुकुट नियम पाया जाता है।

कथावस्तु की क्रमबद्धता का नियम भी शतक के लिए नहीं होता। पर कवि कई कथाओं को दृष्टांतों के तौर पर शतक में उद्धृत कर सकता है। मानव-स्वभाव तथा दैवी विधान पर शतक कवि का अधिक ध्यान रहता है। शतक यद्यपि प्रबंध काव्योचित रस तथा प्रकृति वर्णन आदि नियमों के अन्तर्गत नहीं आते फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि शतक-रस रहित होते हैं। तेलुगु के शतकों में शांत रस को प्रधानता दी गई है। साथ-साथ शृंगार रस तथा हास्य रस का भी समुचित परिपाक देखने को मिलता है। मानव जीवन का अनुशीलन कर, उसके दोषों का यथातथ्य वर्णन करके, उत्तम नीतिमार्ग दिखाने का प्रयत्न शतक-कवि का प्रधान कर्तव्य माना गया है। इससे तेलुगु के शतक-कवि समाज की उन्नति के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन शतकों की शैली आरंभ से ही जनरंजक तथा जन-सुलभ रही है। शतक भाव-प्रधान होते हैं। ये भाव दो तरह के होते हैं—(१) बाह्य वस्तुगत या साधारण मानवीय भाव, (२) आत्मगत या भिन्न भिन्न वैयक्तिक भाव। इसी प्रकार कविता भी दो तरह की होती है। (१) बहिर्वस्तुगत कविता

(२) आत्मवस्तुगत कविता। पहली तरह की कविता में कवि अपने से भिन्न मानव, मानवेतर प्रकृतियों को लक्ष्य कर कविता लिखता है तो दूसरी पद्धति में अपने सुख-दुःख आशा-निराशा आदि को कविता की सामग्री बना लेता है। तेलुगु के शतक साहित्य में यह दूसरी पद्धति ही अधिक दीखती है। शतक कवि भगवान के समक्ष आत्मानुशीलन करते दीखता है। ऐसी कविताएं बहुत ही सुन्दर, सजीव तथा उत्तेजक होती हैं। ऐसे अवसरों पर पाठक मानों कवि की जगह अपने को ही पाता है। कवि के दोषों के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है।

तेलुगु में प्राचीनकाल से ही शतक रचना प्रचलित रही है। आन्ध्र शातवाहनों के समय की 'गाथा सप्तशती' को शृंगारी शतकों का मिलाप कह सकते हैं। वह प्राकृत भाषा में है। तेलुगु के शतक साहित्य के निर्माण में शैव कवियों का बड़ा हाथ रहा है। वे ही शतक रचना के पथप्रदर्शक माने जा सकते हैं। बारहवीं शती में श्री मल्लिकार्जुन पंडिताराध्य का "शिवतत्व सार" नामक शतक निकला जो तेलुगु का प्रथम शतक माना जाता है। यद्यपि इसमें सौ से अधिक पद्य मिलते हैं फिर भी शिवभक्ति प्रधान यह रचना शतक लक्षणों के अनुकूल ठीक बैठती है। उसके बाद से तेलुगु साहित्य की श्रीवृद्धि शतकों की रचना से खूब होने लगी।

तेलुगु के विस्तृत शतक साहित्य को चार भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) भक्तिशतक, (२) व्याजस्तुति शतक, (३) वेदांत शतक, (४) नीति शतक।

भक्तिशतक

इनमें कवि अपने आराध्यदेव की स्तुति करता है। अपने को आराध्यदेव के समक्ष प्रस्तुत कर हृद्गत भावों को बिना किसी छिपाव-दुराव के व्यक्त करता है। अपने दोषों का वर्णन कर पश्चात्ताप प्रकट करता है। भक्त कवियों के मुंह से निकलने के कारण भक्ति शतकों में भावपक्ष अधिक तथा कलापक्ष कम दीखता है। एक तरह से भक्तिशतक भगवान तथा भक्त के बीच के गुप्त संभाषण के भांडार हैं। अतः पांडित्य प्रदर्शन इनमें नहीं रहता। शतकों में आत्मानुशीलन की ही तरह राजाओं की कटु आलोचना भी कवि कहीं कहीं करते हैं।

सभी लक्षणों से समन्वित उत्तम तेलुगु शतक "सर्वेश्वर शतक" हैं जिसके कवि शिवभक्त यथावाक्कुल अन्नम्मय्या हैं। सन् १२४२ ई० में इस शतक की रचना हुई। सुंदर तथा सरल भाव, भाषा और अलंकारों से यह शतक सुशोभित है। कवि लिखते हैं—

"भवदीयार्चन सेयुचो प्रथम पुष्पं बेन्न सत्यबु,
रेंडव पुष्पबु दयागुणं बतिविशिष्टं बक निष्ठा समा-
त्सव संपत्ति, तृतीय पुष्पमदि भास्वद्भक्ति संयुक्त
योग विधान, बाविलेनि पूजलु महि गैकोवु सर्वेश्वरा!"

(हे सर्वेश्वर! इस संसार में तुम्हारी अर्चना के लिये आवश्यक प्रथम पुष्प सत्य है। द्वितीय पुष्प दयागुण है। तृतीय पुष्प निष्ठावान-भक्ति-संपन्न योग-विधान है। इनसे रहित पूजाएँ स्वीकृत नहीं हो सकतीं।)

वीरशैव मत के संस्थापक श्री बसवेश्वर को लक्ष्य करके श्रेष्ठ शैव कवि तथा प्रकांड पंडित श्री पाककुकटिकि सोमनाथ ने 'वृषाधिपशतक' की रचना की। शैव लोग बसवेश्वर को नंदीश्वर का अवतार मानते हैं। सोमनाथ ने अपने शतक में बसवेश्वर की महत्ता का गुणगान करते हुए अन्य मतों का जहाँ-तहाँ खंडन भी किया है।

हृदयांतर्गत भक्ति भाव को व्यक्त करने का शतक जैसा साधन जब मिल गय तब कई भक्त कवि भक्ति-शतकों को रचना करने लगे। विष्णु-भक्ति का बोध करने वाले शतकों में 'देवकीनंदन शतक' बहुत प्रसिद्ध है। इसके कवि के बारे में विद्वानों में मतभेद है। यह शतक बहुजनरंजक है। आन्ध्रप्रांत में बचपन से ही बच्चों को सिखाये जाने वाले शतक पद्यों में देवकीनंदन शतक पद्य भी मौजूद हैं। उदाहरण के लिये एक पद्य देखिये—

"अरयन शंतनु पुत्रुपै विदुरुपै नक्रूरुपै गुब्ज पै
नरुपै द्रौपदिपै गुचेलुनिपै नंदव्रज स्त्रीलपै,
वरगं गलगु भवत्कृपा रसमु नापै गोंत रानिम्मुनी
चरणाब्जंबुल नम्मिनाड हरि, कृष्ण देवकी नंदना।"

(हे हरि! हे कृष्ण! देवकीनंदन! तुम्हारे चरण कमलों पर विश्वास करके बैठा हूँ। तुमने भीष्म, विदुर, अक्रूर, कुब्जा, अर्जुन, द्रौपदी, सुदामा तथा ब्रजांगनाओं पर जिस कृपा-रस की वर्षा की उसके थोड़े से अंश से मुझे भी पार लगा दो।)

तेलुगु के इन भक्ति शतकों में 'श्री कालहस्तीश्वरशतक' तथा 'दाशरथी शतक' के नाम उल्लेनोय हैं। 'कालहस्तीश्वर शतक के कवि के बारे में विद्वानों में मतभेद है। निर्व्याज भक्ति भाव सच्चा आत्मानुशीलन, निर्मल कविता धारा शतक की विशेषताएँ हैं। इस शतक कवि ने अपने पापों के वर्णन के साथ साथ राजाओं की भी कड़ी आलोचना की है। उनके वैभव के मोह से लोगों को बचाने की भी कालहस्तीश्वर से प्रार्थना की है।

'दाशरथी शतक' के कवि श्री कचर्ल गोपन्ना थे जो भद्राद्रि रामचन्द्र के अनन्य भक्त होकर रामदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे सन् १६५८-८७ ई० में गोलकोंडा के नवाब अबुल हसन तानीषा के जमाने में रहे। तानीषा की नौकरी करते हुए रामदास ने गोदावरी नदी के तीर पर प्रसिद्ध रामचन्द्र का मंदिर बनवाया। यह मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। रामदास का 'दाशरथी शतक' तेलुगु केतकों का मुकुट कहा जाता है। इनकी भक्ति कल्पनाएं निराली और प्रभावोत्पादक हैं। शब्दालंकार तथा अर्थालंकारों का सहज चमत्कार देखते ही बनता है। बाद के कई कवियों ने इस शतक का अनुकरण किया। इसी से 'दाशरथी शतक' का वैशिष्ट्य प्रकट होता है। इस शतक का एक-एक पद्य एक रत्न के समान है—

चिक्कनि पालपै मिसिमि जेंदिन मीगड पंचदार ता।
मेक्किन भंगि मीविमल मचक रूप सुधारसंबुना—
'मक्कुव पब्लेंरबुन समाहित दास्यमनेटि दोयटन्,
दक्कनटंचु जुर्रेदनु दाशरथी करुणा पयोनिधी!

(हे करुणासागर दाशरथी ! तुम्हारे निर्मल श्याम रूप का सुधारस, प्रेम की थाली में भर कर, दास्य भाव रूपी चुल्लू से 'शक्कर मिली—शुद्ध दूध की नवल कोमल मलाई की भांति गटागट पी जाऊँगा ।)

आन्ध्र प्रांत में बीस तीस वर्षों के पूर्व तक ग्रामीण पाठशालाओं में प्रारंभ से ही शतकों का अध्ययन अनिवार्य रूप से होता रहा । श्री नरसिंह कवि का "कृष्ण शतक" इन्हीं पाठ्य पुस्तकों में से है जिसे आन्ध्र प्रांत का हर एक बच्चा बड़े चाव से अब भी पढ़ता रहता है । बच्चों को दृष्टि में रखकर इस शतक की रचना हुई । श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का सुन्दर और मनोरंजक वर्णन इसमें किया गया है । जैसे—

देवेंद्रुडलुकतोडनु,
वाविरिगा राळ्ळवान वडि गुरियिपन्,
गोवर्धन गिरि येत्तिति,
गोवुल गोपकुल गाचु कोरकै कृष्णा ॥

(हे कृष्ण ! जब देवेंद्र खीजकर मूसलाधार वर्षा के साथ पत्थर भी बरसाने लगे तब तुमने गोप-गोपी तथा गायों की रक्षा करने के लिये गोवर्धन पर्वत को उंगली पर उठा लिया) ।

इनके अलावा भक्ति शतकों में नारायण शतक, ओंटिमिट्ट रघुवीर शतक, रंगशाई शतक, वसुदेवनंदन शतक, सूर्यनारायण शतक, नृकेसरी शतक, लक्ष्मी शतक, यादगिरीदु शतक, कुक्कुटेश्वर शतक, रामलिंगेश्वर शतक, महिषासुरमर्दिनी शतक आदि प्रसिद्ध हैं ।

व्याजस्तुति शतक

यद्यपि ये शतक भी भक्तिशतकों के अंतर्गत ही हैं फिर भी कवियों ने व्याजस्तुति से काम लेकर नये मार्ग का अनुसरण किया है । जहाँ निन्दा के बहाने से स्तुति की जाय, या स्तुति के बहाने से निन्दा की जाय वहाँ व्याजस्तुति अलंकार होता है । इन शतकों के द्वारा कवि अपने आराध्यदेव की निन्दा करता है । खरी खोटी सुनाता है । कर्तव्यविमुख परमात्मा को कर्तव्योन्मुख बनने की प्रेरणा देता है । अंत में निन्दा के लिए कवि भगवान से क्षमायाचना भी करता है । ये व्याजस्तुति शतक साहित्यिकों के अलावा इतिहासकारों के लिए भी बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं । देश पर संकट आते देख कर कवि जनता की रक्षा करने को उद्यत होता है । अपनी अनन्य भक्ति तथा वाणी द्वारा ईश्वर को जन-हित करने को प्रोत्साहित करता है । इस तरह इन शतकों से एक पंथ दो काज वाली कहावत सार्थक हुई है ।

ऐसे शतकों में श्री गोगुलपाटि कूर्मनाथुडु का 'सिंहाद्रि नारसिंह शतक' मुख्य है । सिंहादि पुण्यक्षेत्र विशाखपट्टणम जिले में है । लोग नरसिंहावतार को ही सिंहाद्रि अप्पन्ना कहते हैं । इसी सिंहाद्रि नारसिंह को लक्ष्य कर के इस शतक की रचना की गई । सन् १७५० ई० में इस शतक की रचना हुई । तब तक पाश्चात्यों के आपसी युद्ध दक्षिण भारत में शुरू हो गये । आन्ध्र प्रांत के मुसलमानी शासक बोरा-बिस्तरा बटोरने में लग गये । फिर भी उनके अत्याचार कम नहीं हुए । मंदिरों का विध्वंस, हिन्दू वनिताओं का मान-भंग,

गांवों में आग लगाना आदि यवनों के नित्य कर्म से हो गये। एक बार सिंहाद्रि क्षेत्र को लूटने यवनों की सेना चढ़ आई। कूर्मनाथुडु से रहा नहीं गया। दौड़े हुए मंदिर में गये। नरसिंह की मूर्ति के सामने खड़े होकर भक्तिभाव में लीन होकर अपनी वाणी को स्वतंत्रता दे दी। भक्त की पुकार सुनकर भगवान ने जनता की रक्षा का बीड़ा उठा लिया। कहा जाता है कि ज्योंही यवन आगे बढ़े त्यों ही कहीं से भयानक शहद की मक्खियाँ आ गईं। मक्खियों के आतंक से म्लेच्छ घबरा गये, आगे नहीं बढ़ सके। भाग खड़े हुए। कूर्मनाथुडु के वे पद्य ही 'नरसिंह शतक' में संग्रहीत किये गये। उनके पद्य पढ़ते समय हिन्दी के भूषण कवि की याद आ जाती है। एक पद्य देखिए—

"यवनेसु धाटिकि नडलि सर्वस्वम्मु
विडिचि मंदिरम्मुलु वेडलुवारु।
वेडलियु दलदाच वेरवंमि गानक
नडवुल निडुमल बडॆडिवारु।
बडियु नेच्चट कूडु बट्ट गानक तम
शिशुवुलतो वेतचेंदुवारु।
जेंदि डंदमुगुंद गांदिशीकत नभि
मानाथुलै खेदमूनुवारु।
नैरि नोक्कोक्क भार्य तो नवनि प्रजलु
अष्ट महिषुल पै पदियारु वेल
सतुलतो नीवु वलस वेच्चटि करिगॆडु
वैरि वररंह, सिंहाद्रि नारसिंह॥"

(यवन शासक की चढ़ाई से घबरा कर लोग अपना सर्वस्व छोड़ मंदिरों की ओर छिपने के लिए भाग रहे हैं। वहाँ भी आश्रय न पाकर जंगलों में भटकते हुए कष्ट उठा रहे हैं। उनके साथ उनके मासूम बच्चे भी हैं। कहीं भी खाना कपड़ा न मिलने के कारण पृथ्वी पर ही यम-यातना भोग रहे हैं। अपनी एक एक पत्नी के साथ शरणार्थी बनने के दुःख से लोग कातर हो रहे हैं। लेकिन ये शत्रु-भंजक सिंहाद्रि नरसिंह! तुम्हारी तो आठ पटरानियाँ और सोलह हजार पत्नियाँ हैं। इन सब के साथ शरणार्थी बनकर कहाँ जाओगे?)

औरंगजेब ने गोलकोंडा पर आक्रमण कर उसे ध्वंस किया। इब्राहिमखान ने तब औरंगजेब की मदद की थी। खान का एक सरदार था धंसायन। वह बड़ा आततायी था। उसने वरंगल के नजदीक वेलपु पर्वत पर अपना किला बनाया। वहाँ से तेलुगु देश पर आक्रमण करने लगा। उसके अत्याचारों से जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। वहाँ एक राममन्दिर था। पुजारी डर गये। एक दिन सबने मिलकर श्रीरामचन्द्र को उस मंदिर से निकाल कर नावों पर चढ़ाया। गोदावरी नदी के उस पार पोलवरम नामक सुरक्षित गाँव में पहुँचा दिया। इस से भल्ला पेरय्या नामक कवि का दिल दहल उठा। इस तरह पीठ दिखाकर

भाग जाने वाले रामचन्द्र की भर्त्सना की। कहा —"हे राक्षसों के संहारक रामचन्द्र ! यह क्या ? दस सिर वाले को दल-बल सहित यमराज के मेहमान बनाने वाले तुम आज नीच तुरुक सरदार से भयभीत होकर भाग गये ? छिः छिः यह तुम्हारे लिए घोर कलंक की बात है। अतः उठो। आततायियों का संहार कर अपना कर्तव्य निभाओ।" ऐसे पद्यों का संग्रह 'भद्रगिरि शतक' के नाम से प्रख्यात हुआ। इस शतक में देश के शत्रुओं का साथ देने वाले देशद्रोहियों का नाम भी कवि ने लिया। देश के लिए प्राण देने वाले कई देश-भक्तों के नाम भी कवि ने लिये। इस तरह यह शतक कई ऐतिहासिक सत्यों से भरा पड़ा है।

सन् १७९१ ई० में कासुल पुरुषोत्तम ने 'आंध्र नायक शतक' की रचना की। वे मछलीपट्टणम के पास ही चल्लपल्ली राज्य के राजाश्रित कवि थे। कृष्णा नदी के किनारे पर स्थित श्रीकाकुण्ठम नामक कवि के आंध्र विष्णु का मन्दिर नदी की बाढ़ से शिथिल हो गया था। कहा जाता है कि इस मन्दिर के आन्ध्र विष्णु ने श्री कृष्णदेवराय को स्वप्न में दर्शन दिये। 'अमुक्तमालयद' या 'विष्णुचित्तीय' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना करने का आदेश दिया। ऐसे मंदिर की दुर्दशा देखकर पुरुषोत्तम को बड़ा दुःख हुआ। कहा, "हे प्रभो, तुम ऐसे असमर्थ क्यों हो गये ? अपने मन्दिर का पुनरुद्धार नहीं कर सकते ?" फिर विष्णु की लीलाओं का वर्णन कर उपालंभ देना शुरू किया। जैसे—

कल्लरुलगानि व्रेपल्ले वारंदरु
हर्षिंप नचट नीयाट सागे
मधुरापुरीवर मनुजु लामोदिंचि
मन्निंय नचट नी माट सागे।"

(ब्रजमंडल के सब लोग भोले भाले थे। इसलिये वहाँ तुम ने मनमाना व्यवहार किया। मथुरापुरी के सब लोग सज्जन थे, इसलिये तुम्हारी बात वहाँ सब ने मान ली) शतक के अंत में कवि ने भगवान से क्षमा याचना की। पुरुषोत्तम के इस शतक से प्रभावित होकर चल्लपल्ली के राजा ने उस मंदिर की मरम्मत कराई। अब भी वह मंदिर सुरक्षित है।

पुरुषोत्तम कवि ने मानसबोध शतक, हँसलदीवि शतक और भक्त कल्पद्रुम शतक की भी रचना की। इनके अलावा मट्टपल्लि नृसिंह शतक, वेंकटाचल विहार शतक, रामलिंगेश्वर शतक आदि में भी देश की तत्कालीन परिस्थितियों का वर्णन मिलता है।

वेदांत शतक

भक्ति शतकों के बाद वेदांत शतकों की धूम सी मच गयी। अद्वैतवाद के सिद्धांत को सरल भाषा में आसान ढंग से समझाना वेदांत शतकों का लक्ष्य रहा। पिंडोत्पत्ति से लेकर जगत् सृष्टि का विधान, माया-निरूपण, राजयोग आदि का वर्णन इन शतकों में हम पाते हैं। सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक दृष्टांतों, कहावतों तथा सरल भाषा व शैली ने इन पर चार चांद लगा दिये। वेदांत शतकों में नारायण शतक बहुत ही प्राचीन है। इस शतक के कवि का नाम अज्ञात है। भगवद्गीता का सार इसमें वर्णित है।

श्री परमानंद यतीन्द्र कृत 'शिवमुकुंद शतक' तथा 'संपगिमन्ना शतक' उच्चकोटि के माने जाते हैं। सत्रहवीं सदी में इन शतकों की रचना हुई। 'शिव और मुकुन्द' दोनों एक ही हैं। इन दोनों में भेद मानना अज्ञान का लक्षण है। इस उत्तम भावना को 'शिवमुकुन्द शतक' ने प्रस्तुत किया। 'संपगिमन्ना शतक' अद्वैतवाद को मृदुमधुर शैली में व्यक्त करता है। दुराचार और दंभ का खंडन कर के कवि कहता है कि मुक्ति चाहने वालों के लिए सत्वगुण प्रधान नीतिवर्तन बहुत जरूरी है।

जैसे—

"सन्यासुल मनि शास्त्रो
पन्यासमुलु सेय नंदु फल मेमि ? मन
स्सन्यासमु दोरकनि या
सन्यासमु कूटिकन्न संपगिमन्ना।"

(अपने को संन्यासी कह कर शास्त्रों पर भाषण देने मात्र से क्या फायदा है ? असल में मन: संन्यास आवश्यक है। जहाँ वह नहीं वहाँ का सन्यास केवल उदरपोषण का एक जरिया मात्र ही है)।

श्री सदानंद योगी ने अपने 'सदानंदयोगि शतक' सें धर्म के पाखंड के साथ साथ मूर्ति पूजा का भी घोर विरोध किया है, श्री ताडेपल्लि पानकालराय के मानसबोध शतक, तथा चित बोध शतक भी इसी कोटि की उत्तम रचनाएं हैं। इनके पद्य सुन्दर हितोक्तियों से सम्पन्न हैं।

जैसे—

"इटु नटु पारुद्रावि परुवेत्तुट कंटेनु निल्चि नीरु ग्रो-
लुट कडुमेलु मेलनेडु लोक हितोक्ति गणिचि चाल
मिक्कुट मगु कर्म बंधमुल गासिल कच्युतु चेर मंटिवे-
सट बड किकलैन मनसा ! हरि पादमु लाश्रयिंपुमा।।"

(इधर उधर दौड़ते हुए दूध पीने से, खड़े होकर पानी ही पीना अच्छा है। रे मन ! इस हितोक्ति पर ध्यान दे। अधिक कठोर कर्म-बंधनों में मत जकड़। अब भी कहता हूँ। माया मोह से दूर होकर अच्युत के पादपद्मों की शरण में जा।)

नीतिशतक

तेलुगु के नीतिशतक इहलोक को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। इसलिये वे समाज के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए। जीवन की कोई ऐसी पहेली बाकी नहीं रह गई जिसका उल्लेख नीतिशतकों में नहीं हुआ हो। कवि निर्भय होकर ऐसी समस्याओं का परिष्कार मार्ग भी बता देता है। आमतौर पर नीतिशतकों के विषय निम्नलिखित रहे। (१) राजनीति—राजा, प्रजा तथा सेवक के कर्त्तव्य, (२) पारिवारिक नीति—माता, पिता, पुत्र तथा पुत्रियों का संबंध, पति-पत्नी का संबंध, पराई स्त्री के साथ व्यवहार, आदि, (३) बालक बालिकाओं को शिक्षा, (४) मानव का नैतिक बर्ताव, सत्य, दया, दान,

लोभ, शौर्य ग्रादि, (५) भोग-भाग्य, गरीबी, विधि कृत्य, मानव कृत्य। (६) सांसारिक—समाज, बंधु, ग्राश्रित, ग्रर्थार्जन, ग्रादि।

तेलुगु के नीतिशतकों में सबसे प्राचीन ग्रौर शतक साहित्य भर में सबसे बढ़ कर प्रसिद्ध 'सुमतिशतक' है। यह शतक साहित्य भर का ग्रलंकार है। इस शतक के कवि के बारे में विद्वानों में मतभेद है। ऐसी मृदु, मधुर ग्रौर सरल भाषा का सुन्दर प्रयोग ग्रन्यत्र कहीं नहीं दीखता। छोटे-छोटे बच्चे भी पद्य का भाव समझ कर ग्रानंद पाते हैं। देखिये—

"ग्रडगिन जीतं बिय्यनि
मिडिमेलपु दोरनु गोलि्च मिडुगुट कंटेन्,
वडिगल येद्दुल गट्टुक
मडि ग्रनुक ग्रनुक वच्चु महिलो सुमती।"

(मांगने पर भी वेतन न देने वाले ढोंगी मालिक की सेवा करते हुए खप जाने के बदले ग्रच्छे बैलों को लेकर खेत जोत कर संसार में जीना ग्रच्छा है।)

किसी ग्रज्ञात कवि का 'भास्कर शतक' भी प्रसिद्ध है। इस शतक की शैली कुछ प्रौढ़ है। कवि ने इस शतक में भाग्य पर ज्यादा जोर दिया। हर एक पद्य में दृष्टांत के द्वारा विषय का स्पष्टीकरण कवि ने किया है।

'शरभांक लिंग शतक' के कवि का नाम भी ग्रज्ञात ही है। इसमें नीति ग्रौर शिव की प्रशंसा के साथ-साथ ग्रंधविश्वासों तथा शकुन विश्वासों का खंडन भी किया गया है।
जैसे :—

"कललकु गितयेल, तन कड्डमु वच्चिन पिल्लि कोसमै
यलमटयेल तुम्मिरनि यापदयेल, यनेक कीडु ले
दोलगक कंटि मंबु मदि दोचक निलिप कृशिपनेल पो
तोलिगग लेरु मानवुल तिक्ककु वेरोक मंटु कलुगुना ?
मेलगक ग्रायु ब्रह्म लिपि मिथ्ययै यो शरभांक लिंगमा ?"

(स्वप्नों से क्यों डरना चाहिये! रास्ता काट जाने वाली बिल्ली को देख चिंतित क्यों होना चाहिये! कोई छींक दे तो कौन सी ग्राफत ग्रावेगी! ग्रौर भी कई शकुनों पर ध्यान देकर ग्रंदर ही ग्रंदर कुढ़ कर कमजोर बनने की क्या जरूरत है? सनकी मानवों की ऐसी मूर्खता के लिए कोई दवा मिल सकती है? ग्रसल में सब कुछ विधाता के हाथ में है। हे शरभांक लिंग! भाग्य का लिखा कहीं झूठा हो सकता है?)

मध्ययुग के नीति शतकों में ग्रान्ध्रों के ग्राराध्यदेव श्री तिरुपति वेंकटेश्वर स्वामी के मंदिर के गायकाचार्य, प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री ताल्लपाक ग्रन्नमाचार्य के पुत्र पेदतिरुमलार्य का 'वेंकटेश शतक' भी उल्लेखनीय है। भक्तिप्रधान होने पर भी इस शतक में राजनीति का वर्णन पाया जाता है।

नीतिदायक हास्यरस प्रधान 'चंद्रशेखर शतक' पढ़ने योग्य है। इनके अलावा जगन्ना-यक शतक, रामलिंगेश्वर शतक, मदन गोपाल शतक आदि भी पढ़ने योग्य हैं।

बालक-बालिकाओं को सुन्दर शिक्षा देने वाले शतकों में कुमार शतक, कुमारी शतक मुख्य हैं। इनकी रचना आधुनिक काल में हुई।

तेलुगु साहित्य में वेमना का अपना स्थान है। वेमना के पद्य तीन चार हजारों की संख्या में हैं जिनकी खोज अब भी जारी है। उनकी रचनाओं की गणना शतक के अन्तर्गत मानी नहीं जातीं। फिर भी वेमना के कई पद्य शतक के पद्यों के लक्षणों के बिल्कुल उपयुक्त ठहरते हैं। हिन्दी साहित्य संसार में महात्मा कबीर का जो स्थान है वही तेलुगु साहित्य में श्री संत वेमना का है। वेमना के समय समाज में शैव-वैष्णवों की फूट, धर्म के नाम पर पाखंड, भ्रष्टाचार, वेश्यागमन, मदिरापान, चरित्र-हीनता, ऊँच-नीच का भेदभाव, आत्म स्तुति, परनिंदा आदि का बोलबाला रहा। अज्ञान और नैतिक पतन का नग्न तांडव होता रहा। ऐसी परिस्थितियों में वेमना का जन्म हुआ। वेमना के जन्म स्थान के बारे में मतभेद है। अठारहवीं सदी के पूर्व भाग में वेमना का जन्म गुंतूर जिले के कोंडवीडु नामक गांव में माना जाता है। समस्त द्राविड़ प्रदेश वेमना का बिहार-क्षेत्र रहा। वेमना का जन्म रेड्डी कुल में हुआ। वेमना ने स्वयं इस बात का उल्लेख एक पद्य में किया है। अमीर परिवार में जन्म लेकर पहले अमित भोगी हुए। फिर कट्टर योगी बन गये। अपना सारा धन गरीबों को बाँट दिया। फिर भी शांति न मिली। लंबिका शिवयोगी का साहचर्य वेमना को प्राप्त हुआ। अल्पकाल में ही पहुँचे हुए योगी बन गये। स्त्री-पुरुष भेद का ध्यान भी उनमें न रहा। अंत तक दिगंबर होकर मस्त फिरते रहे। जीवन में ज्यों-ज्यों अनुभव प्राप्त करते गये त्यों-त्यों सुन्दर सूक्तियों के रूप में उन अनुभवों को व्यक्त करते गये। उनके भक्त व अनुयायियों ने उन सूक्तियों को लिपिबद्ध कर दिया। वेमना के पद्यों को चार विभागों में बाँट सकते हैं—(१) सामान्य नीतिदायक, (२) धर्म विश्वासों के कटु आलोचनात्मक, (३) समाज सुधारात्मक, (४) वेदांत प्रधान। वेमना ने तेलुगु के 'आटवेलदि' छंद का सर्वत्र प्रयोग किया है। उनकी भाषा सरल तथा मिठास से भरी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से इनके पद्य विभूषित हैं। हास्य रस को वेमना ने अपने उपदेशों के प्रचार के लिए साधन बना लिया। मनोरंजन तथा चरित्रसुधार, एक पंथ दो काज साधते गये। एक जगह कहते हैं :—

सकल तीर्थंबुल सकल यशंबुल
तललु गोरुगकुन्न फलमुलंदु
मंत्र जलमु कन्न मंगलिजन्न मेच्चु
विश्वदाभिराम विनुर वेमा।

(सभी पवित्र तीर्थों तथा यज्ञ आदि शुभ कर्मों में सर्वप्रथम शिरोमुंडन करना पड़ता है। उसके बिना फल नहीं मिलता। निष्कर्ष यह कि मंत्र जल से बढ़ कर नाई का जल ही पवित्र है।)

क्षमा गुण का वर्णन वेमना कैसे करते हैं, देखिये—

चंपदगिन यट्टि शत्रुनु तनचेत
जिक्केनेमि कीडु जेयरादु ।
पांसग मेलु जेसि पोम्मनुटे जालु
विश्वदाभिराम विनुर वेमा ।।

(मारने के लिए योग्य शत्रु मिले तो तनिक भी हानि न करे । उलटे उसकी मदद करके भेजना अच्छा है) ।

लौकिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अपना और दूसरों का जीवन सार्थक बना कर वेमना अपने को अमर कर गये ।

इस तरह विस्तृत तेलुगु साहित्य में शतक साहित्य ने अपने लिये एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है ।

आगरा विश्वविद्यालय

सन् १९५६ के

द्वारा स्वीकृत

शोध प्रबन्धों का सारांश

डा० मुंशीराम शर्मा

वैदिक भक्ति तथा हिन्दी के भक्ति कालीन काव्य में उसकी अभिव्यक्ति

प्रबन्ध का सारांश

संत शिरोमणि महात्मा सूरदास के अध्ययन ने कुछ ऐसी भावनाओं का मानस प्रत्यक्ष कराया, जो अपने मूल रूप में वैदिक युग से लेकर अब तक भारतीय भक्त के हृदय के साथ लगी रही है। "भारतीय साधना और सूर साहित्य" के प्रथम अध्याय के तृतीय प्रकरण में मैंने इन भावनाओं का दिग्दर्शनमात्र कराया है। प्रस्तुत प्रबन्ध इन्हीं भावनाओं के विस्तृत रूप में आकलन करने के उद्देश्य से लिखा गया है।

इस कार्य में दो पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता था:—

१—क्रम विशेष के साथ वैदिक भावनाओं को हिन्दी भक्त कवियों की भावनाओं के साम्य में प्रदर्शित और उपस्थित करना।

२—क्रम विशेष के साथ सब का पृथक्-पृथक् अध्ययन करना। मैंने प्रस्तुत प्रबन्ध में दूसरी पद्धति को ग्रहण किया है और प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में भावनाओं के साम्य, वैषम्य तथा उनके कारणों पर अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं।

हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में से मैंने अपने अध्ययन के लिये उस युग के चार प्रतिनिधि कवियों को चुना है। हिन्दी का भक्तिकाल निर्गुण और सगुण दो धाराओं में विभक्त किया गया है। ये दोनों धारायें पुन: दो-दो शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं। निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी नाम की दो शाखायें हैं। सगुण धारा कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति नाम की दो शाखाओं में विभाजित है। अब तक हिन्दी साहित्य के जो इतिहास लिखे गये हैं, उन सब ने इस विभाजन को मान्यता प्रदान की है। ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रतिनिधि कवि कबीर हैं तो प्रेमाश्रयी शाखा के मलिक मुहम्मद जायसी, कृष्ण-भक्ति काव्य का प्रतिनिधित्व सूरदास करते हैं, तो राम-भक्ति काव्य का तुलसीदास। प्रस्तुत प्रबन्ध में इन्हीं चार कवियों की भक्ति का विवेचन किया गया है।

वैदिक भक्ति पर लिखने से पूर्व आवश्यक था कि मैं भक्ति के केन्द्र "ईश्वर" के अस्तित्व पर अपने विचार प्रकट करूं। यद्यपि मानव की आस्था दीर्घकाल से ईश्वर की

सत्ता पर टिकी रही है, जिन्होंने इस सर्व-व्याप्त सत्ता में विश्वास नहीं किया, उन्होंने किसी न किसी महापुरुष को ईश्वर संज्ञा से अभिहित किया है, फिर भी आधुनिक वैज्ञानिकता ने इस आस्था के उन्मूलन में, इसे हिला-हिला कर विध्वस्त कर देने में बड़ा भारी कार्य किया है। वैज्ञानिकों के साथ कतिपय पाश्चात्य दार्शनिक भी इस दिशा में सहयोग देते रहे हैं। पर विज्ञान और दर्शन का जो विकास पश्चिम में हुआ है, वह ईश्वर के सम्बन्ध में आज किस स्थान पर है, यह भी विचारणीय है। मैंने प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में वैज्ञानिक दार्शनिक दो दृष्टियों से ईश्वर के अस्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।

प्रायः सभी वैज्ञानिक औरदार्शनिक ब्रह्माण्ड में कार्य करने वाले अनुल्लंघनीय नियमों की ओर संकेत करते रहे हैं। औद्योगिक युग में ये नियम यंत्र-संचालन के नियमों की भांति कार्य करते देखे गये, प्राणि-शास्त्र के विकसित होने पर उनमें चेतना का अनुभव होने लगा और अब भौतिकी (फिजिक्स) का प्रसिद्ध विद्वान सर जेम्स जीन्स इन नियमों को देख कर उन नियमों का ध्यान करता है, जिनके अनुसार एक रागी गान गाता है या कविता की रचना करता है।[1]

सृष्टि की नियमबद्धता, व्यवस्था और सप्रयोजनता को अनुभव करके एक सर्व-व्यापक बुद्धि तत्व की कल्पना कई वैज्ञानिकों ने की है। आर्थर ऐडिंगटन ने इस संबंध में अपने ग्रन्थ "द नेचर आफ द फिज़िकल वर्ल्ड" के पृष्ठ ३३८ पर लिखा है—"द आयडिया आफ ए यूनिवर्सल माइन्ड आर लोगोस वुड बी ए फेयरली प्लौजिबुल इन्फेरेन्स फ्राम द प्रेजेन्ट स्टेट आफ साइन्टिफिक थ्योरी; ऐट-लीस्ट इट इज इन हारमोनी विथ इट "अर्थात् विज्ञान के वर्तमान सिद्धान्तों को देखते हुए यह अनुमान बहुत कुछ संभव प्रतीत होता है कि विश्व में एक सर्वव्यापक बुद्धि तत्व कार्य कर रहा है। इसी से मिलता-जुलता विचार सर जेम्स जीन्स ने अपने संशोधित ग्रंथ "द मिस्टीरियस यूनिवर्स" के पृष्ट १८२ पर प्रकट किया है, जिसमें वह इस सृष्टि के स्रष्टा को देश-काल की परिधि से परे लिखते हैं— "मॉडर्न साइन्टिफिक थ्योरी कम्पेल्स अस टु थिंक आफ द क्रियेटर ऐज वर्किंग आउटसाइड टाइम ऐन्ड स्पेस" प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री एल्बर्ट आइन्स्टाइन के निम्नांकित शब्द भी इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं:—"द आइडिया आफद इक्जिस्टेन्स आफ ऐन आमनीपोटेन्ट, जस्ट ऐन्ड आमनी-बेनीफिसेन्ट परसनल गॉड 'इज ऐबुल टु ऐकोर्ड मैन सोलेस, हेल्प ऐन्ड गाइडेस" आउट आफ माई लेटर इयर्स—पृ० २७। एक सर्व-शक्तिमान 'न्यायी तथा सर्व हितकारी' ईश्वर में विश्वास मानव को संतोष 'आश्वासन' साहाय्य और पथ-प्रदर्शन प्रदान कर सकता है। एक स्थान पर उन्होंने यह भी लिखा है कि एक वैज्ञानिक ईश्वर-विश्वास पर आपत्ति कैसे कर सकता है। जब वह स्वयं प्रकृति के विभिन्न रूपों में विश्वास करके आगे बढ़ता है? यह विश्वास उसे किसी

---

(१) टु माई माइन्ड, द लाज ह्विच नेचर ओबेज, आर लेस सजेस्टिव आफ दोज ह्विच ए मशीन ओबेज इन इट्स मोशन दैन आफ दोज ह्विच ए म्यूजीशियन ओबेज इन राईटिंग ए फ्यूग, आर ए पैक्ट इन कम्पोजिंग ए सन्नेट। सर जेम्स जीन्स द मिस्टीरियस यूनिवर्स—पृ० १६६, रिवाइज्ड एडीशन।

तर्क के आश्रय से प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वर-विश्वास भी तर्क पर नहीं, मानव की मान्यता पर अवलम्बित है। विज्ञान और धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुये वे कहते हैं:—विज्ञान अपने अन्वेषणों से सत्य धर्म को अधिक महनीय और गम्भीर रूप प्रदान कर सकता है।[1]

दर्शन की प्रमुख शाखायें तीन हैं:—तत्व-ज्ञान, मनोविज्ञान और आचार शास्त्र। तत्व-ज्ञान की दृष्टि से यूनान के प्रसिद्ध प्राचीन दार्शनिक ऐनैक्सैगोरस ने समस्त व्यवस्थित सृष्टि के मूल में एक चेतन सत्ता को असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया था। अरिस्टॉटिल ने इसीलिये लिखा था:—'ऐनैक्सैगोरस अनेक अंधों में एक देखने वाला है।' काण्ट के अनुसार हम सबका जीवन छाया के जगत में व्यतीत होता है। इसी छाया का हमें ज्ञान होता है, पर जिसकी यह छाया है, उसे हम नहीं देख पाते। हम केवल इतना ही जानते हैं कि वह छाया डालने वाला अपना अस्तित्व रखता है। मनोविज्ञान के अनुसार हमारे हृदय में नम्रता की एक भावना है, जो श्रद्धा की सहज संगिनी है। जब हमारे अन्दर नम्रता और श्रद्धा की भावनायें हैं, तो एक ऐसी सत्ता भी अवश्य होनी चाहिये जिसके आगे हम आदर भाव से प्रणत हो सकें। श्रद्धा की भावना प्रथम प्रशंसा, फिर आदर और अन्त में पूजा की भावना में परिणत हो जाती है। यहां एक से बढ़ कर एक प्रशंसनीय और आदरणीय है। पर जो सबका श्रद्धेय और पूजनीय है, वही मनोविज्ञान की श्रद्धा भावना का सबसे ऊंचा आधार है। धर्म इसी को ईश्वर कहता है। कुछ दार्शनिकों का मत है कि परमात्मा के संबंध में पूछने के लिये हमें मनोविज्ञान के पास नहीं, आचार शास्त्र के पास जाना चाहिये। जहां आचार है, वहां श्रेष्ठता है और जहां श्रेष्ठता है वहां ईश्वर है। धार्मिक दृष्टि में जहां समस्त शुभ की सीमा है, आदर्श है, वहीं ईश्वर है।

द्वितीय अध्याय में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है। मुण्डक उपनिषद २–२–८ में ईश्वर के पर और अवर दो रूपों का उल्लेख है। इन्हीं को निरपेक्ष और सापेक्ष रूप कहा जाता है। निरपेक्ष रूप में ईश्वर जगत और जीव से असम्बद्ध, एकान्त और कूटस्थल है। वह काल्पनिक नहीं, वास्तविक है, जड़ नहीं, चेतन है; निरानंद नहीं, सानंद है, ससीम नहीं असीम है—देश और काल दोनों की परिधि से परे है, अनेक नहीं, एक है, वह सर्वशक्तिमान है, समस्त अवलम्बनों का अवलम्बन है। वह किसी पर आश्रित नहीं है। वह जो कुछ करता है, उसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। ईश्वर का सापेक्षस्वरूप जगत और जीव की दृष्टि से है। जगत के सम्बन्ध से वह रचयिता, पालयिता और संहारक है। जगत को भी वह शून्य से नहीं, प्रथम से विद्यमान प्रकृति के उपादान से बनाता है। जीव के सम्बन्ध से ईश्वर शासक, न्यायी, पिता और भक्तवत्सल है। जीव अपूर्ण है, ईश्वर पूर्ण है। जीव अणु है, ईश्वर विभु है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर आप्त है। जीव प्रकृति के संपर्क से अपवित्र बनता है,

---

१. रेलीजन कन बी इननौबुल्ड ऐन्ड मेड मोर प्रोफाउण्ड बाई साइन्टिफिक नॉलेज। आउट आफ माई लेटर इयर्स, पृ० २९।

परन्तु पवित्र स्वरूप प्रभु के संपर्क से पुन: पवित्र हो जाता है। ईश्वर सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों ही रूपों में छिपा नहीं है। साधक उसका साक्षात कर सकते हैं।

तृतीय अध्याय में भक्ति के स्वरूप की व्याख्या है। भक्ति क्या है? प्रभु को भजना, उसके समीप पहुंचना, बैठना, उसकी सेवा करना और उसके आनन्द से आनन्दी बनना। आनन्द काम का ऊर्जस्वितरूप है। जब मानव का काम सब ओर से सिमट कर आनन्दधाम परमात्मा में केन्द्रित हो जाता है, तभी मानव आत्मतृप्त तथा आत्मानंदी बनता है। काम का ईश्वर के साथ यह योग भक्ति-मार्ग द्वारा सहज-सम्पन्न होता है।

आनन्द न सत के प्रसार में है और न चित के ज्ञान तथा प्रयत्न में। उसका स्थान न शरीर है, न प्राण, न मन और न बुद्धि। काम के मूल रूप का स्थान भी इनमें से कोई नहीं है। विश्व का एक-एक कण, उसका एक-एक अंग जाज्वल्यमान ज्वाला में, विवशता की वह्नि में, दुख की दावा में जल रहा है। वह मानव को आनन्द नहीं, दुख ही दे सकता है। आनन्द का निकेतन तो ईश्वर है। सत और चित दोनों का वही विश्रामस्थल है। वही साधनों का साध्य, आश्रयों का आश्रय और दुख-सिन्धु से संतरण पाने का एकमात्र अवलम्बन है। इसी के साथ रहना, इसी के गुण गाना, इससे हट कर अन्यत्र कहीं भी न जाना, अपनी समस्त कामनाओं को इसी में केन्द्रित कर देना आनन्द-प्राप्ति का मार्ग है। यही मार्ग भक्ति काण्ड के नाम से प्रख्यात है।

भक्ति का ज्ञान और कर्म के साथ क्या संबंध है? कर्म गति है, परन्तु विचारसहित। विचार-विहीन गति को हम कर्म की संज्ञा नहीं देते। किसी गति के साथ जब विचार सम्मिलित हो जाता है, तभी उसकी संज्ञा कर्म होती है। घड़ी की सुइयों की गति कर्म नहीं है, सूर्य-चंद्रादि की गति भी कर्म नहीं है, पर जब मैं भक्ति के तत्व को हृदयंगम करने के लिये कोई पुस्तक पढ़ता हूं, तो यह पढ़ना कर्म है। तमोगुणी व्यक्ति विचार शून्य होता है, अतः जड़ कहलाता है। उसके जड़त्व के ऊपर राग-द्वेष-पूर्ण रजोगुण की स्थिति है। रजोगुणी व्यक्ति क्रियाशील होता है। रजोगुण से ऊपर सत्वगुण की स्थिति है। यह ज्ञान और प्रकाश का क्षेत्र है। रज में जैसे तम जड़त्व लीन हो जाता है, इसी प्रकार सत्व में रज के सत-असत मिश्रित कर्म। अब सत्त्व के ज्ञान का विलय किस में होगा? यह निश्चितरूप से अपने पूर्ववर्ती भाव में विलीन होगा। भक्ति एक भाव ही तो है। अतएव कर्म और ज्ञान का पर्यवसान भक्ति में होता है। इस प्रकार विकास-क्रम में कर्म और ज्ञान दोनों के ऊर्ध्वस्थान पर भक्ति विराजमान है। कर्म और ज्ञान दोनों ही भक्ति की उपलब्धि के लिये साधन बनते हैं। भक्ति स्वयं प्रभु-प्राप्ति के लिये साधनारूप है।

भक्ति का सौन्दर्यशास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। रूफस एम. जोन्स अपने ग्रन्थ 'पाथ वेज टु द रियलिटी आफ गॉड' के पृष्ठ ६४ पर लिखते हैं:—'ब्यूटीफुल फेसेज, ब्यूटीफुल सोल्स, फेयर फार्म्स, नोबुल क्रीचर्स ऐन्ड लॉफ्टी ऐक्शन्स आर विन्डोज थ्रू ह्विच द ह्यूमैन सोल, हियर इन ए वर्ल्ड आफ म्युटैबिलिटि ऐंड चेंजेज ग्लिम्पसेज आफ दैट इटर्नल ब्यूटी।' सुन्दर शरीर, सुन्दर आकृतियां, सुन्दर प्राणी, श्रेष्ठ कर्म और उच्च आत्मायें ऐसे सुन्दर वातायन हैं जिनसे मानव इस विनश्वर जगत में भी उस शाश्वत सौन्दर्य की झांकी देख सकता है। भक्त अपने प्रभु को सौन्दर्य का स्रोत समझता है। उसे सुन्दर ही सत्य-सत्य ही सुन्दर और वही कल्याणकारी जान पड़ता है।

आर्यों की आश्रम व्यवस्था के आधार पर मैंने भक्ति के अंगों का निरूपण किया है। ब्रह्मचर्य अवस्था में माता पिता आचार्य के प्रति श्रद्धाभावना से कर्तव्य का पालन, गृहस्थ में तप तथा व्रत के द्वारा भोगों के प्रभाव को दूर करना, संयम के द्वारा उन पर स्वामित्व स्थापित करना, यज्ञ द्वारा साधन-न्यूनताओं की पूर्ति करते रहना और योग के प्रथम अंग यम का सामाजिक कर्तव्य के रूप में पालन करना, वानप्रस्थ में विशेष रूप से और सामान्य रूप से सभी दशाओं में योग के द्वितीय अंग नियम का वैयक्तिक विकास की दृष्टि से सम्पादन करना भक्तिरूपी भवन पर चढ़ने के लिये ऐसे स्वर्ण सोपान हैं, जिन पर चढ़ कर साधक अधोगति की आंधी और दासता की दावा से बाल-बाल बचा रहता है। संन्यास आश्रम सर्वस्व त्याग का आश्रम है। यहां साधक अपना सर्वस्व, अहंकार तक प्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है और अनवरत ब्रह्म-भावना में लीन रहता है। जितनी देर तक वह इस भावना में लीन है, उतनी देर तक वह काल को बन्दी बना लेता है। और मृत्यु को मार डालता है। इसी की सतत वर्तमानता मृत्यु से अतिक्रान्त अमृत अवस्था है।

भक्ति साधन और साध्य द्विविधरूप वाली है। साधक साधन में ही जब रस लेने लगता है, तो उसके फलों की ओर से उदासीन हो जाता है। यही साधन का साध्य बन जाना है। पर प्रत्येक साधन का अपना पृथक फल है। भक्ति भी साधक को पूर्ण स्वाधीनता, पवित्रता, एकत्वभावना तथा प्रभु-प्राप्ति जैसे मधुर फल प्रदान करती है। प्रभु-प्राप्ति का अर्थ जीव की समाप्ति नहीं है, सायुजा और सखाभाव से जीव का अपने स्वरूप में अवस्थित होकर आनन्द का उपभोग करना है।

इन तीन अध्यायों की सामग्री वैदिक भक्ति के लिये पृष्ठभूमि का कार्य करती है जिसका निरूपण चतुर्थ अध्याय में किया गया है। वेद ईश्वर के निरपेक्ष तथा सापेक्ष स्वरूप के संबंध में क्या कहता है, उसमें किस प्रकार की प्रार्थनायें हैं, प्रभु से विलग होकर भक्त के हृदय से कैसा कातर क्रन्दन निकलता है, आत्मनिवेदन, विनयभक्ति की भूमिकायें तथा परवर्ती आसक्तियों का वेद में कितना और कैसा उल्लेख है, प्रभु-प्राप्ति के लिये वेद ने किन साधनों का वर्णन किया है और अन्त में वह इन साधनों से उपलबध जिन सिद्धियों का प्रतिपादन करता है, उनमें कौन सी विशिष्टता है—इन सभी प्रसंगों का वैदिक ऋचाओं के मध्यम द्वारा उद्घाटन किया गया है।

वेद में प्रतिमा पूजन का विधान नहीं है। वैदिक भक्ति—पद्धति साधक को कर्मकाण्ड के साथ चेतना के उतुंग शिखरों तक ले जाती है और वहाँ से अहंकार—समर्पण के द्वारा—आनन्द-धाम तक पहुंचा देती है। वह परम प्रभु के सर्वश्रेष्ठ प्रकाश में निर्भयता, जीवन और आनंद के दर्शन कराती है। इस प्रकाश को जिसने धारण कर लिया, वह निर्भय अखंड जीवनमय तथा आनन्दमय बन गया।

उपासना के लिये वेद ने उन्मुक्त वातावरण, सरिताओं का संगम अथवा गिरि-शिखर के अधिष्ठान को महत्व दिया है। वैदिक भक्ति ज्ञान, कर्म, व्रत, तप यज्ञ आदि का तिरस्कार नहीं, सम्मान करती है। उसने व्यक्तिवाद एवं समाजवाद में भी समन्वय किया है। वह विचार, उच्चार तथा आचार की एकता का प्रतिपादन करती है।

वैदिक भक्ति के तीन अंग हैं:—स्तुति, प्रार्थना और उपासना, जिनमें भागवत की नवधा भक्ति के सभी अंग अंतर्भुज नहीं हो पाते। मैंने इन तीन अंगों को गुणकीर्तन

प्रार्थना, व्याकुलता, साधन और सिद्धि नाम के पांच अंगों में विभक्त कर दिया है। इस विभाजन द्वारा वेद-वर्णित कुछ ऐसी भावनायें भी पाठकों के समक्ष आ जाती हैं, जो सगुण एवं साकार अवतारी इष्टदेवों के सम्बन्ध में भागवत भक्तों के हृदय से निस्सृत हुई हैं। चतुर्थ अध्याय में ही वेद से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों में जो भक्ति-विषयक सामग्री मिल सकी है, उसका भी वर्णन कर दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह सामग्री स्वल्प है। ओ३म् की महत्ता का प्रतिपादन अवश्य आ गया है। शतपथ ब्राह्मण याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ ज्ञान तथा भक्ति का भी वर्णन करता है। द्वेष से दूर रहना, सब से प्रेम करना, दिव्यता और पवित्रता की ओर प्रयाण करना, ओ३म् तथा मंत्रों का जाप करना, यज्ञ-व्रतादि का पालन करना और आत्म तत्व को प्राप्त करना ऐसे साधन हैं जो भक्ति के भी अनिवार्य अंग कहे जा सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञ-संस्था भक्ति को अपना कर चली थी। आर्षेय ब्राह्मण में उपासना का रूप स्पष्ट हो उठा है। यह सामवेद का ब्राह्मण है। व्याहृतियों में स्वः के साथ इसका सम्बन्ध है जिसका अर्थ आनन्द होता है। भक्ति काण्ड का भी आनन्दमय कोष से संबंध है। आर्षेय ब्राह्मण प्रणव तथा गेय परम देव अर्थात नाम एवं नामी की एकता का प्रतिपादन और उद्गीथ की उपासना-विधि का उल्लेख करता है। गोपथ ब्राह्मण में ओ३म् के सहस्रवार जाप का वर्णन है, जिसके द्वारा असुरत्व से देवत्व की रक्षा होती है। इसमें साम अर्थात् भक्त को वेद अर्थात ज्ञान का रस कहा गया है।

उपनिषद् साहित्य में प्रभु को रस रूप माना गया है और लिखा है :—"रसंहि अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति" (तै० ७–२) रस रूप प्रभु को प्राप्त करके साधक आनन्दमय बन जाता है। कठोपनिषद तथा मुण्डक उपनिषद का ऋषि तो स्पष्ट स्वर में प्रभु-कृपा को ही महत्ता देता है, जो भक्ति का प्रमुख अंग है। उपनिषदों में श्रद्धा, गुरु का आश्रय, ओ३म् नाम का आलम्बन उपासना आदि भक्ति के कई अंगों का वर्णन मिलता है। फिर भी वेद में भक्तिका जैसा सर्वांग-विकसित रूप दिखाई देता है, वैसा ब्राह्मणग्रंथों तथा उपनिषदों में नहीं। ऋग्वेद के वरुण सूक्त में (७–८६) प्रभु के विरह और तज्जन्य व्याकुलता का जो मर्म-वेधी वर्णन है, प्रभु के साथ एक हो जाने की जो भक्त की हृदयस्पर्शी पुकार है, वह ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में उपलब्ध नहीं होती।

पंचम अध्याय का सम्बन्ध भागवत भक्ति से है। यह वह मध्यवर्ती शृंखला है, जो वैदिक भक्ति को हिन्दी के भक्ति काल से संयुक्त कर देती है। इसमें ११ प्रकरण है। सर्वप्रथम भागवत धर्म का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है। भागवत धर्म की दो शाखायें हैं—पांचरात्र तथा बैखानस। इन दोनों शाखाओं के साहित्यिक परिचय के साथ इनकी मत-विभिन्नता का भी उद्घाटन किया गया है। ब्राह्मणग्रंथों तथा इन दोनों शाखाओं के कतिपय ग्रंथों का अध्ययन करके मैं इस परिणाम पर पहुंचा कि हमारी यज्ञ-संस्था ही कालान्तर में मन्दिर निर्माण तथा प्रतिमा-प्रतिष्ठा में परिणत हो गई। ऐतद्विषयक मेरे विचार 'यज्ञ से मूर्तिपूजा तक' शीर्षक पंचम प्रकरण में निबद्ध है।

वैष्णव भक्ति पर जिस प्रकार श्लोक-बद्ध संहिताओं की रचना हुई (बैखानस साहित्य गद्य में भी है), उसी प्रकार सूत्र शैली मे उस पर नारद भक्तिसूत्र तथा शाण्डिल्य

भक्तिसूत्र भी लिखे गये। इन दोनों सूत्र ग्रन्थों में निरूपित भक्ति का मैंने वैज्ञानिक विश्लेषण किया है और श्रीमद्भागवत तथा भक्तिरसामृतसिन्धु में उल्लिखित भक्ति के अंगों के साथ उसकी तुलना की है। विष्णु की महत्ता तथा अवतारवाद पर मैंने अपने ढंग से विचार किया है। आलवार, उनकी भक्ति भावना तथा आचार्य रामानुज, मध्वभट्ट, निम्बार्क और विष्णु स्वामी का भागवत संप्रदाय के साथ विशेष सम्बन्ध है। अतः इनके संबंध में भी मैंने अपने विचार प्रकट किये हैं। अन्त में वैष्णव साहित्य के आधार पर भागवत भक्ति के क्रमिक विकास की मीमांसा की गई है।

भागवत भक्ति की इस मध्य शृंखला का अध्ययन हिन्दी कवियों की भक्ति को समझने के लिये ही नहीं, वैदिकभक्ति के तत्त्वों तक पहुँचने के लिये भी आवश्यक है। वेद-वर्णित प्रभु के अनेक नामों में से किस प्रकार कतिपय नामों को प्रभुता प्राप्त हुई और फिर उनके भी स्थान पर तथा उनके साथ-साथ किस प्रकार अन्य नामों की प्रतिष्ठा होती गई, किस प्रकार अवतारवाद का प्रारंभ हुआ, किस प्रकार हम यज्ञ संस्था का परित्याग करके प्रतिमा-पूजन तक पहुँचे और किस प्रकार सदाचार तथा चिर विरह को भक्ति के अंगों में प्रधान स्थान मिला—यह सब भागवत भक्ति के अध्ययन से ही स्पष्ट होता है। इस प्रसंग में उठे हुए प्रश्नों के उत्तर भक्ति के ऐतिहासिक विकास के रोचक विश्राम-स्थल हैं, जिनकी अन्तिम सीमा पर ईश्वर के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम के आकर्षक दृश्य दिखाई देते हैं। वेद का यह पुराण में परिणमन है। इससे निराकार साकार बना, अनन्त सान्त बना और सूक्ष्म स्थूल बना। प्रभु स्थावर एवं जंगम दोनों का आत्मा है। फिर जंगम चेतना ही क्यों, स्थावर द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति और भक्ति क्यों न की जाय? पल-पल में इसी स्थावर की अनुभूति हमारी जीवन-संगिनी बनती है। गत्यात्मक चेतना तक तो बिरले प्राणियों की ही पहुँच हो पाती है।

पर, यह लिखना तो वैष्णव आचार्यों, कवियों और साधकों के साथ अन्याय करना होगा कि वे केवल स्थूल से ही चिपटे रहे। वास्तव में स्थूल द्वारा वे सूक्ष्म तक पहुँचे हैं। जैसे पौराणिक कथायें मांस-पिंड के ऐतिहासिक व्यक्तियों का रूप खड़ा करके हमें सूक्ष्म आदर्शों तक ले जाती हैं, उसी प्रकार वैष्णव प्रतिमायें और उनके नाम हमें परम सत्ता का बोध कराते हैं। इस विषय में संदेह के लिये कोई स्थान नहीं है।

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल किन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ, किन धार्मिक आन्दोलनों का उस पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा, इस युग के हमारे साहित्य की प्रमुख विशेषतायें क्या हैं और कौन कौन कवि उनका प्रतिनिधित्व करते हैं—इन विषयों पर छठवें अध्याय में लिखा गया है। इस अध्याय के एक प्रकरण–हिन्दी काव्य पर सूफी प्रभाव की मीमांसा—में मैंने नये सिरे से विचार किया है। संभव है पाठकों को उसमें कुछ नवीन सामग्री हस्तगत हो।

सप्तम, अष्टम, नवम तथा दशम अध्यायों में क्रमशः हिन्दी के भक्तिकालीन प्रतिनिधि कवियों–कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की भक्ति का निरूपण है। इस भक्ति की एक प्रमुख विशेषता पौराणिकता है, जिसमें ध्रुव, प्रह्लाद, अजामिल, अंबरीश, गज-ग्राह आदि की भक्ति-परक कथायें आती हैं, प्रभु के नाम, रूप, गुण, लीला और धाम की अपनी अपनी वृत्तियों के अनुकूल चर्चा है तथा वैष्णवी और नारदी भक्ति का बार-बार

उल्लेख है। निर्गुण पंथी कबीर की रचनाओं में भी ये विशेषताय पाई जाती हैं। मलिक मुहम्मद जायसी सूफी हैं और यद्यपि भक्ति शब्द उनकी रचनाओं में एकाधवार ही आया है, पर वे भी हिन्दुओं की इस पौराणिकता से प्रभावित हैं। नाथ पंथी गोरख, भर्तृहरि, गोपीचंद का नाम तो वे लेते ही हैं, साथ ही वैष्णवों के राम और कृष्ण की गाथाओं को भी विस्मृत नहीं होने देते। हिन्दू पौराणिकता के साथ उन्होंने अरबी तथा पारसीक पौराणिकता का भी संयोजन किया है।

जिस सदाचार की प्रतिष्ठा भक्ति के अंगों में हो चुकी थी, उसका वर्णन प्रभु-प्राप्ति के साधनों के रूप में इन चारों कवियों ने किया है। सूर के प्रारम्भिक पद तो इस भक्ति-भावना के विषय में अन्य कवियों से समानता रखते हैं, पर उनकी परवर्ती रचना जो आचार्य वल्लभ और गोस्वामी विट्ठलनाथ के संपर्क में लिखी गई, एक भिन्न पथ का अनुसरण करती है। उसमें भक्ति के वे तत्व उसी रूप में दिखाई नहीं देते, जो कबीर और तुलसी में वैष्णव भक्ति के तत्वों के अनुकूल आये हैं। सूर का हरिलीला गायन न कबीर में है, न जायसी में और न तुलसी में। तुलसी ने सृष्टि के उत्पादन, पालन और संहार रूपी लीला के साथ सामाजिक तत्त्वों को भी मिला दिया है। सूर भावमयी लीला के अतिरिक्त अन्यत्र पैर नहीं रखते। उनके लीला दर्शन के इसी पक्ष को हमने ऐकान्तिक एवं सामाजिकता से शून्य कहा है।

वैदिक भक्ति के साथ इन कवियों की भक्ति का कहां तक साम्य है और कहां तक वैषम्य—इस विषय का विवेचन प्रबन्ध के अंतिम एकादश अध्याय में किया गया है। प्रभु एक है पर उसके नाम अनेक हैं—यह तथ्य वैदिक ऋषियों से लेकर आज तक के भक्तों को मान्य रहा है। इस विषय में कबीर वेद के अधिक निकट है। सूर की प्रारम्भिक रचनाओं में भी यह तथ्य विद्यमान है। जैसे वेद नाना नामों द्वारा उस एक की ही स्तुति करता है, वैसे ही कबीर और सूर अपने समय में प्रचलित विभिन्न नामों द्वारा उस एक के स्तवन में ही लीन हैं। वैदिक युगीन नामों में से केवल ओ३म्, ईश, शिव, विष्णु, हरि और ब्रह्मा नाम ही इस युग में अवशिष्ट रह सके थे। अन्य नाम या तो देवता विशेष से सम्बद्ध हो गये, या किसी के वाहन, पुत्र और पत्नी बन गये। पौराणिकों के अलंकार आख्यानों ने उनके वाच्यार्थ में ही परिवर्तन कर दिया। राम और कृष्ण नामों का प्रचार इस युग में विशेष रूप से हुआ।

वेद-वर्णित प्रभु के विराट रूप के साथ इस युग में अवतारवाद की भावना का सम्मिश्रण हुआ। सृष्टि के आविर्भाव में पुरुष का आद्यावतार और राम तथा कृष्ण के पारिवारिक व्यक्तियों में भागवतों के चतुर्व्यूह की कल्पना, जो श्रीकृष्ण के साथ ही प्रारम्भ हुई, प्रचलित थे। प्रतीकों के आधार पर भगवान के आयुधादि की कल्पना भी जनता के लिये मनोमुग्धकारिणी बनी हुई थी।

धामों का वर्णन कबीर में वेदानुसार है, पर तुलसी का वैकुण्ठ और क्षीरसागर तथा सूर का गोकुल और वृन्दावन वेद के नहीं, पुराणों के आधार पर हैं। जायसी का सतखंडा महल वेद के सप्त धामों का स्मरण कराता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भक्ति में नाम-रूपादि की चर्चा जो सूक्ष्म मानसिक स्तर से संबन्ध रखती थी, पौराणिक युग में स्थूल तथा साकार से सम्बद्ध हुई। प्रतिमा-

विहीन की प्रतिमायें बनीं और उनके लिये विशाल मन्दिरों के निर्माण का आयोजन हुआ। कबीर ने इसे सूक्ष्म स्तर की ओर ले जाना चाहा, पर सगुण भक्तों ने उसे पुनः जहां का तहां स्थिर कर दिया। भगवान के अनुग्रह का संपादन और उसकी अमोघ-प्रभविष्णुता सभी भक्त कवियों को स्वीकार है।

नाम-रूपादि के अतिरिक्त इन कवियों की भावानुभूतियों का वैदिक भक्ति के साथ विशेष साम्य है, जिसका विवेचन इस अध्याय के अन्त में किया गया है। साम्य के साथ परिस्थिति-जन्य वैषम्य भी है, जो संकल्प, सिद्धियों की स्पष्टता और साधनों के व्यापक रूप में दिखाई देता है।

घन :

जिन्हें ठोस धातु का बनाया जाता था और ताल देने के कार्य में आते थे। मजीरा, घंटा, घड़ियाल, झिल्लरी, झांझ।

स्त्रियों के मनोरंजन के साधन :

स्त्रियों का मनोरंजन गीत आदि गाने से अधिक होता था। प्रत्येक त्यौहार उत्सव पर वे एकत्रित होकर गीत गाती थीं, नृत्य करती थीं तथा ऋतु विशेष पर भी गीत गाये जाते थे। जैसे सावन में मल्हार, फागुन में होली आदि। सावन में झूला झूलना आदि में उनकी विशेष रुचि थी। विशेष अवसरों पर गीत आदि गाकर भी मन के दमित भावों का रेचन भी कर लेती थीं।

वैसे स्त्रियां तालाब नदी आदि में स्नान करने भी जाती थीं जिससे उनका पर्याप्त मनोरंजन हो जाता था। ऐसे अवसर पर सबका सदैव पर्याप्त मनोरंजन हो जाता था। मगर ये अवसर सबको सदैव प्राप्त न थे।

उत्सव और त्यौहार :

उत्सवों का वर्गीकरण कुछ इस प्रकार था :

(१) व्रत विषयक।
(२) संस्कार विषयक।
(३) त्यौहार विषयक।
(४) पूजा प्रतिष्ठा विषयक।
(५) मेले हाट आदि।
(६) आकस्मिक तमाशे आदि।

(१) व्रत विषयक में विशेष तिथियों अथवा दिवसों पर व्रत रखना। और इच्छा पूर्ति की कामना करना। ऐसे एकादशी, पूर्णिमा आदि के व्रत।

(२) संस्कार विषयक : वास्तव में ये उत्सव न थे, मगर सामर्थ्य के अनुसार इसमें प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ धूम धाम करता था और उत्सव का रूप इसे प्राप्त हो जाता था।

(३) त्यौहार : भारतीय समाज में त्यौहारों का विशेष महत्व रहा है भारत में त्यौहारों की संख्या भी अधिक है। प्रत्येक मास में कोई न कोई त्यौहार आदि आ ही जाता था। होली, दिवाली, दशहरा, सलूना, बसंतपंचमी, जन्माष्टमी आदि मुख्य थे।

(४) पूजा प्रतिष्ठा आदि : इनमें धार्मिक उत्सव आते हैं जो जन साधारण न मनाकर सम्प्रदाय विशेष अधिक धूम धाम से मनाते थे ।

संवत्सर :

गनगौर, रथयात्रा, पवित्रा, राधाअष्टमी, सांझी आदि ।

(५) मेले हाट को भी उत्सव का ही रूप मिल जाता था ।

(६) आकस्मिक तमाशों में नृत्य, अखाड़े आदि आते हैं ।

वस्त्रों के द्वारा किसी भी समाज की सभ्यता, संस्कृति का पता चलाया जा सकता है। इस युग में स्त्रियों को साज सज्जा विशेषतः सुरुचि और वैविध्यपूर्ण थी। अलंकारों और प्रसाधनों का भी विशेष प्रचलन था ।

बालकों के वस्त्रों में अधिक विविधता नहीं थी । वे इस प्रकार थे शरीर पर कटि के ऊपर झंगुलिया जामा झंगा चोला उपरना पिछोरा फेटा ।

शिर पर :

(१) टिपारा, चोतनी टोपी, कुलह पाग ।

(२) शिर पर आभूषण, पेच रत्न पेच गो समावल कतरा कलंगी, कटि से नीचे । धोती सूथना, सूथन, जघन, जांघिया तनिया काछिनी ।

आभूषण भी भिन्न भिन्न प्रकार के पहिनाये जाते थे । मस्तक, कंठ, वक्षस्थल, हाथ बालकों को कान, नाक, कटि और पैरों सभी में आभूषण पहिनाने का उल्लेख मिलता है ।

स्त्री :

स्त्रियों के १६ शृंगारों का वर्णन मिलता है । स्नान, तेल मर्दन बालों का संभालना, काढ़ना, गूंथना, अंगराग लगाना, सुन्दर वस्त्र शरीर में भिन्न भिन्न भागों के लिए सुन्दर आभूषण, काजल, मेंहदी रचाना, पान चर्वण आदि ।

स्त्री के वस्त्रों में साधारणतः ओढ़नी, चोली, लहंगा और धोती अथवा साड़ी थी, परन्तु उनके विभिन्न प्रकारों को देखा जाय और कपड़ों में रंगकीबारीकी या सजावट को देखा जाय तो आश्चर्य होता है कि वास्तव में उस युग में कला अपनी सीमा को पहुँच गयी थी ।

पांच रंग की साड़ी, पंचतौलिया साड़ी, जरी की साड़ियां, लहरियां की साड़ियां, तारामंडल की ओढ़नी आदि का खूब प्रयोग होता था । कपड़ों के भिन्न भिन्न प्रकार के कटाव थे । चोलियों के कटाव भी कई प्रकार के थे। आभूषणों में शरीर का कोई अंग बिना आभूषण के नहीं था । सिर के बालों से लेकर पैरों की उंगलियों तक में आभूषण पहिने जाते थे । हाथों के प्रत्येक पोर में छल्ले पहिनने की प्रथा थी । शिर, मस्तक, हाथ, कान, नाक, दांत, कंठ, कुहनी, कलाई, उंगली, अंगूठा, वक्षस्थल, कटि, जंघा, टखने, पैरों की उंगलियों तक में आभूषण पहिने जाते थे ।

ऊपरी सजावट के लिए तरह तरह से बालों का काढ़ना, सुगंधित करना, फूलों से सजाना, गुदना कराना, अंगराग लगाना, मेंहदी, काजल, अंजन का प्रयोग तथा पान आदि खाने का प्रचलन था ।

पुरुष :

पुरुष साधारणतः अंगरखा, झंगा, पाग, साफा का प्रयोग करते थे । कटि से नीचे धोती और पाजामा का प्रचलन था । पिछोरा डालने का भी रिवाज था । दरबारी पोशाक अलग ही थी । वैसे जाति गत भेष भी थे । ब्राह्मण का वेष, राजपूत का वेष, ग्वाले का वेष, वणिक का वेष, योगी, गुसाईं, भिखारी आदि के भिन्न भिन्न वेष थे । पुरुषों को भी अपने को बना ठना कर दिखाने का शौक था । छैला शब्द इसी युग में प्रयुक्त हुआ है ।

रोग :

साहित्य में रोगों का वर्णन स्थान स्थान पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से हुआ है । भारतीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार रोग वात, पित्त, कफ के बिगड़ जाने से होता है जिसकी परीक्षा वैद्य लोग नाड़ी देखने से ही कर लेते हैं । तथापि साध्य असाध्य रोगी को भी पहिचान लेते हैं ।

साहित्य में
चर्म : खाज, न्हारू, डौरू, बालतोड़, व्रण दाद, कोढ़ ।
मस्तक : आधाशीशी और मस्तक पीड़ा ।
नेत्र : जाला और शलाका से उसका इलाज रतौंधी ।
नाक : पीनस ।
दांत : दांत खराब होना ।
पेट : पेट दर्द, उदर वृद्धि, अजीर्ण ।
हृदय : जलन, श्वांस, पसली ।
कान : कर्ण शूल ।
बुखार आदि : क्षय और उसका इलाज, सेनापति, तुलसी का मृगांक ।
ज्वर : शीतला, मृगी, खून खराबी, जौंक का प्रयोग, प्लेग, तिजारी, बेहोशी ।
गला : खांसी ।
सर्प बिच्छू का काटना ।
आग से जलना ।

रहन सहन और मकानों की व्यवस्था :

राजनैतिक परिस्थितियों के कारण सदैव युद्धों का भय बना रहता था । इसलिए अधिकांशतः नगरों के चारों ओर परकोटा बनाया जाता था । मुगल साम्राज्य स्थापित हो चुका था । नगरों को सुन्दर बनाने का शौक लग गया था । बाग बगीचे, तालाब, बावड़ी और कुएं आदि को प्रधानता दी जाती थी । बागों में तरह-तरह के फल, सुगन्धित पुष्प वाले पेड़ और पौधे लगाये जाते थे । उद्यानों में कृत्रिम नहर, फुव्वारे और पहाड़ों के दृश्य होते थे ।

राजाओं और सामन्तों का रहन सहन साधारण प्रजा के रहन सहन से बिलकुल भिन्न था । यदि एक ओर छोटे-छोटे किले थे तो दूसरी ओर कच्ची दीवालों पर फूंस की झोंपड़ियां पड़ी थीं । एक ओर भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिए पृथक पृथक भंडार गृह

थे तो दूसरी ओर एक मात्र छोटी झोंपड़ी ही समस्त कुटुम्ब का निवास स्थान था। सामन्तों, धनिकों के घरों पर भी बाग बगीचे थे। पत्थर ईंट और चूना मकानों की निर्माण सामग्री थी। दीवालें भिन्न भिन्न प्रकार के चित्रों से सुशोभित रहती थीं। पटाव लादव का होता था। सोट, कड़ी का भी प्रयोग था। मध्यवर्गीय लोगों के मकान साधारण स्थिति के थे। पशु पालन का शौक था। अधिकतर पशु नौहरे में बांधे जाते थे।

धनिक वर्ग अपने मकानों को झाड़ फानूस और रंग बिरंगे पदार्थों से सजाते थे। दीप वृक्ष आकाश दीप आदि की भी रिवाज थी।

मकानों की व्यवस्था के अतिरिक्त रहन सहन की अवस्था में धनिक और निर्धन व्यक्तियों में जमीन आसमान का अन्तर था। धनिक लोगों का जीवन विलासिता का जीवन था। नौकरों के द्वारा समस्त कार्य होता था। आखेट खलते रहते थे। जाड़े, गर्मियों के जीवन को अपनी सुख सुविधा पूर्वक थोड़ा बहुत बदल लिया जाता था। निर्धन व्यक्ति प्रत्येक ऋतु में कष्टमय जीवन बिताते थे। उन्हें सदैव पेट की चिन्ता रहती थी।

समाज और शिष्टाचार:

समाज म शिष्टाचार आदि के नियम थे जिनसे घर की सुख शान्ति स्थापित रहती थी। वृद्ध पुरुषों का आदर करना, सम्मान सूचक शब्दों से सम्बोधित करना, भारतीय पद्धति की मुख्य परम्परा रही है। प्रातः काल अपने से बड़ों को प्रणाम करने की प्रथा थी और बड़े लोग आशीर्वाद देते थे। अपने से बड़े दंड देते, तो छोटों को कुछ कहने का अधिकार न था। घर में कलह भी होती थी मगर रूठे व्यक्ति को मनाना धर्म समझा जाता था। अतिथि सत्कार गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य था। बिना नौते कहीं नहीं जाते थे। जब किसी से मिलने जाते थे तो कुछ लेकर जाते थे। छोटे बच्चे यदि किसी के घर जाते तो उन्हें मिठाई आदि खिलाई जाती थी। भोजन आदि करने में शुद्धता का ध्यान रखा जाता था। नग्न बदन चौके में खाना अच्छा समझा जाता था। सार्वजनिक स्थानों पर स्नान करने का स्त्री पुरुषों के लिए अलग अलग प्रबन्ध भी होता था : ब्राह्मणों का सत्कार अनिवार्य था। पंचों का भी सम्मान किया जाता था और सभाओं में छोटे बड़े के बैठने का अलग अलग प्रबन्ध होता था। आत्म श्लाघा बुरी समझी जाती थी।

इतना होने पर भी समाज में बुराइयां घुस गई थीं। ससुराल का अधिक मोह बढ़ गया था। माता पिता की आज्ञा मानना और उनका सम्मान करना आदि उत्तम बातों की ओर कम ध्यान दिया जाने लगा था। वेश्या गमन, परस्त्री रमण आदि बुरी बातें बढ़ गई थीं। स्त्री को लोग पीटते थे। घर जमाई रखने की पृथा चल गई थी। भिखारी बढ़ गये थे। चोरी, डाका, ताला तोड़ना, आदि साधारण बातें थीं। चोरों का पता खोजी लगाते थे। ठगों के भिन्न भिन्न प्रकार के जाल थे जिससे धन अपहरण करके व्यक्ति को मार तक डालते थे।

विश्वास :

समाज में शकुन और महूर्तों में अधिक विश्वास किया जाता था। प्रत्येक शुभ कार्य ज्योतिषी अथवा पंडितों से पूछकर शुभ लग्न में किया जाता था। यह शकुन निज

अंगो की क्रिया प्रक्रिया पर अथवा जानवरों, पशु, ग्रहों, तिथियों, वारों का भी ध्यान रखा जाता था।

शकुन लेना, स्वप्न आदि के अर्थ लगाना, ज्योतिषी अथवा पोपाओं को हाथ दिखाना आदि साधारण बातें थीं। भूत, प्रेत और चुड़ैल में लोगों का विश्वास था। उनके प्रभाव को घटाने के लिए ओझा लोग रहते थे। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि अधिकतर समाज इन्हीं अन्ध विश्वासों में जकड़ा हुआ था और साधारण स्थिति के लोगों का इतना साहस न था कि इनका प्रतिरोध कर सकें।

ग्राम्य जीवन :

भारतवर्ष की सभ्यता ग्राम्य सभ्यता रही है। सामाजिक जीवन के सुन्दर चित्र ग्रामों में ही देखने को मिलते हैं। ग्रामों में मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग होता था। स्त्री पुरुष मिलकर कार्य करते थे। स्त्रियां खेतों पर भी कार्य करने जाती थीं। कच्चे मकानों पर फूस के छप्पर पड़े रहते थे। उनको लीपना सम्हालना सब घर के लोगों का कार्य था। कुछ कार्य ऐसे थे जिन्हें स्त्रियां करती थीं। जैसे काछिन, लकड़हारिन, दाई, नाइन, भंगिन, कुम्हारिन, धोबिन, बारिन, रंगरेजिन, आदि के कार्य। ग्रामों में गंदगी अवश्य थी। ग्रामों में आग बहुधा लगती थी जिसे पानी से बुझाया जाता था। घरों में लकड़ी कंडों का प्रयोग होता था। कंडों के बिटौरे लगाये जाते थे। चकमक से आग प्रज्वलित की जाती थी। दियासलाई न थी। आतिशबाजी भी प्रयोग में लायी जाती थी। प्रकाश के लिये तेल के दीपकों का प्रयोग होता था।

ग्रामों के लोग जानवरों को चराने गांव से बाहर जंगल में ले जाते थे और वहां पर तालाबों और गड्ढों पर जानवर पानी पीते थे। पुरुष भी उन्हीं तालाबों का पानी पी लेते थे। खेती हल बैल से होती थी। सिंचाई के साधन चरस, रहट और ढेंकुली आदि थे। खेतों में खाद देना, बीज बोना, नराना, काटना, लावनी करना आदि के वर्णन मिलते हैं। कृषि की समस्त क्रियाओं का उल्लेख साहित्य में मिलता है।

ग्रामों के मुख्य उद्योग निम्नलिखित थे। कुम्हार, तेली का कार्य, गुड़ बनाना, भड़भूजे का कार्य, जुलाहे का कार्य, लुहार, बढ़ई का कार्य।

ग्रामों में रथ, बहली, लड़ा, पालकी, चंडोल आदि का प्रयोग होता था। जानवरों, जैसे घोड़ा, ऊँट, गधा, बैल आदि को लादने और सवारी के कार्य में लाया जाता था।

ग्रामों में पटवारी के अत्याचार अधिक होते थे और वही उस समय का मुख्य पदाधिकारी था। लूटमार, चोरी, ठगी आदि साधारण बातें थीं। साहूकार भी लोगों को ऋण देता था और अन्त में तंग करता था।

नागरिक जीवन :

नगरों में संकरी, कच्ची गलियां होती थीं जिनमें विशेष अवसरों पर छिड़काव होता था। बड़े नगरों में भिन्न भिन्न वस्तुओं के लिए पृथक् पृथक् बाजार होते थे। व्यापारी लोग दूर दूर से माल बेचने आते थे। विदेशी व्यापार भी होता था। जहाजों द्वारा माल लाया जाता था। नगरों में व्यापारी माल कोठियों में भरते थे। पशुओं पर लादकर भी माल लाया

जाता था। सिर पर लादकर भी माल बेचा जाता था। आढ़तियों द्वारा माल बेचा जाता था। दलाल भी होते थे।

नगरों में साहूकार थे, जो हुंडियों का व्यापार करते थे। सुनार लोग स्वर्ण की चीजें बनाते थे। सोना चुराना उनका साधारण गुण था। सर्राफ जड़िया और पटवा भी स्वर्ण तथा चांदी के आभूषणों को बनाने, सम्हालने का कार्य करते थे। धुनिया, पिंजारा, कोली, जुलाहा, रंगरेज, छीपी, बजाज आदि नगरों में रहकर अपना अपना कार्य करते थे। मिठाई वाले की दुकान होती थी जो तरह तरह की मिठाइयां बेचता था। पंसारी की दुकान पर मसाले मिलते थे। गंधी, यंत्री, वाद्य यंत्र बनानेवाला, ठठेरा, कामदी, कुंदीगर, साबुन बनाने वाला, टीन के डिब्बे बनाने वालों की भी दुकानें होती थीं। बाजार में पशु पक्षी बिकते थे और गोश्त की दुकानें भी थीं। पका हुआ गोश्त भी बाजार में मिलता था। हथियार बनाने वालों की भी दुकानें होती थीं। कौड़ी, दाम, पैसा, रुपया और मुहरों का प्रचलन था। तौल में मन, सेर का प्रयोग था। छटांक शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था।

शहरों में सराय और धर्मशालाएँ होती थीं। मकान न होने पर दूसरों के मकानों में भी लोग रहते थे। नगरों में एक दूसरे को लोग नहीं जानते थे। शिक्षा चटसारों में दी जाती थी। स्त्री शिक्षा की ओर ध्यान न था। जन साधारण की पढ़ने में विशेष रुचि न थी।

राजनैतिक जीवन:

समस्त देश में यद्यपि मुगल सम्राटों का राज्य था फिर भी छोटे छोटे राजा यत्र-तत्र पनप रहे थे और फलस्वरूप कुछ प्रजा पर अत्याचारों का बाहुल्य था। आसपास की प्रजा को लूटना उनके लिए साधारण सी बात थी। राजाओं का जीवन विलासी था। दरबारों की शान शौकत देखने योग्य थी। दरबार में पदों के अनुसार लोग बैठते थे। भाट चारण यश गान करते थे। राजा लोग प्रसन्न होने पर पुरस्कार भी देते थे। राजा लोगों के रनिवास रानियों और दासियों से भरे रहते थे। खोजा और हब्शी लोग पहरा देते थे।

साम्राज्य सूबों और जिलों में बटा हुआ था। जगह जगह पर गुप्तचर घूमते थे। कैदियों की बहुत दुर्दशा होती थी।

युद्ध में भिन्न भिन्न प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग होता था। योद्धाओं, हाथियों और घोड़ों के बचाव के लिए लोहे के जिरह बख्तर अथवा कवच होते थे। तलवार, भाले और तोपों के भिन्न भिन्न प्रकार होते थे जिनका वर्णन पीछे हो चुका है।

धार्मिक स्थिति :

धार्मिक जीवन म क्रान्ति आ चुकी थी। तरह तरह के मत मतान्तर उठ खड़े हुए थे। कई प्रकार की पूजा पद्धतियां प्रचलित थीं और उनका समावेश प्रत्येक के जीवन में हो गया था।

इस प्रकार एक नागरिक का धार्मिक जीवन कई मत मतान्तरों के योग का प्रतिफल था और परिणाम स्वरूप अन्धविश्वासों की जड़ गहरी घुस गई थी। मुख्य मुख्य धार्मिक विश्वास इस प्रकार थे :

१. वैदिक पूजा पद्धति, प्राकृतिक पूजा में विश्वास रखने वाले।

२. नदियों की पूजा ।
३. वृक्षों की पूजा ।
द्राविण पद्धति वाले नाग पूजा, भूत प्रत पूजा आदि ।
४. शाक्त सम्प्रदाय ।
५. अलख सम्प्रदाय ।
६. बौद्ध ।
७. शैव : जोगी जंगम, अघोरी, दंडी, कड़ालिंगी, अवधूत ।
८. सिद्ध और नाथ, गोरख, कथर, भरथरी, कनपटा, जोगी ।
६. वैष्णव सम्प्रदाय ।
   (१) निम्बार्क सम्प्रदाय ।
   (२) मध्वाचारी सम्प्रदाय ।
   (३) श्री सम्प्रदाय ।
   (४) विष्णु स्वामी सम्प्रदाय ।

कुछ अन्य सम्प्रदाय भी थे :

(१) रामानन्दी सम्प्रदाय, (२) दत्तात्रेय सम्प्रदाय, (३) हरिदासी सम्प्रदाय, (४) गाधावल्लभी सम्प्रदाय, (५) चैतन्य सम्प्रदाय ।

१०. निर्गुण सम्प्रदाय : इसमें कबीर पंथी, मलूक दासी, दादू पंथी, रैदासी, सेनापंथी, नाथ पंथी आदि थे ।
११. संन्यासी और वैरागी ।
१२. जैन ।

साधू लोग साधारण जनता को बहकाने अथवा अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तरह तरह के अद्भुत कार्य किया करते थे । ये शरीर सम्बन्धी, भोजन सम्बन्धी, उपासना सम्बन्धी, सौंदर्य सम्बन्धी अथवा आश्चर्योत्पादक कार्य थे । देवी देवता भी तरह तरह के थे । इनमें मानव और मानवेतर दोनों प्रकार की मूर्तियां थीं । इनके वाहन पशु भी पक्षियों में से थे । देवी देवताओं का यथोचित सत्कार होता था । जैसा कि वर्णन किया जा चुका है, औरंगजेब के समय में हिन्दुओं पर अत्याचार होने लगे थे ।

डॉ० जयराम मिश्र

आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त

सर्व प्रथम 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी' के संकलन के संबंध में ट्रम्प मैकालिफ तथा साहिब सिंह के मतों का उल्लेख करके एक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की गई है।[1] तत्पश्चात् 'ग्रंथ साहिब जी' के वाणीकारों—६ गुरुओं[2] १६ अन्य भक्तों[3] अनेक भट्टों[4] तथा सुन्दर, मरदाना, सत्ता-बलवंड[5] का उल्लेख है।

'ग्रंथ साहिब जी' के भीतरी क्रम में विविध रागों[6], घरु आदि के संबंध में बता कर रागों के वाणी रखने में क्रम की ओर संकेत किया गया है[7], जिसमें 'सबद', 'अष्टपदीआं', 'छंत', 'वारां' हैं। प्रत्येक राग में पहले सिक्ख गुरुओं की वाणियां हैं, तत्पश्चात् भक्तों की। भक्तों की वाणियां केवल २२ रागों में ही हैं[8]। शब्दों, अष्टपदियों. छंतों तथा वारों के अतिरिक्त कुछ रागों में कुछ वाणियाँ खास खास नामों से प्रसिद्ध हैं[9]।

इसके पश्चात् सिक्ख धर्म इतिहास एवं 'आदि श्री गुरुग्रंथ साहिब जी' संबंधी साहित्य का सिंहावलोकन किया गया है[10] तथा प्रस्तुत अध्ययन के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है[11]।

विषम राजनीतिक[12] सामाजिक[13] और धार्मिक परिस्थितियों[14] में सिक्ख धर्म की संस्थापना हुई[15]। इसके लिये पहले भी प्रयास हो चुके थे, पर कुछ अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई[16]।

भारत के तत्कालीन शक्ति सम्प्रदाय[17], शैव सम्प्रदाय[18], वैष्णव सम्प्रदाय[19], नाथ-सम्प्रदाय[20], कबीर-पंथ[21], जैन धर्म[22], बौद्ध-धर्म[23], इस्लाम-धर्म[24], तथा सूफीमत[25], के सिद्धान्त

१—देखिये थीसिस पृष्ठ २-१५ २—पृष्ठ १५-२२ ३—पृष्ठ २२-२३ ४—पृष्ठ २३-२४ ५—पृष्ठ २४ ६—पृष्ठ २५-२६ ७—पृष्ठ २६-३० ८—पृष्ठ ३० ९—पृष्ठ ३०-३२ १०—पृष्ठ ३३-५२ ११—पृष्ठ ५२-५६ १२—पृष्ठ ५७-६१ १३—पृष्ठ ६१-६४ १४—पृष्ठ ६५-६९ १५—पृष्ठ ७२-७३ १६—पृष्ठ ६९-७२ १७—पृष्ठ ७४-७६ १८—पृष्ठ ७५-७९ १९—पृष्ठ ७९-८२ २०—पृष्ठ ८२-८५ २१—पृष्ठ ८६-९२ २२—पृष्ठ ९२-९३ २३—पृष्ठ ९३-९५ २४—पृष्ठ ९५-९८ २५—पृष्ठ ९९-१०३।

संक्षेप में बताए गए हैं। तत्पश्चात् सिक्ख धर्म और उपर्युक्त धर्मों तथा मतों के बीच समानता और विभिन्नता दिखाई गई है[२६]।

सिक्ख धर्म की व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पक्ष की विशेषताओं का भी उल्लेख किया गया है[२७]।

तत्पश्चात् श्री गुरु ग्रंथ साहिब का धार्मिक और दार्शनिक अध्ययन आरंभ होता है।

परमात्मा

'श्री गुरुग्रंथ साहिब जी' में परम तत्त्व परमात्मा माना गया है, वह प्रत्यक्ष है[२८], किन्तु उसे देखती दूसरी ही आंखें हैं[२९]। उस परमात्मा के वाचक शब्द एक ओंकार सत्यनाम, कर्ता पुरुष, निर्भय, निर्वर, अकालमूर्ति, अयौनि और स्वयंभू है[३०]।

सिक्ख गुरु परमात्मा के तीन स्वरूप मानते हैं :—

(क) निर्गुण[३१]।

(ख) सगुण[३२]।

(ग) सगुण-निर्गुण : उभय स्वरूप :[३३]

'श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी' में सगुण स्वरूप दो प्रकार का मिलता है। १—विराट् स्वरूप[३४] २—परमात्मा रक्षक आदि के रूप में। इस रूप में परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामिन्, सर्वशक्तिमान्, सूत्रधार, न्यायी, दाता, रक्षक और पालन-कर्ता, क्षमाशील, माता-पिता, भक्तवत्सल और पतित-उद्धारक है[३५]। इन सब गुणों से युक्त होते हुए भी वह यौनि के अन्तर्गत नहीं आता।

सृष्टि क्रम—

सृष्टि के आरम्भ के पूर्व कोई भेद नहीं था। वह (परमात्मा) अकेला अपने आप प्रतिष्ठित था। उस समय किसी भी दृश्यमान सृष्टि का विस्तार नहीं था।[३६] गुरुओं ने उस अवस्था को कहीं कहीं 'शून्य' संज्ञा से संबोधित किया है।[३७] पर इस शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं है। शून्यावस्था का तात्पर्य उस स्थिति से है, जब संसार की उत्पत्ति के पूर्व सारी शक्तियाँ एकमात्र परमात्मा में स्थित थीं। इस अवस्था का नाम 'अफुर' अथवा 'ओंकार' अवस्था भी है। परमात्मा के 'हुकम' से निर्गुण ब्रह्म (अफुर ब्रह्म अथवा शून्यावस्था अथवा ओंकार) सगुण स्वरूप धारण करता है।[३८] इस हुकम के संबंध

देखिये थीसिस २६—पृष्ठ १०४-१२३ २७—पृष्ट १२४-१३१। २८—जह जह देखा तह तह सोई ॥६॥३॥ : श्री गुरुग्रंथ साहिब, प्रभाती असटपदीआ, महला ५, पृष्ठ १३४३ : २९—नानक से अखड़ीआं बिअंनि जिमि डिसंदो मा पिरी—श्री गुरु ग्रंथ साहिब, रागु वडहंसु, महला ५, पृष्ठ ५७७ ३०—सिक्खों का मूल मंत्र : पृष्ठ १३४-१५९ ३१—पृष्ठ १६० से १६६ तक ३२—पृष्ठ १६७-१८६ ३३—पृष्ठ १९०-१९३ ३४—पृष्ठ १६८-१७४ ३५—पृष्ठ १७५-१८६ तक। ३६—श्री गुरुग्रन्थ साहिब, मारू, महला, १ पृष्ठ १०२६, ३७—श्री गुरुग्रंथ साहिब, मारू सोलहे, महला १, पृष्ठ १०३७ ३८—पृष्ठ २०८।

में 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता।[39] इस प्रकार सिक्ख गुरु परमात्मा को ही सृष्टि का कर्त्ता और कारण मानते हैं और सृष्टि रचना में परमात्मा के 'हुकम' के अतिरिक्त अन्य कारण नहीं हैं। 'हुकम' की उत्पत्ति के साथ ही साथ 'हउमें' (अहंकार) की भी उत्पत्ति होती है।[40] यही 'हउमें' बाह्य और आन्तरिक सृष्टि का कारण है।[41] माया और अविद्या और तीन गुण (सत्त्व, रज तथा तम) अहंकार की ही परिधि में हैं। अहंकार अथवा 'हउमें' प्रकृतिजात नहीं है, बल्कि प्रकृति अहंकार से उत्पन्न होती है। इसी प्रकृति : कुदरति : से पंच तन्मात्राओं : पंच परवाण : पंच ज्ञानेन्द्रियों : पंच पावहि दरगह मान : पंच कर्मेन्द्रियों (पंचे सोहहि दरि राजानि) तथा पंच महाभूतों (पंच परधान) से उत्पत्ति हुई।[42]

'गुरु ग्रंथ साहिब जी' में सृष्टि को अनन्त माना गया है।[43] किन्तु इसकी विभिन्नता में भी एकरूपता है।[44] गुरुओं के अनुसार सृष्टि मिथ्या नहीं है, यह सत्य है।[45] किन्तु स्थान-स्थान पर सृष्टि को स्वप्नवत्, मृगतृष्णा आदि के समान कहा है, उसका तात्पर्य केवल यही है कि वह नश्वर और क्षण-भंगुर है।[46] सिक्ख गुरुओं ने सृष्टि के अंत के संबंध में केवल इतना ही कहा है कि जिस परमात्मा ने सृष्टि रचना की है, वही उसे अपने इच्छानुसार अपने में लीन कर लेता है।[47]

'हउमै'

गुरुओं के अनुसार 'हउमै' ही सृष्टि—उत्पत्ति का मूल कारण है। यह एकता से अनेकता की ओर तथा अद्वैत से द्वैत-भाव की ओर ले जाता है।[48] 'हउमै' के कारण ही त्रिगुणात्मक सृष्टि-परम्परा निरन्तर चलती रहती है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच का परदा यही है।[49] पवन, पानी, वैश्वानर, धरती, सातों समुद्र, नदियाँ, खण्ड, पाताल, षट्-दर्शन सभी पर इसका प्रभुत्व है, यहां तक कि त्रिदेव भी इससे मुक्त नहीं है।[50]

सांसारिक पुरुषों के सारे कार्य अहंकार ही में हुआ करते हैं। जन्म-मरण, लेना, देना, लाभ-हानि, सत्य-असत्य, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, हंसना-रोना, शौच-अशौच, जाति-पांति, ज्ञान-अज्ञान, बन्धन-मोक्ष आदि सब कुछ 'हउमै' द्वारा ही होते हैं।[51]

३६—पृष्ठ २०६ तथा 'हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई'—श्री गुरु ग्रंथ साहिब, जपुजी, पौड़ी २, महला १, पृष्ठ १ ४०—हउमें विधि जग उपजै······श्री गुरु ग्रंथ साहिब, रामकली, महला १, सिध गोसटि, पृष्ठ ६४६ ४१—पंच परवाण—पंच परधान ·····श्री गुरु ग्रंथ साहिब, जपु जी, पौड़ी १६, पृष्ठ ३ ४२—पृष्ठ २१६–२२० तक।

४३—देखिये थीसिस, पृष्ठ २१६—२२० ४४—पृष्ठ २२०-२२१ ४५—पृष्ठ २२१ ४६—पृष्ठ २२२-२२३ ४७—पृष्ठ २२४ ४८—पृष्ठ २२५ ४६—पृष्ठ २२५-२२५ ५०—पृष्ठ २२८ ५१—श्री गुरु ग्रंथ साहिब आसा महला १, वार सलोका नालि सलोक भी पृष्ठ ४६६।

श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी के अनुसार अहंकार के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं:—

(क) धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अहंकार।
(ख) विद्यागत अहंकार।
(ग) कर्मकाण्ड और वेशादि संबंधी अहंकार।
(घ) जाति-संबंधी अहंकार।
(ङ) धन-सम्पत्ति संबंधी अहंकार।
(च) परिवार-संबंधी अहंकार।
(छ) रूप-यौवन-संबंधी अहंकार।[५२]

इन भेदों के अतिरिक्त आशा, चिंता, काम क्रोध, लोभ, मोह, झूठ, पाखण्ड, मिथ्याचरण आदि 'हउमै' के ही अंग हैं।[५३]

अहंकार का परिणाम बंधन, दु:ख–प्राप्ति और बार-बार जन्म धारण करना होता है। जब तक मन 'हउमै' की लहरों के बीच स्थित है, तब तक 'नाम' में स्वाद नहीं आता। इसी के कारण न तो आत्म-जागृति होती है और न भक्ति ही होती है। अत: निकटस्थ परमात्मा बहुत दूर प्रतीत होता है।

गुरुओं ने अहंकार का नाश बहिरंग–साधनों द्वारा नहीं माना है। इन बहिरंग साधनों की लम्बी सूची है।[५५] अंतरंग साधनों द्वारा ही अहंकार का नाश हो सकता है। अंतरंग साधन निम्नलिखित हैं:—

(क) मरजीवा होना।
(ख) सद्गुरु की प्राप्ति।
(ग) नाम में दृढ़ आस्था।
(घ) साधु-संग।
(ङ) ब्रह्ममयी दृष्टि।
(च) विनीतभाव।
(छ) प्रभु को अपने निकट समझने का भाव।
(ज) परमात्मा की कृपा।[५६]

अहंकार–नाश से विचार की प्राप्ति होती है, अशान्ति दूर होती है और बुद्धि निश्चल हो जाती है, परमात्मा का साक्षात्कार होता है और अपना पराया भाव दूर हो जाता है। अहंकार के नष्ट होने से जीव आत्म-स्वरूप परमात्मा ही हो जाता है।[५७]

माया—

सिक्ख गुरु माया का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते। इसकी रचना परमात्मा के "हुक्म" से हुई है।[५८] इसके अन्य नाम "शक्ति" और "कुदरत" भी है।[५९] यह परमात्मा की दासी और आज्ञाकारिणी है।[६०] इसका स्वरूप त्रिगुणात्मक है।[६१] इसमें

५२—देखिये यही थीसिस पृष्ठ २३३-२४२ ५३—पृष्ठ २४२-२४४ ५४—पृष्ठ २४४ से पृष्ठ २४८ ५५—पृष्ठ २४८।२५० ५६—पृष्ठ २५०-२५४ ५७—पृष्ठ २५४–२५७. ५८—पृष्ठ २६१-२६२, ५९—पृष्ठ २६३। ६०—पृष्ठ २६३-२६४। ६१—पृष्ठ २६४।

प्रबल मोहिनी-शक्ति है।[६२] इसका स्वरूप अनेक रूपात्मक है। नाना प्रकार के स्वरूप धारण कर यह जगत् को मोहित करती रहती है। सुत, बंधु, घर, नारि, धन, यौवन, लोभ आदि का स्वरूप धारण कर यह जगत् को ठगती रहती है।[६३] सत्व, रज और तम की पृथक्-पृथक् अभिवृद्धि के कारण पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति होती है।[६४] इसकी अनन्तता परमात्मा ही जान सकता है।[६५] इसकी मोहिनी शक्ति के कारण ही इसका प्रभुत्व सारे संसार में व्याप्त है।[६६] त्रिदेव भी इसके वशीभूत हैं,[६७] तो अन्य देवी-देवताओं की बात ही क्या है।[६८] गुरुओं ने अनेक रूपकों द्वारा इसकी प्रबलता प्रदर्शित की है।[६९]

माया-जनित दुःख विविध प्रकार के हैं। जीव माया के परदे के कारण परमात्मा को भूल जाता है, जिससे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। वह जन्म-मरण के अनवरत चक्र में पड़ा रहता है।[७०] माया-लिप्त जीवों की अवस्था विष्ठा के कीड़े के समान हैं, वे विष्ठा में ही रहते हैं और अन्त में विष्ठा ही में समा जाते हैं।[७१]

गुरुओं ने माया से तरने के निम्नलिखित उपाय बताए हैं[७२]:—

(क) माया तथा मायिक पदार्थों में अनित्य एवं मिथ्या भाव का आरोप।
(ख) सत्-संगति और भगवत्-कृपा—
(ग) सद्गुरु-प्राप्ति तथा उनका उपदेश-श्रवण।
(घ) परमात्मा की भक्ति और शरणागत भाव।

जीव—

जीव परमात्मा की सृष्टि की सब से चेतनशील शक्ति है, इसमें सुख-दुःख अनुभव करने की शक्ति तथा चेतना होती है। परमात्मा के "हुकम" से जीवों की उत्पत्ति होती है।[७३] जीव अमर और अनन्त है और वे एक ही सूत्रात्मा में पिरोए हुए हैं।[७४] परमात्मा की तुलना में जीव अत्यन्त अल्पज्ञ है।[७५] सारे जीवों का प्रेरक परमात्मा है।[७६] वह परमात्मा के आज्ञानुसार स्वांगी की भांति अनेक रूपों को धारण करता है।[७७] माया-ग्रस्त होने के कारण अनेक यौनियों में भ्रमण करता है।[७८] साधनों द्वारा वह परमात्मा से मिल कर फिर एक हो जाता है।[७९] जिस भांति जल में जल मिल कर एक हो जाता है, उसी भांति जीवों में स्थित परमात्मा की ज्योति, परमात्मा की अखण्ड ज्योति से मिल कर एक हो जाती है।[८०]

मनुष्य—

गुरुओं की दृष्टि में मनुष्य यौनि सर्वोत्कृष्ट यौनि है।[८१] अन्य यौनियां मनुष्य यौनि की पनिहारिनें हैं।[८२] किन्तु मनुष्य अपनी सारी आयु को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है।[८३]

६२—देखिये यही थीसिस पृष्ठ २६६। ६३—पृष्ठ २६७। ६४—पृष्ठ २६७। ६५—पृष्ठ २६९। ६६—पृष्ठ २७१। ६७—पृष्ठ २७२-२७४। ६८—पृष्ठ २७४। ६९—पृष्ठ २७५-२७६। ७०—पृष्ठ २७७-७१—पृष्ठ २७८। ७२—पृष्ठ २७८-२८६। ७३—हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वडिआई—श्री गुरुग्रंथ साहिब, जप की, पौड़ी २ महला, १ पृ० १ ७४—पृष्ठ २८८। ७५—पृष्ठ २९०-२९१। ७६—पृष्ठ २९१-२९२ ७७—पृष्ठ २९२ ७८—पृष्ठ २९३ ७९—पृष्ठ २९४ ८०—पृष्ठ २९५ ८१—देखिये यही थीसिस पृष्ठ २९६। ८२—पृष्ठ २९७। ८३—पृष्ठ २९८-३०१।।

मनुष्य की प्रकृति में परमात्मा के वियोग और मिलन दोनों के उपादान मौजूद हैं। परमात्मा के वियोग का मुख्य कारण उसकी "मनमुखता" तथा "साकत भाव" है।[८४] ज्योतिर्मय, घटघटवासी परमात्मा की अनुभूति शरीर के भीतर करनी मिलन का सबसे बड़ा उपादान है।[८५] इस प्रकार शरीर ही परमात्मा के अनुभव करने का यंत्र है और शरीर ही के अन्तर्गत सब कुछ है।[८६] पर शरीर को ही कहीं शाश्वत न समझ लिया जाय, इसलिए स्थान-स्थान पर चेतावनी भी दी गई है कि यह तो नश्वर, अनित्य और मिथ्या है। इस शरीर में अहंभाव नहीं रखना चाहिए, बल्कि इसके भीतर जो घट-घट में रमण करने वाले राम हैं उन्हें ही सत्य समझना चाहिए।[८७]

आत्मा—

"श्री गुरु ग्रन्थ साहिब" में आत्मा की अमरता का प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों की ही भांति किया गया है। शरीर स्थित आत्मा न तो मरा और न मरने योग्य है। वह आवागमन से मुक्त है।[८८] आत्मा शरीर में स्थित हो कर भी शरीर से पृथक् है, क्योंकि शरीर नश्वर है।[८९]

गुरु वाणी में आत्मोपलब्धि के निम्नलिखित साधन बताए गए हैं।[९०]

१—गुरु के शब्द अथवा उपदेश को हृदय में धारण करना,

२—कामादिक को वश में करना,

३—पंच कर्मेन्द्रियों तथा पंच ज्ञानेन्द्रियों का वश में करना,

४—परमात्मा की कृपा में पूर्ण विश्वास रखना,

५—सभी के अन्तर्गत एक आत्मा का दर्शन करना,

६—विराट् परमात्मा की उपासना में लीन होना,

७—सहजावृत्ति में रहना।

आत्मोपलब्धि का आनन्द वर्णनातीत है। इसी से सारी त्रिपुटी मिट जाती है।[९१] आत्मज्ञान जागृत होने पर बाहर भीतर सभी जगह प्रकाश हो जाता है। सारे चराचर प्रकाशमय दिखायी पड़ने लगते हैं।[९२]

मन—

गुरुनानक देव मन की उत्पत्ति पंच तत्वों से मानते हैं।[९३] इसके दो रूप हैं।[९४]

(क) ज्योतिर्मय, प्रकाशमय अथवा शुद्ध स्वरूप।

(ख) अहंकारमय स्वरूप।

ज्योतिर्मय मन से ही मन अपने मूल उत्पत्ति स्थान को पहचानता है। इसी से परमात्मा का बोध होता है और अहंकारी मन का अहंकार मिटता है।[९५]

८४—पृष्ठ ३०२-३०८। ८५—पृष्ठ ३०९। ८६—पृष्ठ ३११-३१२। ८७—पृष्ठ ३१२। ८८—पृष्ठ ३१५। ८९—पृष्ठ ३१६-३१७।

९०—देखिये यही थीसिस पृष्ठ ३१९-३२०। ९१—पृष्ठ ३२०। ९२—पृष्ठ ३२१-३२२। ९३—पृष्ठ ३२५। ९४—पृष्ठ ३२५। ९५—पृष्ठ ३२५।

मन का दूसरा स्वरूप मोहिनी माया से युक्त और अहंकार से भरा हुआ है। इससे वह बार बार अनेक यौनियों में भ्रमता फिरता है। यह अत्यन्त प्रबल और चंचल है। मन हाथी, और तेली के बैल के समान है।[96] यह अनेक प्रकार के विषयों के भोगने से तृप्त नहीं होता।[97]

मनोमारण का महत्त्व बहुत अधिक है। मन मारे बिना न ज्ञान प्राप्त हो सकता है और न भक्ति। आध्यात्मिक उन्नति में मनोमारण का अमूल्य महत्त्व है।[98]

गुरुओं द्वारा मनोमारण के निम्नलिखित उपाय बताए गए हैं।[99]

(क) अहंकार युक्त मन को ज्योतिर्मय स्वरूप समझना।
(ख) मन से मन को मनवाना।
(ग) सांसारिक विषयों में वैराग्य-भावना रखना।
(घ) दुष्ट जनों की संगति का त्याग।
(ङ) साधु-संगति।
(च) सत्याचरण।
(छ) सद्गुरु मे आस्था।
(ज) परमात्मा की शरण ग्रहण करना।

मन-विरोध से अनिर्वचनीय सुख तथा विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है। यही तुरीयावस्था का आनन्द है।[100]

हरि–प्राप्ति–पथ

मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है। इसी से उसकी मानसिक अवस्था, संस्कार, योग्यता, क्षमता आदि को ध्यान में रख कर परमात्मा साक्षात्कार के भिन्न-भिन्न मार्ग निकाले गए—उनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं—

(अ) कर्म–मार्ग।
(आ) योग–मार्ग।
(इ) ज्ञान–मार्ग।
(ई) भक्ति–मार्ग।

(अ) कर्म-मार्ग

सिक्ख गुरुओं के अनुसार कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है[101]। गुरुओं ने कर्म के दो रूप माने हैं। (क) समष्टि कर्म (ख) व्यष्टि कर्म।

पृथ्वी, आकाश, नक्षत्र, पवन, जल, अग्नि और इंद्रादिकों का परमात्माओं के "हुक्म" से कर्म में प्रवृत होना समष्टि कर्म है[102]। समष्टि कर्म परमात्मा की विराट् प्रकृति द्वारा होते हैं।[103]

देखिये यही थीसिस ९६—पृष्ठ ३२७-३३२। ९७—पृष्ठ ३३०।—९८ पृष्ठ ३३२-३३४। ९९—पृष्ठ ३३४–३४४। १००—पृष्ठ ३४९–३५२। १०१—पृष्ठ ३५५। १०२—पृष्ठ ३५५-३५६, १०३ पृष्ठ ३५६

व्यक्ति-परक कर्म मनुष्य द्वारा होते हैं[१०४]। यह पूर्व जन्मों के संस्कारों वश होता है[१०५]। व्यक्ति-परक कर्म दो प्रकार के होते हैं—भले और बुरे[१०६]। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, पर फल मांगने में परतंत्र[१०७]। कर्म अपने आप फल देने में असमर्थ है। निरंकार के हुक्म से कर्मों का फल प्राप्त होता है[१०८]।

कर्मों के फिर दो रूप मिलते हैं—एक तो (१) बंधन-कर्म। (२) मोक्षप्रद-कर्म। बंधनप्रद कर्म वे हैं जिनसे जीव बंधा रहता है। इसके तीन भेद हैं[१०९]।

(क) कर्मकाण्ड-युक्त कर्म।
(ख) अहंकार-युक्त कर्म।
(ग) त्रैगुणी त्रिविधि कर्म।

मोक्षप्रद कर्म ये हैं, जिनसे जीव बंधनों से मुक्त होता है। इसके भी तीन भेद हैं[११०]।

(क) हरि-कीरत कर्म।
(ख) अध्यात्म कर्म।
(ग) हुकम रजाई कर्म।

गुरुओं के अनुसार कर्म भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। उन्होंने इन तीनों के बीच अद्भुत समन्वय स्थापित किया है। इसीलिए गुरुओं द्वारा निरूपित कर्म मार्ग में भक्ति मंदाकिनी प्रवाहित हुई हैं।

(अ) योग–मार्ग

गुरुओं को योग के प्रति श्रद्धा है। योग की पर्याप्त शब्दावलियां भी 'श्री गुरु ग्रंथ साहिब' में मिलती हैं।[१११] पर गुरुओं की हठयोग की सारी प्रक्रियायें मान्य नहीं हैं। बिना भक्ति के हठयोग शारीरिक व्यायाम मात्र है। भक्ति हीन योग, निष्प्राण, पाखण्ड पूर्ण नीरस है।[११२]

हठयोग की सिद्धियां गुरु ग्रंथ साहिब में 'चेटक की सिद्धियां' कही गई हैं।[११३] गुरु नानक देव व्यवसाय-युक्त और पाखण्डपूर्ण योग के विरोधी हैं।[११४]

गुरुओं के अनुसार वास्तविक योग यह है कि माया के बीच में रहते हुए भी निर्लेप हरि में समाया रहे। जिसकी दृष्टि समान हो गई है, वही वास्तविक योगी है। जो साधक अपनी वासनाओं का दमन कर लेता है, और जीवित अवस्था में ही वासना-शून्य हो जाता है, वही वास्तविक योगी है।[११५]

शून्य में मन को नियोजित करना गुरुओं के अनुसार सर्वोपरि योग है। किन्तु उनका शून्य वह शून्य है जो सर्व-भूतान्तरात्मा है, घट-घट व्यापी है, और निरंकार

देखिये यही थीसिस १०४—पृष्ठ ३५६ १०५—पृष्ठ ३५७-३५८ १०६—पृष्ठ ३५७-३५८ १०७—पृष्ठ ३५९-३६० १०८—पृष्ठ ३५९-३६० १०९—पृष्ठ ३६१-३६९ ११०—पृष्ठ ३७०-३७८ १११—पृष्ठ ३८४–३८६। ११२—पृष्ठ ३८६–३८७। ११३—पृष्ठ ३८८। ११४—पृष्ठ ३८९–३९०। ११५—पृष्ठ ३९०।

ज्योति के रूप में सभी के भीतर व्याप्त है। वह निरंकार ज्योति वह शून्य ब्रह्म सभी में रमा हुआ है। प्रत्येक मनुष्य की आत्मिक वृत्ति उसका निवास है। इसी का साक्षात्कार विलक्षण योग है।[११६]

"गुरुग्रंथ साहिब" में दशम द्वार को अमृत का स्रोत माना गया है। यह "अखुट भंडार" और अलख परमात्मा का निवास है। इसी के अन्तर्गत असंख्य वस्तुएं भरी हैं। इसी में अनाहत शब्द है। यह दशम द्वारा नाम-जप से खुलता है।[११७]

अनाहत शब्द के प्रति भी सिक्ख गुरु श्रद्धा प्रकट करते हैं, परन्तु गुरुओं के अनाहत का स्वरूप योगियों के अनाहत स्वरूप से भिन्न है। योगी तो दशम द्वार की प्राप्ति के पहले ही अनाहत शब्द सुनता है, सिक्ख गुरुओं के अनुसार अनाहत शब्द के आनन्द की अनुभूति दशम द्वार में पहुंच कर होती है।[११८] जिस शरीर में गुरु की वाणी का निरंतर वास है, वहीं अनाहत शब्द प्रकट होता है।[११९]

सिक्ख गुरुओं ने दशम-द्वार और अनाहत शब्द की प्राप्ति का साधन, साधना-बहुल और क्रिया-क्लिष्ट योग की प्रकियाओं को नहीं माना है। गुरु नानक के अनुसार बिना नाम के योग कभी सिद्ध नहीं होता। उनकी दृष्टि में "नाम-जप" योग-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है।[१२०]

सहज-योग—

गुरुओं ने सहज योग में अपनी रागात्मिका भक्ति, अपने हृदय का प्यार, अपना निर्मल वैराग्य, अपनी दिव्य शान्ति, अपना ध्यान तथा अपनी धारणा और समाधि निमज्जित कर दी है।[१२१]

माया, अहंकार तथा बाह्य साधनों से सहजावस्था की प्राप्ति संभव नहीं है।[१२२]

सहजावस्था की प्राप्ति के लिए गुरुओं की निश्चित साधन प्रणाली है[१२३]—

(क) सद्गुरु की प्राप्ति, उसमें अपूर्व श्रद्धा, भक्ति और विश्वास।
(ख) परमात्मा के नाम में दृढ़ आस्था और उसका जप।
(ग) सद्गुरु के शब्द पर आचरण।
(घ) सांसारिक विषयों का त्याग।
(ङ) सहजावस्था का आनन्द है।

सहजावस्था का आनन्द वर्णनातीत है। जिस प्रकार जल से मिल कर जल तदाकार हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा के अंतर्गत परमात्मा की ही रक्खी हुई वह ज्योति परमात्मा के साथ मिल कर तदाकार हो जाती है।[१२४]

(इ) ज्ञान-मार्ग—

सभी प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है इसी भाव को सदैव जाग्रत रखना ज्ञान है और किंचित् क्षण के लिए उसे न भूलना ज्ञान की चरम सीमा है।

११६—पृष्ठ ३९१-३९५। ११७—पृष्ठ ३९५-३९७। ११८—पृष्ठ ३९७-३९९ ११९—पृष्ठ ३९९ १२०—पृष्ठ ४००-४०२ १२१—पृष्ठ ४०४ १२२—पृष्ठ ४०६ १२३—पृष्ठ ४०७-४०८ १२४—पृष्ठ ४०९।

गुरुओं ने ज्ञान के दो रूप माने हैं—

(क) वाचक ज्ञान

(ख) ब्रह्म-ज्ञान

वाचक ज्ञानी ज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, पर उनके आचरण में वे बातें चरितार्थ नहीं होती।[१२५]

ब्रह्मज्ञान अथवा तत्व ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। अद्वैत ज्ञान का घनीभूतभाव ब्रह्मज्ञान है। इस परमात्मा की सत्ता सर्वत्र, सब काल में देखना अद्वैता ज्ञान है सभी मार्ग के साधकों को यह स्थिति प्राप्त हो सकती है।

सिक्ख गुरुओं में परमात्मा की अनुभूति में अद्वैत भाव का घनीभूत-भाव पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है।[१२६] बाजीगर और उसके स्वांग, जल और उसकी तरंगे, कनक और उसके आभूषण आदि के उदाहरणों द्वारा अद्वैत-ज्ञान सिद्ध होता है।[१२७]

शेरसिंह ने "श्री गुरु ग्रंथ साहिब" में अद्वैत-ज्ञान नहीं माना है। इसके लिए उन्होंने चार तर्क उपस्थित किए हैं।[११८]

(क) गुरुओं ने जीव-ब्रह्म की एकता नहीं स्वीकार की।

(ख) ब्रह्म और सृष्टि में भी एकता नहीं स्वीकार की।

(ग) सोऽहं, तत्वमसि, आदि अद्वैत शब्द भी नहीं पाये जाते।

(घ) शंकर के अद्वैतवाद में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं।

गुरु ग्रंथ साहिब में अनेक स्थलों पर जीव ब्रह्म में एकता[१२९] तथा सृष्टि और ब्रह्म में एकता पाई जाती है।[१३०] एकाध स्थलों पर "सोऽहं" के जप का भी निर्देश मिलता है।[१३१] शंकराचार्य जी में भक्ति भावना भी पर्याप्त रूप में मिलती है।[१३२] अत: शेरसिंह जी की दलीलें तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती।

सिक्ख गुरुओं ने प्रवृत्ति मार्ग पर जोर दिया है। पर यह ज्ञान-मार्ग का बाधक नहीं है। प्रसिद्ध अद्वैत ग्रंथ विद्यारण्य कृत पंचदशी में निवृत्ति मार्ग और प्रकृति मार्ग समान बताए गये हैं।[१३३]

सिक्ख गुरुओं में ज्ञान के निम्नलिखित साधन प्राप्त होते हैं[१३४]—

(क) विवेक

(ख) वैराग्य,

(ग) श्रद्धा,

(घ) श्रवण,

(ङ) मनन और निदिध्यासन,

(च) अहंकार-त्याग

(छ) गुरु-कृपा एंव परमात्मा-कृपा

देखिये यही थीसिस १२५—पृष्ठ ४१२। १२६—पृष्ठ ४१५-४१७। १२७—पृष्ठ ४१६-४१९। १२८—पृष्ठ ४१९ १२९—पृष्ठ ४२०-४२१ १३०—पृष्ठ ४२१-४२२ १३१—पृष्ट ४२२-४२३ १३२—पृष्ठ ४२३ १३३—पृष्ठ ४२३-४२४। १३४—पृष्ठ ४२५-४३५।

ज्ञानोपलब्धि के पश्चात् आत्मा, परमात्मा, में कोई अन्तर नहीं रहता। जिनी आतमु चीनिआ परमातमु सोई।[135] ब्रह्मज्ञानी के लक्षण विस्तार के साथ गउड़ी-सुखमनी में मिलते हैं।[136]

गुरुओं ने एकाध स्थल पर ऐसे स्वीकार किया है कि ईश्वरानुभूति के पश्चात् प्रारब्ध कर्मानुसार मनुष्य चाहे गृहस्थाश्रम में रहे अथवा विरक्ति वृत्ति में रहे, वह दोनों ही में शोभनीय है।[137] पर उन्होंने गृह त्याग पर कभी बल नहीं दिया। बल्कि उन्होंने स्वयं अपनी रहनी से तथा अपनी बाणी से गृहस्थी में रहने की प्रेरणा दी। उनकी दृष्टि में प्रवृत्तिमार्ग ज्ञान-मार्ग का बाधक नहीं है।[138]

(ई) भक्ति मार्ग

भक्ति के दो स्वरूप होते हैं—

(क) वैधी भक्ति।

(ख) रागात्मिक भक्ति।

सिक्ख गुरुओं ने वैधी भक्ति का खण्डन किया है।[139] अहंकार में ही सारे लोग भक्ति करते हैं:—

'हउमै भगति करें सभु कोइ।
ना मनु भीजै ना सुखु होइ॥

(मलार, महला ३, पृष्ठ १२७८)

कथन वाली भक्ति दो कौड़ी की है।

रागात्मिका भक्ति वह है, जिसमें परमात्मा का विस्मरण न हो और परमात्मा भक्त के हृदय में सदैव के लिये विराजमान हो जायं।[140] जिस प्रकार चकोर का चन्द्रमा से, मीन का जल से, अलि का कमल से······चातक का मेघ से प्रेम होता है, उसी प्रकार भक्त का भगवान से प्रेम होना चाहिए।[141]

प्रेमा भक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति में विरह की तड़पन और मिलन के आनन्द दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में प्रेमा भक्ति की मार्मिक अनुभूति प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है।[142]

विविध माध्यमों द्वारा प्रेम की तीव्रता अभिव्यक्त की गई है—

(क) माता-पिता और पुत्र का संबंध।[143]

(ख) स्वामी-सेवक भाव का संबंध।[144]

(ग) सखा-भाव।[145]

(घ) दाता-भिखारी का संबंध।[146]

देखिये थीसिस १३५—श्री ग्रंथ साहिब आसा-काफी महला-१ पृष्ठ ४२१ १३६—पृष्ठ ४३८-४४०। १३७—पृष्ठ ४४०। १३८ पृष्ठ ४४१-४४२। १३९—पृष्ठ ४४६। १४०—पृष्ठ ४४८। १४१—पृष्ठ ४४९ १४२—पृष्ठ ४४९-४५१। १४३—पृष्ठ ४५२-४५४. १४४—पृष्ठ ४५४-४५५ १४५—पृष्ठ ४५६ १४६—पृष्ठ ४५७।

(ङ) पति-पत्नी का संबंध।[१४७]

परमात्मा के विस्मरण से जीव की अनेक दुर्दशाएं होती हैं। भक्ति से ही मनुष्य का जीवन सार्थक होता है।

भक्ति के अनेक उपकरण गुरु-ग्रंथ साहिब में मिलते हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रधान हैं:—

(क) सद् गुरु प्राप्ति और उसकी कृपा तथा उपदेश।[१४९]

(ख) नाम।[१५०]

(ग) सत्संगति तथा साधु-संग।[१५१]

(घ) परमात्मा का भय।[१५२]

(ङ) परमात्मा का हुकम।[१५३]

(च) दृढ़-विश्वास।[१५४]

(छ) दैन्य भाव।[१५५]

(ज) आत्म-समर्पण भाव।[१५६]

(झ) परमात्मा का स्मरण और कीर्तन।[१५७]

(ञ) प्रभु-कृपा।[१५८]

भक्ति प्राप्त होने पर, भक्त काम, क्रोध, लोभ, मोह के विकारों से रहित और माया से अलिप्त हो जाता है। अहंबुद्धि के विष को त्याग देता है। उसका सोना, जगना, उठना, और हंसना आदि सभी निश्चिन्त भाव से होते हैं। जिस माया द्वारा सारा जगत् ठगा जाता है वह माया हरि भक्तों द्वारा उठा ली जाती है।[१५९] उसका मन अत्यंत निश्चिल और निर्भय हो जाता है। परमात्मा रूपी धन प्राप्त हो जाने से, वह अचल सम्राट् हो जाता है।[१६०] प्रेमा भक्ति प्राप्त होने पर ठाकुर और सेवक दोनों मिल कर उसी भांति एक हो जाते हैं, जिस भांति जल की तरंगें और फेन जल से मिल कर एक हो जाते हैं।[१६१]

निष्कर्ष

हरि-प्राप्ति के सभी पथों पर दृष्टि डालने से हम उसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रागात्मिका भक्ति की अबाध मंदाकिनी सिक्ख गुरुओं के प्रत्येक पद में प्रवाहित हो रही है। गुरुओं द्वारा निरूपित सभी पथ—कर्म-मार्ग, योग-मार्ग और ज्ञान-मार्ग भक्ति की पवित्र धारा से सिंचित है। बिना परमात्मा की रागात्मिका भक्ति के कर्म पाखण्ड-पूर्ण, आडम्बर-युक्त है, ज्ञान चंचु-ज्ञान मात्र है और योग शरीर का व्यायाम मात्र है। सभी

देखिये थीसिस १४७—४५७-४६१ १४८—पृष्ठ ४६१-६२ १४९—अध्याय १२ अपृष्ठसद् गुरु पृष्ठ ४८७ ५०९। १५०—अध्याय १२ (आ) नाम—पृष्ठ ५१०-५३५ १५१—अध्याय १२ (आ) नाम—पृष्ठ ४६३-४७०। १५२—अध्याय १२ (आ) नाम—पृष्ठ ४७०-४७३, १५३—पृष्ठ ४७६, १५४—पृष्ठ ४७६-४७७, १५५—पृष्ठ ४७८-४७९। १५६—पृष्ठ ४७९-४८२। १५७—पृष्ठ ४८१-४८२। १५८—पृष्ठ ४८२-४८३। १५९—पृष्ठ ४८४। १६०—पृष्ठ ४८५। १६१—पृष्ठ ४८६।

साधनों में सद्गुरु और 'नाम-जप' का महत्वपूर्ण स्थान है। परमात्मा की रागात्मिक भक्ति ही कर्मयोग को निष्काम कर्मयोग बनाती है, ज्ञान को ब्रह्मज्ञान का रूप देती है और योग को सहज-योग में परिणित करती है। इसीलिये गुरुओं के अनुसार किसी मार्ग की साधना बिना भक्ति के निष्प्राण, निस्तत्व और मिथ्या है। सिक्ख गुरुओं का सम्पूर्ण जीवन प्रेम-भक्ति से ओत-प्रोत है। उनका आचार-विचार रहन-सहन, उठना, बैठना, हर्ष-विषाद, सुख-दुख यहां तक कि उनके जीवन के समस्त क्रिया-कलाप भक्ति के दिव्य रंग में रंगे हैं।

डॉ० हरिहरनाथ टंडन

वार्त्ता-साहित्य का जीवनी परक अध्ययन

वार्त्ता-साहित्य के भीतर प्राप्त होने वाली सामग्री का जीवनोपयोगी अध्ययन करने के लिए इस निबन्ध की सीमा के भीतर केवल पुष्टि मार्गीय वार्ता-साहित्य का अध्ययन किया गया है। इसमें भी केवल उन्हीं ग्रन्थों को स्थान दिया गया है जिनकी रचना सम्वत् पन्द्रह सौ पचास से लेकर सत्रह सौ पचास की अवधि के भीतर होना सम्भव प्रतीत हुआ है और जो प्रचार की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इस दृष्टि से पुष्टि मार्गीय वार्त्ता साहित्य में से चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता, दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता, निजवार्त्ता, घरूवार्त्ता, षटऋतुवार्त्ता, महाप्रभु जी के प्राकट्य की वार्त्ता और श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्त्ता तथा भावसिन्धु आदि सात ग्रंथों को ही इस अध्ययन के लिए चुना गया है। इन पुस्तकों के सभी प्रकाशित संस्करणों का संग्रह करने का प्रयत्न किया गया है और अधिक से अधिक जितनी हस्तलिखित प्रतियां इन ग्रंथों की मिल सकी हैं उन सभी का, विषय, व्यक्ति, संख्या और वृत्त के विचार से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन में इन प्रकाशित और हस्तलिखित प्रतियों की विविध प्रतियों में जो भाषा संबंधी अन्तर प्राप्त है उसका और उसकी प्रति, प्रतिलिपिकार, और लेखक तथा लिपि की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया है। इसके अतिरिक्त इन पुस्तकों की भावप्रकाश पूर्ण (भावना वाली) जो प्रतियां प्रकाशित और हस्तलिखित प्राप्त हो सकी हैं उनका भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वार्त्ता-साहित्य की अनेक प्रकार की प्रतियां और विविध रूप के जो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं उनका एक श्रेणीवद्धवर्गीकरण करने का प्रयत्न किया किया है। इस वर्गीकरण का मूलाधार विभिन्न प्रतियों की एकता और उनके भेद को ही बनाया गया है। इसके आधार पर वार्त्ता के संस्थापक, प्रसंगात्मक और व्याख्यात्मक या भावनात्मक तीन संस्करण निर्धारित किये गये हैं। इनमें से भी व्यक्ति, विषय और वृत्त को पृथक-पृथक करके उसको इतिहास और समकालीन साक्ष्य की कसौटी पर कसकर सामयिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। प्रबंध के आरम्भ में भारतीय संस्कृति के आदि काल से लेकर पुष्टि मार्गीय वार्त्ता साहित्य के विकास-काल तक के संक्षिप्त इतिहास का सिंहावलोकन करके वार्ता-साहित्य के विकास की एक संक्षिप्त रूप रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया

गया है। इस अध्ययन को पूर्ण और व्यापक बनाने के लिए समकालीन पुष्टि मार्गीय साहित्य के भीतर मिलने वाले प्रमाणों का उस काल के हस्तलिखित और प्रकाशित दोनों प्रकार के ग्रंथों द्वारा अंतःसाक्ष्य का सहारा लिया गया है। वार्त्ता के इतिवृत्त की प्रमाणिकता की पुष्टि भी की गई है। इस अंतःसाक्ष्य के अतिरिक्त समाज में प्रचलित अनेक प्रकार की सेवा प्रणालियों, उत्सवों और कीर्तन के पदों में से जहाँ कहीं भी वार्त्ता की इतिवृत्त को समर्थन प्राप्त हुआ है उसका भी संग्रह किया गया है और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार वार्त्ता के वर्णन में और कीर्तन के पद या अंत.साक्ष्य में एकता या विरोध है और प्रतिकूल प्रमाण की उपलब्धि में वार्त्ता का वृत्त ठीक है या समकालीन अंत:साक्ष्य। तथा किस प्रकार यह भेद समाज के साहित्य में प्रचलित हो सका है। बहिर्साक्ष्य में अन्य समकालीन व उत्तरकालीन साहित्य से भी प्रमाण संग्रह किए गये हैं। बहिर्साक्ष्य को महत्व दिया गया है पर जहाँ अंत:साक्ष्य प्राप्त है वहां बहिर्साक्ष्य को महत्व नहीं दिया गया है। वार्त्ता साहित्य के विषय और भावभूमि की चर्चा में पुष्टि-मार्गीय दर्शन की सहायता ली गई है जिससे वार्त्ता की अलौकिक घटनाओं और प्रसंगों को समझने में सहायता मिलती है। वार्त्ताएँ मूलतः धार्मिक हैं इसलिए वार्त्ता साहित्य और धर्म गाथाओं और लोक-गाथाओं की तुलना करके उनकी धार्मिक प्रवृति पर प्रकाश डाला गया है। प्रकृति के मानवीकरण पर भी अत्यंत संक्षेप रीति से विचार किया गया है। इस संबंध में प्राचीन साहित्य से जो सहायता मिल सकती है उसके सहारे इस साहित्य की एक परम्परा स्थापित की गई है और आधुनिक कथा-साहित्य में वार्त्ता का महत्व दिखाया गया है।

प्रबन्ध के दूसरे अध्याय में वार्त्ता की प्रकाशित और हस्तलिखित प्रतियों की तथा अन्य उन हस्तलिखित ग्रंथों की सूची दी गई है जिनके आधार पर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रबन्ध का विषय स्वीकृत करते समय विश्वविद्यालय की ओर से इस प्रकार की सूची संलग्न करने का विशेष आदेश भी प्राप्त हुआ था। वार्त्ताओं में चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता की कम से कम दो सौ प्रतियां देखने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ है पर उनमें से अधिकांश प्रतियां किसी लिखिया की प्रति की प्रतिलिपियां हैं और अन्त में ये सब ६ प्रतियों की प्रतिलिपि मात्र ठहरती हैं। बड़ौदा, सूरत, डभोई और नडियाद में प्रत्येक मर्यादी वैष्णव के घर में तथा मंदिर में इस प्रकार की एक न एक पोथी मिली है जिसमें प्रत्येक के आदि, मध्य और अन्त के एक-एक पृष्ठ की प्रतिलिपि इस अध्ययन के लिए की गई थी। यहां उसे इसलिए नहीं दिया जा रहा है कि वे सभी प्रतियां महत्वपूर्ण नहीं है और उनके तीन पृष्ठों को देने से प्रबन्ध पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है और न इस प्रबन्ध के लिखने में उनसे कोई सहायता ही मिली है। इस प्रकरण में केवल उन्हीं प्रतियों का उल्लेख किया गया है जिनसे इस प्रबन्ध में सहायता ली गई है और उन प्रतियों का परिचय भी संक्षिप्त रूप से दिया गया है।

तीसरे प्रकरण को लिखते समय यह प्रतीत हुआ कि वार्त्ता-साहित्य की प्रामाणिकता और काल-निर्णय करने के लिए तत्कालीन साहित्य की सहायता लेना अनिवार्य है और इस के लिए इसे छोड़ कर और कोई दूसरा विश्वस्त उपाय नहीं है। इसलिए 'रूपरेखा'

के आठवें अंश को तीसरे से मिलाकर इस प्रकरण को प्रस्तुत किया गया है। इसमें पहले सम्प्रदाय के आचार्यों के ग्रंथों के अनुसार वार्त्ताओं में आए हुए प्रसंगों और व्यक्तियों की परीक्षा और तुलना करके इनकी प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। इन सब ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय भी दे दिया गया है और वार्त्ता से मिलने वाले अंशों का उल्लेख भी कर दिया गया है। इसके दूसरे खंड में केवल हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर वार्त्ता साहित्य की प्रामाणिकता सिद्ध की गई है। तीसरे खंड में परम्परा के ग्रंथों के आधार पर और चौथे खंड में समकालीन ग्रंथों के आधार पर इनके रचयिता और काल का निर्णय किया गया है। चौथे खंड में निष्कर्ष रूप से इसी विषय को एकत्र करके लिखा गया है। इसी प्रकरण में वार्त्ता साहित्य के आलोचक और आज तक की आलोचना की भी आलोचना करके कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले गए हैं।

चौथे प्रकरण में वार्त्ता साहित्य में आए सभी कवियों की एक सूची प्रस्तुत की गई है। वार्त्ता में इनके सम्बन्ध में जो उल्लेख है उन सबको संख्यात्मक, प्रसंगात्मक तथा भावनात्मक सभी संस्करणों से एकत्र करके उन पर सम्प्रदाय के अन्य ग्रंथों से प्राप्त इतिवृत्त का भी संकलन किया गया है। सभी कवियों की रचनाओं में से कम से कम एक-एक पद उद्धरण रूप से दिया गया है। कवियों का इतिवृत्त देते समय उनका वर्तमानकाल भी निश्चित किया गया है। वार्त्ताओं में जिनको कवि नहीं लिखा है और जिनके नामों का उल्लेख हुआ है तथा सम्प्रदाय में जिनकी रचनायें प्राप्त हैं उन सब को कवियों की सूची म स्थान दिया गया है। इस दृष्टि से इस प्रकरण में अनेक ऐसे कवियों का इतिवृत्त और उनकी अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह किया गया है जिन्हें आज तक के लिखे गये हिन्दी साहित्य के इतिहासों में स्थान नहीं दिया गया है। अष्टछाप के आठ महाकवियों के जीवन-वृत्त व उनके काव्य को इस लिए छोड़ दिया गया है कि उनका विस्तृत अध्ययन लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डाक्टर दीनदयालु गुप्त कुछ वर्ष पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं और पुष्टि-सम्प्रदाय में प्राप्त सभी सामग्री का उपयोग अपने अध्ययन के लिए कर चुके हैं। इस प्रकरण में जिन कवियों की तिथियों का पता नहीं लग सका है उनकी तिथि को अनुमान से इस लिए निश्चित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है कि यह सब सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के कवि हैं और अनुमान से लिखे गए सम्वतों के ठीक होने की सौ प्रतिशत सम्भावना नहीं है। वार्त्ता साहित्य के इन कवियों और सेवकों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सामग्री का अध्ययन ही इस प्रबन्ध का विषय है इसलिए इस सामग्री को अन्य उपलब्ध सामग्री के आधार पर शुद्ध करके उसका एक निश्चित और मान्य रूप निर्धारित किया गया है।

पांचवें प्रकरण में वार्त्ता के भावनात्मक संस्करण और प्रसंगात्मक संस्करणों में उपलब्ध सामग्री की परस्पर तुलना करके उन दोनों में जो अन्तर है उसे स्पष्ट किया गया है और यह दिखाया गया है कि वार्त्ता के जिस संस्करण को अब तक उसकी टीका के नाम से सम्बोधित किया गया है वह उस पर किए गए भाष्य या टिप्पणियों से युक्त उसी ग्रंथ का संशोधित रूप नहीं है वरन उसका स्वतंत्र संस्करण है। उसमें प्रत्येक वार्त्ता में वृत्ति का विस्तार ही नहीं किया गया है, किसी किसी वार्त्ता में वृत्त को महत्व की

दृष्टि से संक्षेप रूप में भी लिखा गया है । यह तुलनात्मक अध्ययन कुछ लम्बा होगया है पर इसको इससे अधिक संक्षिप्त रूप में रखने पर दोनों संस्करणों का अन्तर स्पष्ट रूप से प्रगट होने की सम्भावना भी नहीं थी और न बढ़ाया या घटाया हुआ वृत्त ही समझ में आ सकता था । प्रबन्ध आवश्यकता से अधिक बड़ा न हो जाय इस लिए उद्धरणों की ओर संकेत मात्र कर दिया गया है। इस प्रकरण में बम्बई और डाकौर की प्रकाशित प्रतियों से केवल एक वार्त्ता की परस्पर तुलना करके उनमें जो समता या अन्तर है उसे प्रगट किया गया है तथा इन संस्करणों की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों की वार्त्ता से तुलना करके यह सिद्ध किया गया है कि डाकौर और बम्बई के दोनों संस्करण एक ही हैं और प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों और इनके पाठ में मौलिक अन्तर है । इसी प्रकार संख्यात्मक और प्रसंगात्मक तथा भावनात्मक तीनों संस्करणों के पाठ में भी भेद दिखाया गया है। अंत में श्री महाप्रभु जी के प्राकट्य की वार्त्ता के प्रकाशित तथा हस्तलिखित प्रसंगों की तुलना निजवार्त्ता और घरूवार्त्ता के प्रसंगों से करके दोनों के रूप में समता दिखाई गई है और यह सिद्ध किया गया है कि निजवार्त्ता घरूवार्त्ता के ही प्रसंगों का संग्रह पृथक रूप से महाप्रभु जी की वार्त्ता के रूप में प्रगट हुआ है। यही कारण है कि इन दोनों के प्रसंगों में अन्तर नहीं है ।

छठे प्रकरण में कवियों के अतिरिक्त अन्य जिन सेवकों या व्यक्तियों के नाम वार्त्ताओं में आए हैं उन सब के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इस प्रकरण में पुष्टि मार्ग के प्रसिद्ध आचार्यों का जीवनच-रित्र वार्त्ता और सम्प्रदाय में उपलब्ध सामग्री के अनुसार प्रस्तुत किया गया है । इनके जीवन वृत्त यद्यपि सम्प्रदाय में हिन्दी और गुजराती दोनों भाषाओं में प्रकालित हो चुके हैं पर उनमें वार्त्ता साहित्य में आई घटनानों का विशेष घ्यान नहीं रक्खा गया है । इस जीवन वृत्त को वार्त्ता की घटनाओं के अनुसार प्रस्तुत किया गया है और प्रचलित ऐतिहासिक सामग्री के अनुसार उसे सत्य या असत्य प्रमाणित किया गया है । शेष सेवकों या इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों में से इसकी सीमा के भीतर केवल सेवकों का इतिवृत्त संग्रह किया गया है और केवल उनके सम्बन्ध में ही लिखा गया है। क्योंकि वहां वार्त्ता से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के बीच उन महानुभावों के चरित्र सम्बन्धी सामग्री की परीक्षा सरलता से हो जाती है। इस प्रकरण की सामग्री उपलब्ध करने में साधारण इतिहास से, सम्प्रदाय के सम्वाद ग्रंथों से, कीर्तन के पदों से, वंश से, बैठकों से, घरों से, सेव्य स्वरूपों से, आचार विचार की प्रचलित परम्परा से सहायता ली गई है । इस प्रकरण में ऐसी वार्त्ताओं से प्राप्त सामग्री का भी उपयोग किया गया है जहां वैष्णव का नाम न देकर 'एक राजा' एक स्त्री, 'एक पुरुष' मात्र लिख दिया गया है। इन वार्त्ताओं को एक स्थान पर एकत्र करके उनके सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री का उपयोग कर लिया गया है। इस प्रकार चौथे छठे और आठवें प्रकरणों के भीतर वार्त्ता-साहित्य में आए सभी नामों पर विचार हो गया है : उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता की परीक्षा हो गई है । उनके सम्बन्ध में वार्त्ता में जो कुछ उपलब्ध है, उसकी अन्य स्थानों से प्राप्त प्रमाणों से तुलना होगई है और अनतिहासिक की अप्रामाणिकता और ऐतिहासिक की प्रामाणिकता की पुष्टि की

गई है। वार्त्ता सम्बन्धी समस्त नामावली का यह इस प्रकार सर्व प्रथम विविध स्थानों से उपलब्ध सामग्री के आधार पर किया गया स्वतंत्र और प्रामाणिक अध्ययन है जो कहीं-कहीं अपूर्ण होते हुए भी असंदिग्ध है।

सातवें प्रकरण में वार्त्ता साहित्य में उपलब्ध कवियों और अन्य सेवकों या भक्तों के विवरण की भक्तमाल के मूल और टीका में प्राप्त इतिवृत्त के साथ तुलना की गई है और इसके आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि भक्तमाल का आधार लेकर वार्त्ता के प्रसंगों की जो आलोचना की जाती है उसमें कितना तथ्य है। भक्तमाल किस दृष्टिकोण से लिखा गया है उसका यह मर्म उसके प्रसंगों की वार्त्ता के प्रसंगों के साथ तुलना करके सिद्ध कर दिया गया है। इस अध्ययन में नाभादास, प्रियादास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री राधाकृष्ण दास तथा वनमाली दास शास्त्री की संस्कृत 'भक्त नाम मालिका' से सहायता ली गई है। ग्वालियर के प्रसिद्ध विद्वान श्री भालेराव के संग्रह में भक्तमाल की अनेक हस्तलिखित और प्रकाशित प्रतियाँ मुझे देखने को मिली हैं जिनके आधार पर भक्तमाल की विविध टीकाएं स्वयं एक अध्ययन का स्वतंत्र विषय हो सकती हैं और भक्तमाल के मूल प्रणेता तथा उसके टीकाकारों के दृष्टिकोण तथा उनके ज्ञान की सीमाओं का एक निश्चित रूप निर्णय किया जा सकता है। इन टीकाओं में भक्तमाल की एक मराठी भाषा की टीका की हस्तलिखित प्रति है जिसके रचयिता नाना बुआ कंदूरकर हैं जिसमें नाभाजी की गुरू परम्परा दी हुई है और अन्य वैष्णव गद्दियों का विस्तृत उल्लेख है जो हिन्दी भक्तमालों में नहीं है। मैंने इस टीका का भी उपयोग किया है। इसी संग्रह में भक्तमाल की एक संस्कृत टीका की हस्तलिखित प्रति देखने को मिली है जिसकी पृष्ठ संख्या चार सौ के लगभग है और जिसमें अनेक दन्त कथाएं भी सम्मिलित कर दी गई हैं। मराठी 'भक्त चरित्र' से भी वार्त्ता और भक्तमाल के इतिवृत्त की तुलना की गई है पर उनमें जहां भेद मिला है वहीं उनका उद्धरण दिया गया है अन्यथा नहीं और अध्ययन को केवल हिन्दी की प्रतियों तक ही सीमित रक्खा गया है। भक्तमाल और वार्त्ता के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि पुष्टि मार्ग से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों और सेवकों के सम्बन्ध में वार्त्ता का इतिवृत्त भक्तमाला की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक है क्योंकि इनके सम्बन्ध में भक्तमालकारों की जानकारी सीमित थी और उन्होंने केवल उनकी महिमा और बड़प्पन के लिए उनका स्मरण किया है। इस प्रकार यह सिद्ध किया गया है कि केवल भक्तमाल का सहारा लेकर जो लोग वार्त्ता के इतिवृत्त को अशुद्ध और अप्रामाणिक बताते और सिद्ध करते हैं वे उसके साथ न्याय नहीं करते हैं। वार्त्ता के इतिवृत्त को अप्रमाणिक सिद्ध करने के लिए उसका भक्तमाल में उल्लेख न मिलना ही यथेष्ट नहीं है उसका अन्य प्रमाणों से समर्थन या खंडन भी होना चाहिए। भक्तमाल संक्षिप्त है और वार्त्ता को इसकी आवश्यकता नहीं है।

आठवें प्रकरण में मध्य-कालीन साहित्य के उद्धरणों से वार्त्ता के वृत्त की तुलना इसलिए नहीं की गई है कि यह तुलना तीसरे प्रकरण में की जा चुकी है। इस प्रकरण में वार्त्ता साहित्य से प्राप्त कवियों तथा अन्य सेवकों के नामों और वृत्त की तुलना हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों से प्राप्त उनके वृत्त से की गई है। इसके लिए मिश्र-बंधु

विनोद, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० रमाशंकर शुक्ल "रसाल", डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी और डाक्टर रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों से इनके सम्बन्ध में प्राप्त इतिवृत्त की तुलना वार्त्ता के इतिवृत्त से की गई है और दोनों में जो एकता है उसका उल्लेख न करके केवल अन्तर को ही पृथक करके दिखाया गया है। इसमें वार्त्ता के जिन कवियों के नामों को इतिहास का समर्थन प्राप्त है उनकी सूची और उनकी भी सूची जिनका साहित्य के इतिहास में उल्लेख नहीं है प्रकरण के आरम्भ मे दे दी गई है। प्राय: यह देखने में आया है कि सभी इतिहास-लेखकों ने वार्त्ता के जिन कवियों का उल्लेख किया है उनके सम्बन्ध में वार्त्ता का इतिवृत्त ग्रहण कर लिया है और उसे ही संक्षेप में लिख दिया है। अष्टछाप के सभी कवियों के विषय में हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने यही नीति अपनाई है। इसलिए इस प्रकरण में वार्त्ता से प्राप्त सामाजिक और ऐतिहासिक वृत्त पर विचार किया गया है। इस वृत्त को प्रत्येक वार्त्ता ग्रंथ में से प्रति वार्त्ता के अनुसार छांटकर लिखा गया है। इसमें ऐतिहासिक वृत्त को पृथक और सामाजिक तथा सांस्कृतिक वृत्त को पृथक-पृथक करके लिखा गया है और उसकी स्वतंत्र आलोचना की गई है। इस आलोचना के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि वार्त्ता से प्राप्त इस प्रकार की सूचनाओं में कौनसी इतिहास की कसौटी पर खरी उतरी है और कौनसी अप्रामाणिक है। इन अप्रामाणिक विवरणों के आधार पर वार्त्ता के उस अंश को पीछे से जोड़ा हुआ या वार्त्ताकार की भूल सिद्ध किया गया है। इस वृत्त को प्रस्तुत करते समय इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि इतिहास में इनका जो वृत्त है उससे वार्त्ता के वृत्त की तुलना करके वार्त्ता के कथन की सार्थकता सिद्ध करली जाय और जहां इनका समय या वह घटना जिसका वार्त्ता में उल्लेख है इतिहास के मेल में न आती हो तो उसके सम्बन्ध में फैले हुए भ्रम की सम्भावना को भी दूर कर दिया जाय। इसी प्रसंग के साथ औरंगजेब के समय तक के प्रसिद्ध राज-मार्गों की सूची दी गई है तथा वार्त्ता में आए हुए वृक्षों के अतिरिक्त ब्रज प्रदेश के समस्त वृक्षों की सूची भी दे दी गई है। इस प्रकरण में वार्त्ता के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है उसमें उसे इतिहास की तुला पर तोला गया है और उससे विवरणों की तथा व्यक्तियों की खरी जांच की गई है। इस प्रमाण पर जो वृत्त ठीक चढ़ गए हैं उनके पक्ष या विपक्ष में प्रमाण खोजने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह गई है। यह प्रकरण यह सिद्ध करता है कि वार्त्ता में आए हुए व्यक्तियों को देश के राजनैतिक और सामाजिक जीवन से क्या सम्बन्ध था और उन्होंने किस प्रकार देश की उन्नति में, उसके साहित्य, संगीत और कला की उन्नति में, योग-दान किया है और अनुकूल तथा प्रतिकूल वातावरण में किस प्रकार कठिनाइयां झेल कर उन लोगों ने अपने धार्मिक विश्वास को जीवित रक्खा है और घोर नैराश्य के युग में निराशा के बीच आशा की किरण का प्रकाश दिखलाया है। समस्त हिन्दू धर्म की रक्षा में, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला, कविता की उन्नति में पुष्टि मार्ग की देन का भी उल्लेख इसी प्रकरण में हो गया है।

नवें प्रकरण में वार्त्ता साहित्य के गद्य और उसमें प्रयुक्त भाषा का अध्ययन किया गया है। इस गद्य के अध्ययन को सुलभ बनाने के लिए पहले आरम्भ में ब्रजभाषा के

व्याकरण और उच्चारण की कुछ मान्यताएँ लिख दी गई हैं और उनके उदाहरण दे दिए गए हैं। इसके पश्चात् पुष्टि मार्ग में प्राप्त तथा अन्यत्र से संकलित ब्रजभाषा गद्य के उदाहरण देकर प्राचीन और समकालीन ब्रजभाषा गद्य की रूप रेखा निर्धारित की गई है। गद्य के प्राप्त उदाहरणों को देकर फिर इस गद्य पर हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानों के मत का उल्लेख किया गया है और अन्त में डाकौर संस्करण की एक वार्त्ता के शब्दों की व्याकरण की दृष्टि से परीक्षा की गई है और वार्त्ता के गद्य के सम्बन्ध में एक निश्चित मत का निर्णय किया गया है। इस सम्बन्ध में वार्त्ता साहित्य में प्रयुक्त सभी शब्दों को संग्रह किया गया है और उनकी संख्या की गणना भी की गई है और समस्त शब्द-सूची में से ब्रज की बोली के, गुजराती के, तथा फारसी के शब्दों की संख्या, सूची पृथक-पृथक रूप से संग्रह करली गई है। साम्प्रदायिक शब्दों की सूची भी पृथक करली गई है। इस प्रकार के महत्वपूर्ण शब्दों की सूची इस प्रकरण में संलग्न करदी गई है। शेष को 'वार्त्ता शब्द कोष' तथा 'मुहाविरा कोष' के रूप में परिशिष्ट में स्थान दिया गया है। इसी प्रकरण में भाषा के आधार पर जो आलोचक दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता को चोरासी वैष्णवन की वार्त्ता से पृथक करके देखते हैं उनकी आलोचना का उत्तर दिया गया है।

दसवें प्रकरण में वार्त्ता साहित्य की विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख किया गया है। इसके भीतर वार्त्ता का साहित्य, दार्शनिक, ऐतिहासिक और अन्य सभी प्रकार के महत्व पर विचार किया गया है।

ग्यारहवें प्रकरण में वार्त्ता साहित्य के अध्ययन के आधार पर जो नवीन निष्कर्ष निकाले गए हैं या जिन प्रचलित मान्यताओं की पुष्टि की गई है उसका उल्लेख कर दिया गया है। यह प्रबन्ध पूर्व निर्धारित 'रूप रेखा' की सीमा के भीतर ही लिखा गया है और निश्चित विभाजन का निर्वाह पूरी तरह से किया गया है।

इस अध्ययन को पूर्ण करने के लिए प्रत्येक वार्त्ता पुस्तक में से प्रत्येक वार्त्ता का संक्षिप्त रूप तैयार किया है। उसकी मूल घटनाओं को एकत्र किया गया है। उसमें से अलौकिक वार्त्ताओं को अलग किया गया है। कवियों की सूची बनाई गई है। सेवकों की सूची संग्रह की गई है। इन सब के सम्बन्ध में जहां कहीं से भी जो प्रकाशित और अप्रकाशित सामग्री मिल सकी है उसका उपयोग करके उनके जीवन वृत्त को पूर्ण किया गया है। वार्त्ता के छोटे से छोटे अंश की साहित्यक, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक परीक्षा करली गई है। तत्कालीन इतिहास और साम्प्रदायिक प्रकाशित और हस्तलिखित ग्रन्थों और पोथियों से भी इस सामग्री की तुलना करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में वार्त्ता साहित्य के महत्त्व को सिद्ध किया गया है। वार्त्ताओं का धार्मिक महत्त्व तो है ही पर भाषा और विवरण की दृष्टि से उसके अन्य महत्त्व भी दिखाए गये हैं। वार्त्ताओं से प्राप्त पुष्टि-मार्गीय आचार, विचार, सेव्य स्वरूप और भावना का पुष्टि-दर्शन तथा अन्य पुष्टि मार्गीय साहित्य द्वारा समर्थन प्राप्त करके उसको समझाने की चेष्टा की गई है। प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में से जिनको अत्यन्त महत्त्व पूर्ण समझा गया है उनके चित्र

भी संलग्न कर दिए गए हैं। व्यक्तियों में श्री महाप्रभु जी, श्री गुसांई जी तथा उनके सात बालकों के चित्र सम्प्रदाय में प्रकाशित हैं उनका संग्रह इसमें नहीं किया गया है। इस अध्ययन में इस बात की सावधानी रक्खी गई है कि कोई ऐसी बात छूट न जाय जिसका सम्बन्ध पुष्टि मार्गीय वार्त्ता साहित्य से हो और जिसका प्रचलन वल्लभ-सम्प्रदाय के बीच रहा हो या हो। यह अध्ययन आलोचना की दृष्टि से नहीं 'समालोचना' की दृष्टि से और यथातथ्य परीक्षा की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित

काव्य में रस

सारांश

प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षकों ने काव्य-समीक्षा की अनेक कसौटियों का प्रतिपादन किया है। रस-सिद्धान्त उन सबमें प्रमुख है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी सिद्धान्त के मूल्यांकन की चेष्टा की गई है। समकालीन परिस्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कोई भी सिद्धांत आज उस समय तक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि वह परम्परा का ध्यान रखते हुए भी नवीनतम पाश्चात्य तथा पौरस्त्य सिद्धांतों को ध्यान में रखकर निश्चित नहीं किया जाता। अतएव इस प्रबन्ध में पौरस्त्य मतों का आकलन करने के साथ-साथ पाश्चात्य मतों का भी आकलन करके उन सब पर विचार किया गया है। संस्कृत तथा हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, बंगला तथा गुजराती जैसी अन्य भारतीय भाषाओं में भी इस सम्बन्ध में जो कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकी, उसका उपयोग करने की चेष्टा की गई है। हमने इस प्रबन्ध में मुख्यत: दो बातों का ध्यान रखा है। एक तो यह है कि इस सिद्धान्त का क्रमिक विकासमान इतिहास प्रस्तुत किया जा सके और दूसरे यह कि इसके अन्तर्गत आनेवाले प्रश्नों तथा वैचारिक परिवर्तनों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए अपने मत की स्थापना की जा सके।

प्रबन्ध के आरंभिक तीन अध्याय भारतीय विचारधारा का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। प्रथम अध्याय में कवि, काव्य तथा पाठक के संबंध मे भारतीय दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। इसका उद्देश्य मुख्यतः यह प्रदर्शित करना है कि भारत में वेदकाल से ही काव्य, काव्यस्रष्टा तथा उसके पाठक के संबंध में विचार उपलब्ध होते हैं। शास्त्रीय ग्रंथों में उनके सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है। हमारे विचार से कतिपय विद्वानों की यह धारणा कि भारत में इस सम्बंध में बहुत स्पष्ट विचार नहीं किया गया है, निर्मूल है।

द्वितीय अध्याय दो भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में संस्कृत के रस-समर्थकों का विवरण है और दूसरे में श्रव्य-काव्य में भी रस-कल्पना के आधारभूत कारणों पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम खण्ड वेदोपनिषदादि में 'रस' शब्द के व्यवहार की चर्चा से आरम्भ होता है और भरत की स्थापनाओं पर ध्यान रखते हुए उनके अनुगामी विचारकों

के उल्लेख के साथ मौलिक प्रयत्नों के ऐतिहासिक निर्देश के साथ समाप्त होता है। इस प्रकार इस अध्याय से इस सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास, दृश्य काव्य के अतिरिक्त श्रव्य-काव्य में भी रस की संभाव्यता एवं अनुगमन की प्रवृत्ति त्यागकर मौलिकता के लिए प्रयत्नशील आचार्यों के विचारों पर प्रकाश पड़ता है।

तीसरे अध्याय में इसी परम्परा के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यह इतिहास हिन्दी-लेखकों तक ही सीमित है। निःसन्देह, इतिहास की इस सामग्री को प्रस्तुत करने में इतिहास-ग्रंथों से सहायता ली गई है, किन्तु उन इतिहासों में अनुल्लिखित विचारकों के विचारों का समावेश भी इस अध्याय में मिलेगा। इतिहास-ग्रंथों से सहायता लेते हुए भी इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि रचना-काल सम्बन्धी वैमत्य तथा अन्यों द्वारा अविवेचित मुख्य विचारों के सम्बन्ध में हम अपना मत प्रकाशित कर सकें। इस अध्याय में नवीनतम लेखकों की कृतियों और उनके विचारों का परिचय भी समाविष्ट है, जो संभवतः अन्यत्र एकत्र न मिल सकेगा।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की उपस्थिति के पश्चात् चतुर्थ अध्याय में रस-सामग्री तथा उसके अनन्तर तद्विषयक विचारणीय प्रश्नों पर क्रमशः आठ अध्यायों में विस्तृत विचार किया गया है। अन्यान्य लेखकों ने भी अभी तक रस-निष्पत्ति की व्याख्या भर करके काम चला लिया है अथवा पाश्चात्य लेखकों के मतों के प्रकाश में साधारणीकरण या रसास्वाद के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। किन्तु हमने रस-निष्पत्ति, साधारणीकरण तथा रसास्वाद को तीन पृथक् अध्यायों में विभक्त कर दिया है और उसके अन्तर्गत आनेवाले सभी प्रश्नों पर पूर्वोक्त सभी भाषाओं के विद्वानों के मतों की समीक्षा करते हुए अपनी धारणाएं प्रस्तुत की हैं।

चतुर्थ अध्याय में रस सामग्री के विवरण के साथ तत्सम्बन्धी कुछ मुख्य प्रश्नों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है। उदाहरणतः, विभाव-वर्णन के अन्तर्गत नवीन काव्य पर दृष्टि रखते हुए नवीन आलम्बन तथा उद्दीपनों की संभावना पर अपना मत अभिव्यक्त किया है। अनुभाव तथा हाव को लेकर आचार्य शुक्ल ने आश्रय तथा आलम्बन के विचार से उनका सम्बन्ध निर्णय करने का प्रयत्न किया था। वे अनुभावों को आश्रय से और हावों को आलम्बन से सम्बन्धित मानते थे। किन्तु, कतिपय विद्वानों ने इस मत का विरोध किया है। हमने इस प्रश्न को उपस्थित करते हुए उभय पक्षों के तर्कों का विश्लेषण करने के उपरान्त कौनसा मत शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतर सकता है, इस विषय पर अपना अभिमत प्रकट किया है। इसी प्रकार सात्विक भावों के अन्तर्गत तीन मुख्य प्रश्न उठाऐ गये हैं। १, प्रलय, मूर्च्छा तथा जृम्भा की सात्विकभावों में परिगणना की उपयोगिता-अनुपयोगिता २, सात्विकभावों की अनुभाव से एकता या भिन्नता का प्रतिपादन तथा ३, संकोचवश मुख का आरक्त होना अथवा क्रोध से मुख की दीपित अवस्था नामक कल्पित नवीन सात्विकों की अनुपयुक्तता। प्रलय तथा मूर्च्छा या चेष्टा-निरोध का तुलनात्मक वर्णन उपस्थित करके उनका भेद प्रदर्शित किया गया है और जृम्भा को अस्वीकार किया गया है। सात्विकों की अनुभाव के अन्तर्गत परिगणना के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में मतभेद है। हमने यह तो

स्वीकार किया है कि सात्विक भावों के समान अनुभाव भी स्वतः सिद्ध होते हैं, किन्तु हमें यह भी स्वीकार है कि सात्विक भावों की नितान्त स्वतः सिद्धता के विपरीत अनुभाव शिक्षा या अभ्यास के द्वारा प्रयत्न-साध्य हैं। अतएव अनुभाव शारीर हैं, किन्तु अनुभाव-सदृश होकर भी प्रयत्न-साध्य न होने से सात्विक अनुभाव की श्रेणी में डाल दिए गए हैं। अन्तिम प्रश्न के सम्बन्ध में हमारा विचार है कि वे दोनों अनुभाव मात्र हैं।

संचारियों के वर्णन के अन्तर्गत उनकी स्थायीभाव में परिवर्तन की संभावना का समर्थन किया गया है और छल आदि नवीन संचारियों की अनुपयुक्तता पर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार स्थायीभावों के सम्बन्ध में उनके स्थायित्व तथा संचारी रूप में परिवर्तन एवं नवीन स्थायीभावों की कल्पना का भी विचार किया गया है। सर्वस्वीकृत आठ स्थायी भावों का विशद वर्णन भी दिया गया है। सभी प्रश्नों पर विचार करने का ढंग हमने स्वतन्त्र रूप से ही अपनाया है और शास्त्रीय दृष्टि से उचित निष्कर्ष की उपस्थिति का प्रयत्न किया है।

इसी अध्याय के दूसरे भाग में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भावों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आज के विज्ञान-समर्थित युग में हमें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि हम भारतीय भाव-विवेचन को मनोविज्ञान की कसौटी पर परखें। हमने वासना या चित्तवृत्ति स्थायीभाव तथा संचारीभावों के स्वरूप आदि का शास्त्रीय उल्लेख ध्यान में रखते हुए मनोविज्ञान-सम्मत इंस्टिंक्ट, इमोशन तथा सेंटिमेंट आदि का विचार तो किया ही है, साथ ही आधुनिक साहित्य-विचारकों द्वारा असमर्थित कतिपय स्थायी तथा व्यभिचारी भावों के रूप की परीक्षा भी की है। हमारा विश्वास है कि भारतीय तथा पाश्चात्य भाव-विवेचन की दृष्टि में मौलिक अन्तर है। हमारे यहां भावों का विचार काव्योपयोगी सामग्री की दृष्टि से हुआ है और पश्चिम में मानव मन का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। दूसरी बात यह कि मनोविज्ञान अभी स्वयं एक निश्चित विज्ञान के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर सका है। ऐसी दशा में उसके आधार पर भारतीय विवेचन का मूल्यांकन करना उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। हमने स्थायी तथा संचारी भावों की विवादग्रस्त तालिका में से प्रत्येक के स्वरूप पर विचार करते हुए यह निश्चय किया है कि इनमें से केवल कुछ ही भाव की श्रेणी से निकाल कर शारीर माने जा सकते हैं, किन्तु उनकी भी पूर्वनिश्चित रूप में उपयोगिता है, इसे अस्वीकार नहीं करना चाहिए।

पंचम अध्याय में क्रमशः छः खण्डों में रस-निष्पत्ति के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस सम्बन्ध में भरतमुनि के शास्त्र में दिए गए उन प्रकीर्ण उल्लेखों का एकत्र वर्णन करना लाभदायक समझा गया, जिनके आधार पर परवर्ती विद्वानों ने रस के स्वरूप का विश्लेषण किया है। इसके पश्चात् क्रमशः आचार्य भट्टलोल्लट, आचार्य शंकुक, आचार्य भट्टनायक तथा आचार्य अभिनवगुप्त एवं पण्डितराज तथा अन्य विद्वानों की रस-सूत्र की व्याख्या का विशद विचार किया गया है। इन मतों के वर्णन में यह ध्यान रखा गया है कि विभिन्न दार्शनिक मतवादों को मानने वाले इन आचार्यों के मतों की व्याख्या उन्हीं-उन्हीं दर्शन पद्धतियों के आधार पर की जाय, जिनके ये अनुयायी

रहे हैं। दार्शनिक पृष्ठभूमि का यह विवरण इन मतों को सही रूप में समझने में सहायक सिद्ध होगा। इससे उनकी सीमाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार का प्रयत्न हिन्दी में प्राय: नहीं हुआ और हिन्दीतर भाषाओं में भी नगण्य रूप में ही हुआ है। हमने विभिन्न आचार्यों के मतों पर उठाई गई आपत्तियों का आकलन तथा प्रत्येक आचार्य की मौलिकता का निर्देश भी किया है। अन्त में पृथक् रूप से विभावादि की रस-परिणत का भी वर्णन किया है।

षष्ठ अध्याय में साधारणीकरण सिद्धान्त का विवेचन है, जिसमें संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के विद्वानों एवं आचार्यों के मतों का विस्तृत निरूपण, हमारे विचार से, हिन्दी, में पहली बार प्रस्तुत किया जा रहा है। हमने संस्कृत लेखकों के मतों का विचार करने के उपरान्त हिन्दी, मराठी, गुजराती लेखकों के मतों के साथ अंग्रेजी लेखकों के विचारों की भी आलोचना की है और साधारणीकरण का विरोध करने वाले विवेचकों की आपत्तियों का उत्तर देते हुए इस सिद्धान्त के सुस्पष्ट विवेचन पर ध्यान केन्द्रित किया है। तादात्म्य के विरोध में जिस व्यक्ति-वैचित्र्य अथवा मध्यम रसकोटि की कल्पना विद्वानों ने की है, उन दोनों का युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर इस अध्याय में खण्डन किया गया है।

साधारणीकरण सिद्धान्त के समान ही रसास्वाद के निरूपण के लिए सप्तम अध्याय रखा गया है। इस अध्याय में आने वाले मुख्य प्रश्न इस प्रकार हैं—१, रसास्वाद का अधिकारी कौन है और उसकी योग्यताएं क्या हैं? २, रसास्वाद में बाधक विघ्न कौन से हैं और उनका क्या स्वरूप है? ३, ब्रह्मानन्द-सहोदरता और रसास्वाद के स्वरूप में दार्शनिक मतों के अनुसार क्या समानता या अन्तर है? ४, मधुमती भूमिका का क्या स्वरूप है? रसास्वाद का उससे कोई सम्बन्ध है कि नहीं? ६, मनोमय-कोश और आनन्दमय-कोश में से किस से रस का सम्बन्ध माना जाय? ६, रसास्वाद और करुण दृश्य के सम्बन्ध में संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी आदि भाषा में क्या विवाद है और हमारा अपना मत क्या है? तथा ७, रसास्वाद में छन्द एवं लय का क्या उपयोग है?

हमने ब्रह्मानन्द के सम्बन्ध में भिन्न दर्शन मतों की परीक्षा करके शैव सिद्धान्त को ही इसके अनुकूल माना है। मधुमती-भूमिका से हमें रसास्वाद का सम्बन्ध मान्य नहीं है। इसीलिए योग सिद्धान्त में कथित विशोका आदि के वर्णन की आवश्यकता हुई है। हमारे विचार से रसास्वाद योग की सविकल्प अथवा निर्विकल्प दोनों समाधियों से भिन्न प्रकार का है। इसी प्रकार आचार्य शुक्ल द्वारा कथित मनोमय-कोश से रसास्वाद का सम्बन्ध न मानकर हम आनन्दमय कोश से उसका सम्बन्ध मानते हैं करुण दृश्यों से रसास्वाद के सम्बन्ध में सब मतों की परीक्षा करके हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि रसास्वाद का अर्थ अनुभूत भावों का विघ्न-विरहित रूप में विश्रान्तिजनक होना ही है। विश्रान्ति ही सुख है, अतएव करुण का विश्रान्तिपूर्ण अनुभव भी सुखात्मक माना जाता है। इसलिए नहीं कि वहां का दु:ख सुख में परिवर्तित हो जाता है। अन्त में हमने रसास्वाद के लिए लय को अनिवार्य और छन्द को हितकर मानते हुए छन्द एवं लय के प्रयोग के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है।

अष्टम अध्याय रसों के पृथक् विवेचन तथा नवीन रसों पर विचार करने के हेतु लिखा गया है । इस प्रसंग में हमने प्रत्येक रस के भेद तथा विभावादि का सोदाहरण वर्णन तो किया ही है । शृंगार रस के अन्तर्गत अश्लीलता, नायिका-भेद की उपयोगिता तथा हिन्दी-साहित्य में श्रृंगार रस-वर्णन पर भी संक्षेप में विचार प्रस्तुत किए हैं । हमने रसों के वर्णन में अंग्रेजी या मराठी से प्राप्त सामग्री पर भी विचार किया है । हास्य के भेदों का अंग्रेजी के आधार पर भी वर्णन किया गया है । इसी प्रकार मराठी में प्रचलित प्रक्षोभ तथा क्रान्ति रस, गुजराती में काका कालेलकर द्वारा कथित रस-परिशोधन के विचार या संस्कृत में भोज आदि द्वारा वर्णित अनेकानेक रसों की अलोचना की गई है । हमने अन्य हिन्दी लेखकों द्वारा दिए गए कतिपय उदाहरणों की तत्तद रस के लिए अनावश्यकता प्रदर्शित की है । हमने नौ रसों के अतिरिक्त भक्ति तथा वात्सल्य की भी प्रतिष्ठा की है । हमारा विचार है कि देशभक्ति एक पृथक् रस नहीं हो सकता इसी प्रकार वात्सल्य रस के संयोग तथा विप्रलम्भ नामक दो भेद करके उनके भी उपभेदों का वर्णन किया है । रसों की परस्पराश्रयिता, भिन्नता एवं रसराजता आदि अन्य प्रश्नों पर भी इस अध्याय में अपना अभिमत प्रकाशित किया गया है ।

नवम अध्याय में रसाभास, भावाभास आदि का वर्णन किया है । हम प्राचीन लेखकों के मतों का अध्ययन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि रसाभास वस्तुतः रसवादी का नतिक दृष्टिकोण है । साथ ही, जिसे लोग रस की मध्यम कोटि कहते हैं, वह रसाभास भावाभास के अन्तर्गत आ जाती है । इस प्रसंग में हमने तिर्यग्योनिगत रति-वर्णन तथा कृष्ण-गोपिका या पाण्डव तथा द्रोपदी के बीच के प्रेम निरूपण का भी विचार किया है और शास्त्रीय दृष्टि के अनुकूल उसकी आलोचना की है । रसाभास क्या रस ही है तथा उसका किसी अन्य रस में परिवर्तन संभव है अथवा नहीं, इन दो प्रश्नों पर भी इस अध्याय में विचार किया गया है ।

दशम अध्याय में ध्वनि, अलंकार, गुण, वक्रोक्ति तथा रीति आदि भारतीय काव्य-समीक्षा सिद्धान्तों से रस का सम्बन्ध स्थापित करके हमने यह दिखाने का प्रयत्न प्रयत्न किया है कि इन सभी सम्प्रदायों को रस पर ही आश्रित रहना पड़ा है । अतएव यही सर्वोत्तम सिद्धान्त है ।

अन्तिम, एकादश अध्याय, उपसंहार के रूप में है । इसमें वर्तमान काल में प्रचलित प्रगतिवादी, अभिव्यंजनावादी, मनोविश्लेषण, प्रभाववादी तथा इतर समीक्षा शैलियों का परिचय देकर उनकी एकांगिता पर प्रकाश डाला गया है । अन्त में प्रयोगशील नयी कविता को दृष्टि में रख कर रस-सिद्धान्त की उपयोगिता का विचार करके मत स्थिर किया गया कि रस-सिद्धान्त ही काव्य का सार्वकालिक, सार्वभौम तथा सर्वग्राह्य समीक्षा-सिद्धान्त हो सकता है ।

डॉ० रामचन्द्र मिश्र

हिन्दी के आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य और विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन

हिन्दी के आधुनिक काव्य की प्रगति में छायावादी-रहस्यवादी धारा का विशेष महत्व है। सच तो यह है कि हिन्दी की क्रमागत काव्य-परम्परा को आधुनिक छायावादी और रहस्यवादी काव्य की असाधारण देन है। अपनी नवीन भावधारा और अभिव्यंजना शैली से इसने हिन्दी के अन्तरंग एवं बहिरंग सौन्दर्य में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है।

छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य व्यापक रूप से स्वच्छन्दतावादी काव्य शैली का ही एक विशेष उन्मेष है। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य की स्पष्ट रूपरेखा १९२५ ई० से हिन्दी काव्य में परिलक्षित होने लगती है। अनन्तर १९४० ई० तक इस काव्य-धारा के अन्तर्गत इतनी महत्वपूर्ण रचनाएँ हुई कि हिन्दी-साहित्य में समृद्धि का एक नया युग ही आ गया। इस महत्वपूर्ण काव्य-धारा और काव्य-शैली के मूल स्रोत क्या हैं और वे कब से और कहाँ से उद्भूत हुए हैं? यह जिज्ञासा साहित्य के विद्यार्थी के लिये अत्यन्त स्वाभाविक और अनिवार्य है। छायावादी-रहस्यवादी काव्य को यदि हम स्वच्छन्दतावादी काव्य कहें तो १८७५ ई० से १९२५ ई० तक पचास वर्ष के काल में अनेक कवि और काव्य-प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिन्हें पूर्व-स्वच्छन्दतावादी कवि और पूर्व-स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति या भावधारा कह सकते हैं। पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्तियों के महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अध्ययन को ही मेरा यह प्रबन्ध प्रस्तुत करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्य लेखकों ने श्रीधर पाठक को हिन्दी का प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि कहा है। इससे पाठक जी का व्यक्तित्व एवं उनकी कृतियों का अस्तित्व भी हिन्दी का गौरव है। उनकी इन महत्ताओं के कारण ही उनको भी इस प्रबन्ध के अन्तर्गत अनुशीलन का विषय बना लिया गया है।

उपर्युक्त काव्य-प्रगति के समान ही योरुप में भी स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा का उत्कर्ष हुआ है। यह परम्परा जर्मनी, रूस, फ्राँस एवं इंगलैंड में विशेष रूप से प्रवाहित हुई थी। मुख्यतः अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी धारा ने योरुप के प्रादेशिक साहित्यिक प्रगतियों के अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व के साहित्य को जो उन के संसर्ग में आये, प्रभावित किया है। योरुपीय स्वच्छन्दतावादी धारा के पूर्व वहाँ भी पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग रहा है। इस युग ने ही वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी युग के लिये राज-पथ प्रस्तुत किया है।

१७वीं-१८ वीं शताब्दी में जब योरुप में प्रकृति-विज्ञान, समाज विज्ञान, राजनीति एवं अर्थशास्त्र आदि सभी क्षेत्रों में परिवर्त्तन प्रस्तुत हो रहे थे, उस समय भी महाद्वीप के बुद्धिजीवियों के हृदय में रोम एवं ग्रीस की परम्पराओं तथा शास्त्रीयता के प्रति आस्था थी। जॉन काल्विन और मार्टिन लूथर के रूढ़िवादिताओं के विरुद्ध सुधारवादी आन्दोलन होने पर भी उस समय सम्पूर्ण योरुपीय विश्व-विद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं में लैटिन और ग्रीक साहित्य की प्रवृत्तियों के प्रति ममता और आस्था थी। कालान्तर में यद्यपि लोक-भाषाओं के प्रयोग की अभिवृद्धि हुई तथापि इन भाषाओं का प्रारम्भिक सृजित साहित्य अपने विषय एवं अभिव्यंजना के सम्बन्ध में उक्त भाषाओं का ही ऋणी और आभारी था।

जर्मनी में मार्टिन पिज, स्पेन में कालिडरन, फ्राँस में कार्निल, मॉलियर एवं रेसिन तथा इंगलैंड में मिल्टन, ड्रायडन एवं पोप आदि परम्परावादी शास्त्रीय काव्य के सम्बन्ध में ही प्रतिनिधित्व कर रहे थे; किन्तु शास्त्रीयता का सम्मोहन दीर्घकाल तक साहित्यिकों को आकर्षित न कर सका। सामयिक परिस्थितियों ने भी परम्परावादी साहित्य को झकझोर डाला। 'अमेरिका का स्वातंत्र्य संग्राम', 'फ्रांस की राज्य-क्रांति' एवं योरुपीय 'औद्योगिक क्रान्ति' ने शास्त्रीय काव्य की प्रगति में व्यवधान डाले। इस समय से ही काव्य-क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी भावना का प्रस्फुटन हो उठा। विल्सन एवं पिरानेजी के प्रकृति-चित्रणों से फ्राँस में इस भावना को विशेष बल मिला। अनन्तर वाल्टेयर एवं रूसो की विचार धाराओं से परतंत्र मानव स्वतंत्र होने के लिये छटपटा उठा। इससे केवल फ्राँस एवं योरुप के देशों को ही प्रेरणा नहीं मिली; किन्तु विश्व के मानव ने भी अपनी निष्कृति की प्रेरणा ली। फलस्वरूप वैयक्तिक भावनाओं का क्रमशः विकास प्रारम्भ हो उठा। इसी समय काण्ट, फिशे एवं हीगेल आदि कतिपय योरुपीय विद्वानों ने भावनाओं की आध्यात्मिक भूमि पर कर्त्तव्य-निष्ठा आदर्शवादिता एवं रहस्यवादिता आदि दार्शनिक विचारों का सम्पोषण किया। इन लोगों को विचारधाराओं ने यथार्थ पर जोर देकर स्वाभाविक-भावनाओं की उत्पत्ति के लिये क्षेत्र तैयार किया। इस भावना से सम्पूर्ण योरुप प्रभावित हुआ। अँग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्य को उत्कर्ष पर पहुंचाने वाले वर्डस्वर्थ, बायरन शेले एवं कीट्स आदि के लिये उनसे पूर्व के पूर्व-स्वच्छन्दतावादी टॉमसन, कॉलिन्स ग्रे, काउपर, गोल्डस्मिथ, बर्न्स एवं ब्लैक आदि कवियों द्वारा सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार करदी गई। इन लोगों के काव्य में प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रण वेदना एवं दुःखवाद, प्रेम, ग्रामीण सरलता, सरलतम भाषा में काव्य का निर्माण एवं काव्य में रहस्यवाद आदि आदि स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्तियों को स्थान मिल चुका था। वैयक्तिकता के साथ-साथ काव्य में प्रगीतात्मक अभिव्यंजना शैली भी सर्वमान्य हो उठी थी। कहना यों चाहिये कि योरुपीय स्वच्छन्दवादिता के प्रचार और प्रसार के साथ-साथ अंग्रेजो के पूर्व-स्वच्छन्दतावादी कवियों ने अपने देश के स्वच्छन्दतावादी कवियों के लिये सुदृढ़ भूमि तैयार कर दी। इन कवियों के काव्य में आगस्टन-काल की प्रतिक्रिया विद्यमान थी।

उपर्युक्त के समतुल्य ही हिन्दी-काव्य में भी प्रगति रही। भारतीय साहित्य में सदैव शास्त्रीयता का प्राबल्य रहा। कारण—धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र

आदि में सर्वत्र ही आदर्श की पूजा एवं प्रधानता रही है। हिन्दी साहित्य के वीरगाथा-काल, भक्ति-काल एवं रीति-काल आदि सभी में समाजवादी स्थूल चित्रण ही विद्यमान रहे हैं। इन सभी कालों में व्यक्तिवादी भावना से दूर परम्परावादी शास्त्रीय काव्य का ही प्रधान्य रहा।

अंग्रेजों के आर्थिक शोषण और सामाजिक तथा राजनीतिक दमनों के कारण भारतीयों की आदर्श-निष्ठा एवं शास्त्रीयता पर आघात लगा। भारतीयों में अपने वैयक्तिक अस्तित्व के लिये अनुराग बढ़ा। १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतंत्रता-उपलब्धि के लिये उतर खड़ा होना अपनी सामाजिक, वैयक्तिक के एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता के मूल्यांकन के कारण ही सम्भव हुआ। इस विद्रोह में यह अवश्य सत्य है कि भारतीयों को अपने दुर्भाग्य से असफलता का ही साक्षात्कार करना पड़ा, किन्तु इस से भारत को जाग्रति का अनुभव अवश्य हुआ। वस्तुतः उसे नवचेतना का आशीर्वाद मिला जिससे वह अन्धविश्वास की खुमारी छोड़कर यथार्थ को परखने में समर्थ हुआ। परम्परागत रूढ़ियों को धक्का लगा जिस से जीवन के सत्य के प्रति साहित्यिकों का ममत्व बढ़ा।

उपर्युक्त अनुकूल वातावरण में ही भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी के कवियों को काव्य के विषय, छन्द एवं भाषा आदि के परिवर्तन के लिये बाध्य होना पड़ा। इस में सन्देह नहीं कि उनके परम्परावादी काव्य में वही शास्त्रीय निष्ठा अब भी विद्यमान थी, किन्तु वह काव्य-क्षेत्र में नूतनता की उपेक्षा भी न कर सके। जनता की भाषा (प्रचलित खड़ी बोली) में लोक प्रचलित छन्दों (लावनी, गजल, होली, कजली एवं कबीर आदि) में जनता की समस्याओं (भुखमरी, अविद्या परतंत्रता एवं समाज के अन्यान्य विकार आदि) के वर्णन प्रस्तुत किये गये। यह सब स्वच्छन्दवादिता अवश्य नहीं थी; किन्तु इस से तत्सम्बन्धी प्रेरणाओं की अनुभूति अवश्य हुई। इस युग में कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" एवं "मेघदूत" आदि के जो अनुवाद राजा लक्ष्मणसिंह से प्रस्तुत किये गये थे—उन्होंने हिन्दी जगत को स्वच्छन्दतावादी भावना का परिचय दिया। अनन्तर स्वच्छन्दवादी मौलिक भावनाओं का स्वरूप ठाकुर जगमोहन सिंह में उपलब्ध होता है। मध्य प्रदेश के पर्वतीय दृश्यों एवं श्यामा प्रेयसी के कारण प्रकृति एवं प्रेम विषयक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ ठाकुर साहब में विशेष रूप से उभर आई हैं। अनन्तर पं० श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित "एकान्तवासी योगी" काव्य के प्रस्तुत कर देने पर स्वच्छन्दतावादी काव्य का स्वरूप हिन्दी-काव्य में विद्यमान हो गया। देश-विदेश के सभी काव्यानुरागियों ने इस काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें प्रथम हिन्दी का स्वच्छन्दतावादी कवि सिद्ध किया।

भारतेन्दु-युग के उपरान्त द्विवेदी-युग की उपदेशात्मक एवं इति-वृत्तात्मक काव्य प्रवृत्तियों के कारण स्वच्छन्दवादिता की स्वाभाविक धारा में व्यवधान अवश्य प्रस्तुत हो गये, किन्तु पंडित श्रीधर पाठक के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा चलती अवश्य रही। द्विवेदी-काव्य भूमि के बाहर राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी एवं रूपनारायण पाण्डेय आदि कवियों द्वारा स्वच्छन्दता को सम्पोषण मिलता रहा। १९१५ ई० के उपरान्त पाश्चात्य काव्य के परिचय और रवीन्द्रबाबू की गीतांजलि के प्रभाव से छायावादी कविता के तत्वों का समावेश प्रारम्भ हो गया। स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति आलोच्यकाल

की समाप्ति १९२५ ई० तक चलती रही। स्वच्छन्दतावादी एवं छायावादी काव्य के लक्षण अधिकांशतः समान हैं। इस से १९१५-२५ ई० के मध्य में दोनों प्रकार के काव्यों का सम्मिश्रण समान रूप से चलता रहा---प्रसाद, पन्त एवं निराला आदि के काव्यों में इस प्रकार के मिश्रित काव्य के लक्षण स्पष्ट परिलक्षित हैं। १९२५ ई० में प्रसाद के 'आँसू' काव्य के प्रकाशित हो जाने पर हिन्दी काव्य में छायावादी काव्य का स्वरूप उपस्थित हो गया। इस प्रकार १८७५ ई० से १९२५ ई० तक के स्वच्छन्तावादी काव्य की प्रगति का अध्ययन ही मेरा यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करता है।

इस स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति में पं० श्रीधर पाठक का व्यक्तित्व महामहिम रहा है। उन्होंने अपने अध्ययन और प्रतिभा के बल पर गोल्डस्मिथ के हरमिट, डेजर्टेड विलेज एवं ट्रेवलर के सफल हिन्दी अनुवाद कर हिन्दी की स्वच्छन्दवादी भावना को विकास प्रदान किया है। उन्होंने अपने मौलिक काव्यों द्वारा भी इस भावना को प्रशस्त किया है। गोल्डस्मिथ के उपर्युक्त काव्यों के अनुवाद पाठक जी ने 'एकान्तवासी योगी' 'ऊजड़ग्राम' एवं 'श्रान्त पथिक' के नाम से किये हैं। इस के अतिरिक्त पाठक जी के 'मनो-विनोद', 'जगतसचाई सार', 'काश्मीर सुषमा', 'आराध्य शोकांजलि', 'देहरादून', 'श्री गोपिका गीत', 'भारतगीत', एवं 'तिलिस्माती मुँदरी', आदि काव्यों एवं कहानी में उनकी स्वच्छन्दतावादी भावना उपलब्ध होती है।

उपर्युक्त महत्ताओं के कारण ही श्रीधर पाठक के व्यक्तित्व एवं उनकी कृतियों के अनुशीलन को इस प्रबन्ध में सन्निविष्ट कर लिया गया है। यों पाठक जी का रचनाकाल भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हुआ था और उसका अधिकांश द्विवेदी-युग में पूर्ण हुआ है तथापि रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', 'रामचन्द्र शुक्ल' रूपनारायण पाण्डेय, मन्नन द्विवेदी 'गजपुरी', बदरी नाथ भट्ट, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर 'प्रसाद' एवं मुकुटधर पाण्डेय आदि ऐसे कवि थे, जिन्होंने अपनी काव्य प्रवृत्तियों द्वारा पाठक जी से अनुप्रेरित स्वच्छन्दतावादी भावना को प्रगति दी है। ये कवि पाठक जी के व्यक्तित्व एवं काव्य से भी प्रभावित हुए थे। इस से इन कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों का अनुशीलन भी प्रस्तुत किया गया है।

योरुप एवं भारत दोनों में इतना देशान्तर होते हुए भी मैंने यह विवेचित करने का प्रयास किया है कि दोनों देशों के स्वच्छन्दतावादी काव्य के मूल में पूँजीवाद के उत्थान का ही मूल कारण था, जिससे उसे जाग्रति मिली। योरुप में मूलतः औद्योगिक क्रान्ति एवं भारत में अंग्रेजों के शोषण एवं मिलों के प्रचार से, व्यक्ति प्रधान स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिये प्रसार-क्षेत्र मिला। योरुपीय और भारतीय सामाजिक स्थितियों के अन्तर के कारण दोनों की स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रेरणा बहुत भिन्न है। फिर भी दोनों में समानता का अंश कम नहीं है। योरुपीय स्वच्छन्दतावाद के समान ही हिन्दी काव्य का स्वच्छन्दतावाद समान्तवादी समाज व्यवस्था के विरोध में उपस्थित हुआ। दोनों में मध्यवर्गीय आत्मनिर्भरता और वैयक्तिक स्वातंत्र्य भावना प्रबल है। स्वच्छन्दवादिता के अन्य कारण भी जैसे प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्दता प्रेम, अज्ञात की लालसा दोनों में समान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि योरुप और भारत को स्वच्छन्दतावादी काव्य प्रवृत्तियों में समानता और भिन्नता की पर्याप्त मात्राएँ विद्यमान हैं।

योरुप और भारत की इस स्वच्छन्दतावादी धारा में काफी साम्य और वैषम्य है। इसी से योरुपीय स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा का विवेचन भी आनुषंगिक रूप से इस प्रबन्ध के अन्तर्गत किया गया है।

इस प्रकार इस प्रबन्ध द्वारा यह विवेचित किया गया है कि भक्ति और रीति कालों की शास्त्रीयता निस्सन्देह काव्य के स्वाभाविक स्वरूप पर पटाक्षेप किए थी। स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति से उसकी अवरुद्ध गति को एक नूतन जीवन मिला। फलतः काव्य में मानवीय चेतना का प्रस्फुटन हुआ। इस प्रकार हिन्दी के कृत्रिम काव्य के स्थान पर स्वाभाविक-काव्य का स्वरूप सुशोभित हुआ। वास्तव में काव्य के इसी स्वरूप में साहित्य-देवता का "सत्यं-शिवं-सुन्दरं" निवास करता है। इस से इस विशेष धारा से हिन्दी काव्य का महान् उपकार हुआ। साथ ही उसने उसे गरिमामय और महिमामय भी बना दिया, यह सत्य है।

पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग की भावधारा एवं काव्य-शैली आदि दोनों दृष्टियों से जो काव्य-प्रवृत्तियाँ संचित हो रही थीं, उनका प्रगल्भ परिपाक प्रसाद जी के आँसू एवं पन्त और निराला की आरम्भिक रचनाओं में दिखाई देता है।

इन दोनों काव्य-भूमियों का साहित्यिक विवेचन हमारी प्रबन्ध की सीमा के बाहर है; परन्तु इतना निवेदन करना अप्रासंगिक न होगा कि ठाकुर जगमोहनसिंह, श्रीधर पाठक एवं रामनरेश त्रिपाठी की काव्य-कृतियों की अपनी आरम्भिक स्थिति का परिचय देने वाली काव्य-भावना ही प्रसाद और परवर्ती कवियों में अपनी पूर्ण तरुणाई में उपस्थित हुई है। अतएव आचार्य शुक्ल जी के इस मत से सहमत होना हमारे लिये कठिन है कि प्रकृत-स्वच्छन्दतावाद ठाकुर जगमोहन सिंह एवं श्रीधर पाठक की कृतियों में ही उपलब्ध होता है तथा प्रसाद, पन्त, निराला आदि में आकर उक्त काव्य धारा संकुचित और साम्प्रदायिक बन जाती है। उल्टे हम यह मानते हैं कि ठाकुर साहब और पाठक जी का आरम्भिक काव्योन्मेष ही इन छायावादी कवियों में वेगपूर्ण होकर पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुआ है।

डा० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

कृषक-जीवन सम्बन्धी शब्दावली

अलीगढ़ क्षेत्र की बोली के आधार पर यह शब्द-संग्रह 'कृषक-जीवन सम्बन्धी शब्दावली' के नाम से तैयार किया गया है। इस शब्दावली में केवल शब्दों का ही संकलन नहीं है, अपितु प्रचलित लोकोक्तियाँ और मुहावरे भी संकलित किये गये हैं। मैंने स्वयं अलीगढ़ जिले तथा उसके संक्रमण क्षेत्र वाले सीमावर्ती जिलों के गांवों में घूम घूम कर शब्दों तथा लोकोक्तियों का संग्रह किया है। संकलन का कार्य विशेषत: अशिक्षित वृद्ध ग्रामीण मनुष्यों और स्त्रियों के मुख से निकली हुई वाक्यावली से ही किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में जनपदीय शब्द व्यापक रूप में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से एकत्र किये गये हैं और ग्रंथ के अनुच्छेदों में वे स्पष्टत: दृष्टिगोचर हो सकें, इस विचार से उन्हें रेखांकित भी कर दिया गया है। जो शब्द जिस तहसील अथवा परगने में अधिक प्रचलित हैं, उसके आगे उसका स्थान भी लिख दिया है। इस का अर्थ यह नहीं है कि वह विशेष शब्द अन्य स्थानों में बोला नहीं जाता।

जहां तक संभव हो सका है, वहां तक कुछ जनपदीय शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी साथ-साथ लिख दी हैं। शब्दों का क्रमिक विकास दिखाते हुए उनकी प्रयोग-पुष्टि के लिये पाद-टिप्पणी के रूप में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अरबी तथा फारसी के ग्रन्थों से उद्धरण तथा प्रमाण भी दिये गये हैं और संकलित लोकोक्तियों के अर्थ भी लिखे गये हैं। प्रबन्ध में संगृहीत संपूर्ण शब्दों की संख्या लगभग तेरह हजार है और लोकोक्तियां पांच सौ के लगभग हैं।

शब्द-संग्रह का कार्य कुछ नीरस-सा है, अत: विषय को रोचक तथा बोधगम्य बनाने के लिये मैंने ऐसी वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक पद्धति को अपनाया है, जिसके द्वारा कृषकों तथा शिल्पकारों की संस्कृति एवं क्रियाकलापों का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। वस्तुओं के नामों तथा रूपों को स्पष्ट करने के लिये यथा-स्थान आवश्यकतानुसार रेखा-चित्र तथा चित्र (फोटोग्राफ) भी दिये गये हैं और प्रत्येक प्रकरण को अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्याय को अनुच्छेदों में विभक्त करके लिखा गया है।

व्युत्पत्तियों के द्वारा हमें शब्दों के पूर्ण जीवन और उनकी वंश परंपरा से परिचय प्राप्त हो जाता है। व्युत्पत्तियों की छान-बीन से ही हम भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों तथा

प्रवादों तक पहुंचते हैं और हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि अमुक शब्द की प्राचीनता और विकास-क्रम क्या है ? अत: प्रस्तुत प्रबन्ध में शब्द की व्युत्पत्ति की ओर भी कहीं-कहीं ध्यान दिया गया है, पर यह प्रबन्ध का उद्देश्य न था, और यह स्वतंत्र अनुसंधान का विषय होने के कारण यहां अधिक नहीं लिखा जा सका है ।

जिला अलीगढ़ की ब्रजभाषा को सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने स्टैंडर्ड ब्रजभाषा माना है । आचार्यवर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने ग्रंथ 'ब्रजभाषा'[१] में लिखा है कि—"मथुरा, आगरा, अलीगढ़ और बुलन्दशहर की बोली पश्चिमी अथवा केन्द्रीय ब्रज मानी जा सकती है । इस रूप को सर्वमान्य विशुद्ध ब्रज भी कहा जा सकता है ।' अतएव अलीगढ़ –क्षेत्र की शब्दावली ब्रजभाषा – साहित्य के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा लाभप्रद सिद्ध होगी । मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत प्रबन्ध की शब्दावली प्रकाशित तथा प्रकाश्य ब्रजभाषा-ग्रंथों के समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान करेगी ।

वर्तमान युग के भारतवर्ष में नागरिक संस्कृति एवं सभ्यता दिनों दिन बढ़ती जा रही है । विज्ञान के नये आविष्कार प्रतिदिन गावों की ओर फैलते जा रहे हैं, ऐसी दशा में हमारे कृषकों और शिल्पकारों के औजारों तथा कार्य-प्रणालियों के बदलने में अधिक समय न लगेगा । जब किसानों के सब खेत ट्रेक्टरों से जुतने लगेंगे और सिंचाई बिजली के कुओं से होने लगेगी, तब देसी हल और पैर के कुओं से सम्बन्धित जनपदीय शब्दावली ग्रामीण जनों की जिह्वाओं से सदा के लिये उठ जायगी, खड़ी बोली के व्यापक प्रभाव से आज भी बहुत-से शिक्षित मनुष्य ब्रजभाषा की कवितायें नहीं समझ पाते । जायसी, सूर, तुलसी, सेनापति, बिहारी आदि की कविताओं में आये हुए बहुत-से शब्दों के अर्थ हम साधारणतः नहीं समझ पाते । उपर्युक्त कवियों के काव्य ग्रंथ में प्रयुक्त कितने ही शब्दों को मैं अब इस प्रबन्ध द्वारा समझ सका हूँ । मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत शब्द-संग्रह ब्रजभाषा काव्यों में आये हुये पारिभाषिक शब्दों के समझने में सहायक होगा ।

हिन्दी-भाषा के कोश का संकलन करते हुये हमें हिन्दी के जनपदीय शब्दों को भी लेना पड़ेगा । हम अपनी भाषा और साहित्य को जन-जीवन से बहुत कुछ दूर ही दूर हटाते चले जा रहे हैं । यह दु:खद स्थिति है, यदि हमारी राष्ट्र-भाषा (हिन्दी) का सम्बन्ध जन-बोलियों से टूट जायगा, तो यह सदा के लिये निष्प्राण हो जायगी । विद्वद्वर्य महा-पंडित श्री राहुलसांकृत्यायन का कथन है कि—"कोई भी साहित्यिक या शिष्ट भाषा आकाश से नहीं उतरती, उसका किसी न किसी बोली से विकास होता है । विद्वान यह भी मानते हैं कि जिस साहित्यिक भाषा का अपनी बोली से अटूट सम्बन्ध रहता है वह बड़ी सजीव होती है । मुहावरे, संकेत आदि जितने भाषा को सबल बनाने वाले तत्व हैं, वे बोलियों की देन हैं । जिस साहित्यिक भाषा का अपने मूल स्रोत—बोली—से सम्बन्ध टूट जाता है, उसकी सजीवता बहुत कुछ नष्ट हो जाती है ।[२]"

---

१ —प्रका० हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी इलाहाबाद, सन् १९५४ ई०, पृ० ३५ ।

२ —"हिन्दी की मूल भाषा कौरवी बोली है" शीर्षक लेख, सम्मेलन-पत्रिका प्रयाग, संवत् २०११, भाग ४०, संख्या ४ ।

हिन्दी का जो अपना असली रूप है, वह गाँवों की टकसाल में ही ढला था, हिन्दी के आदि जन्मदाता ग्रामीण जन ही हैं। उन्होंने ही संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों को हिन्दी रूप दिया है। पाणिनीय काल की संस्कृत भी लोक-भाषा के अनेक शब्दों को अपनाकर चली थी, पाणिनि को विदित था कि कोई साहित्यिक भाषा तभी तक जीवित तथा प्राणवन्त बनी रह सकती है, जब तक वह लोक-भाषा की भूमि से शब्दों को निर्बाध लेती रहे। व्यापक साहित्य की भाषा संस्कृत भी समय-समय पर जन-भाषा से शब्द लेती रही है। अतएव राष्ट्रभाषा हिन्दी को भी व्यापक और सबल बनाने के लिये हमें जनपदीय बोलियों से शब्दों को लेना होगा। उन्हीं बोलियों में ब्रजभाषा की शब्दावली का प्रमुख स्थान है—जनपदीय बोली के व्यापक, सबल तथा अर्थपूर्ण शब्दों को हिन्दी में ले लेने पर धार्मिक पक्षपात या आग्रह का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। हिन्दी के शब्द-कोशकारों, पारिभाषिक शब्दावली-निर्माताओं तथा साहित्यस्रष्टाओं को भाषा के इस अक्षय्य, स्रोत अर्थात् जनपदीय शब्दावली की शरण में जाना अनिवार्य है। बोलियों की शब्दावली से साहित्यिक भाषा सदा पोषित होती रही है। एक समय था जब ब्रजभाषा सारे उत्तरी भारत की साहित्यिक भाषा बन गई थी। भक्ति-आन्दोलन के प्रसंग में इस भाषा की शब्दावली उत्तरी भारत के बड़े क्षेत्र में फैल गई। अतएव यह स्वाभाविक है कि अलीगढ़-क्षेत्र, जो ब्रज प्रदेश का हृदय है, की शब्दावली भी व्यापक क्षेत्र में पहुंची हो।

इस शब्द-संग्रह में शब्दों का स्वरूप वही रक्खा गया है, जो जनपदीय बोली में है। यदि बोलीगत आवरण हटा दिया जाय तो आशा है कि अनेक शब्द परिनिष्ठित (स्टैंडर्ड) हिन्दी में लिये जा सकेंगे।

लोकोक्तियों के साथ-साथ कुछ बुझौवलों (पहेलियां) का भी संग्रह किया गया है। बुझौवल और लोकोक्तियाँ साहित्य में अलंकारों से भी बढ़कर अर्थवत्ता रखती हैं। लोकोक्ति के छोटे चुस्त वाक्य में युगों का अनुभव सिमटकर आ जाता है, बुझौवल जनपदीय भाषा में जैसे समासोक्ति या रूपकातिशयोक्ति का काम देती है। श्रद्धेय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है कि—

लोकोक्तियां मानवीय ज्ञान के चोखे और चुभते सूत्र हैं। अनन्त काल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-रश्मियां नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती हैं, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियां मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्ति होती है।"

आचार्यवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक स्थल पर लिखा है—

"हजारों मील के विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन तो दूर की बात है, उनके मुहावरों, गीतों, शब्द-भण्डारों और लोककथानकों का वैज्ञानिक अध्ययन भी पड़ा ही हुआ है।"[1]

१—डा० सावित्री सिन्हा (संपादिका) : अनुसंधान का स्वरूप, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, सन् १९५४ ई०, पृ० १६.

इस अभाव को लेखक ने कुछ पूरा करने का प्रयत्न किया है। उस प्रयत्न का विषय-सारिणी-गत विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रकरण-क्रम से पारिभाषिक शब्दों की संख्या

प्रकरण-संख्या		संगृहीत शब्दों की संख्या
१	......	५१३
२	......	६०६
३	......	३४८
४	......	२६५
५	......	२०६
६	......	६६५
७	......	३०२
८	......	२६०
९	......	४७१
१०	......	३३३
११	......	११३५
१२	......	३७५१
१३	......	१७८३
१४	......	३८४
१५	......	१४४६
संगृहीत शब्दों का पूर्ण योग	=	१३१५८

प्रस्तुत प्रबन्ध में आठ हजार से अधिक हिन्दी के साभिप्राय अभिव्यंजक सबल शब्द संगृहीत हैं, जिनमें से सौ-दो सौ को छोड़कर शेष अभी तक हिन्दी के कोशों में नहीं आये हैं। उदाहरण के रूप में इस संग्रह के कुछ शब्द यहां प्रकरणानुसार अकारादिक्रम से लिखे जा रहे हैं। शब्दों के आगे लिखे हुए अंक प्रस्तुत, प्रबन्ध का अनुच्छेद-संख्या के द्योतक हैं—

प्रकरण १

कृषि सम्बन्धी साधन, यंत्र और उपकरण

(१) अध्याना—६५ (सं० अग्निधान) = आग का एक गड्ढा-सा जिसके पास बैठ कर किसान लोग प्रायः जाड़ों में तापते हैं।

(२) कठवाहीं—३ (सं० काष्ठबहु) = चरस में ऊपर के भाग में एक खमदार लकड़ी लगी रहती है, जिसे पकड़कर किसान पानी से भरे चरस को ढालता है।

(३) कोंड़र—३ (सं० कुण्डल) = पुर (चरस) के मुंह पर लगा हुआ लोहे का एक गोल घेरा।

(४) गमागम ढार—१६ = ढेंकली चलानेवाला जब इतनी शीघ्रता से पानी ढालता है कि पानी की धार का तार नहीं टूटता और पानी भी तेज बहता है, तब उस क्रिया को **गमागमढार** कहते हैं।

(५) घाँटन—१४ (सं० घट्टन) = रस्सी या बर्त (वै० सं० वर, त्रा) की रगड़ से हाथों में जो निशान पड़ जाते हैं, वे **घांटन या घिटना** कहाते हैं।

(६) ज्वारा—८ (सं० युगल) = दो बैलों की जोड़ी जो किसी जुए में जुते हुए हों।

(७) झंडना—४१—लोहे आदि की बनी हुई किसी वस्तु में जब लोहे की कील एक विशेष ढंग से जड़ी जाती है तब उस क्रिया के लिये "**झंडना**" धातु प्रचलित है। यह अंग "रिबेट" के अर्थ में बहुत प्रचलित और महत्वपूर्ण शब्द है।

(८) नरकटा—६ = चरस खींचनेवाले बैलों की जोड़ी जब कुएँ की नहँची में पहुंचती है, तब वहां बैलों की गर्दन पर काफी जोर पड़ता है, अर्थात् नार (गर्दन) कटने लगती है। उस जगह को **नरकटा** कहते हैं।

(९) परोहा—१३ (सं० प्रारोहक) = चमड़े का बना हुआ एक खुला थैला-सा जिससे किसान सिंचाई के समय पानी को ऊँचे धरातल वाले खेत में डालता है।

(१०) पैरचलाना—२ = सिंचाई करने की एक क्रिया जिसमें किसान पुर, बर्त (वै० सं० वरत्रा) और बैलों के द्वारा कुएं से पानी निकालते हैं।

(११) सुहागा—३५ (सं० सौभाग्यक) – लकड़ी का एक बड़ा और भारी तख्ता-सा जिससे जुते हुए खेत की मिट्टी को चौरस किया जाता है। यह खेत की भूमि को सौभाग्य या सौन्दर्य प्रदान करता है, इसी लिये इसका नाम "सुहागा" है।

(१२) सोहा और करार—३० (सं० सेध + क—सेहा, सं० कराल—करार) = जुताई के समय खेत में गहरा गड़ कर चलने वाला हल करार और ऊपरी रुख में हलका चलनेवाला हल सेहा कहाता है।

(१३) हरपघा या हरबागा—२४ (सं० हलप्रग्रह, सं० हलवल्गा) = हल में जुते हुए बैलों में बाईं ओर के बैल की नाथ में एक लम्बी रस्सी बंधी रहती है जिसे पकड़ कर हलवाहा बैलों को हांकता है। वह रस्सी हरपघा या हरबागा कहाती है।

(१४) हर्स—३० (सं० हलीषा-हल + ईषा—हल का डंडा) = लम्बा और भारी डंडा-सा जो हल में लगा रहता है।

प्रकरण २

खेत और फसल की तैयारी

(१५) **अँगोला—१११ (सं० अग्रपोतलक) = गन्ने का ऊपरी आगे का भाग जिस पर पत्तियाँ लगी रहती हैं।**

(१६) **खूंद—१६१ (सं० क्षुद्र-प्रा० खुँद्द-हि खूंद) = गेंहूँ, जौ, जई आदि के पौधे जब हाथ सवा हाथ बढ़ जाते हैं, तब खूंद कहलाते हैं।**

(१७) तेखर—७४ (सं० त्रिकर्ष)=असाढ़ी (रबी की फसल के लिये असाढ़ से क्वार तक जुतने वाला खेत) में जब तीसरी बार जुताई की जाती है, तब उसे तेखर कहते हैं। जोत की ४ एकड़ धरती को संस्कृत में "त्रिहल्या" या "त्रिसीत्या" कहते थे।

(१८) नौदा और पेड़ी—११३, ११४ (सं० नव+वृद्ध—नौदा)—नई बोई हुई ईख की फसल **नौदा** कहाती है और दुबारा जब उसमें से ही जड़ें फूटकर ईख हो जाती हैं, तब उसे **पेड़ी** कहते हैं।

(१९) पांस—७१ (सं० पांशु)=खाद के काम में आने वाला सूखा गोबर।

(२०) पिहन—७१ (सं० अपिधान)=कुठले (मिट्टी का बना हुआ एक घेरा सा जिसमें अनाज भरा जाता है) के मुंह का ढक्कन।

(२१) मेंढ़िया—१७५ (सं० मैढिक या मैधिक)=खलियान की दांय में केन्द्र भाग पर घूमने वाले बैल को **मेंढ़िया** और बाहर किनारे वाले बैल को **पागड़ा** कहते हैं।

(२२) लावा—१६० (सं० लावक)=पकी हुई रबी की फसल (बैसाखिया फसल या बावनी की **लाई** (कटाई) करने वाला व्यक्ति **लावा** कहाता है। सावनी (खरीफ की फसल) की फसल पक जाने पर ज्वार-बाजरे की बालें काटनेवाले को **कपटा** (सं० क्लृप्ता) कहते हैं।

(२३) स्याबड़ा—१८४ (सं० सीतावट्टक—सीता+वट्टक=हल के कूंड़ का ढेला) =खलिहान में अनाज की रास को पूजने के लिये किसान जंगल से **आन्ना** (सं० आरण्य) **कंडा** (उपला) और अपने खेत से मिट्टी का एक ढेला लाता है। ढेला उसी खेत का होता है, जिसमें रास के अनाज की फसल उगाई गई थी। मिट्टी का वह ढेला **स्याबड़ा** कहाता है।

प्रकरण ३

खेत और उनके नाम

(२४) कबिसा—१९३ (सं० कपिश+क)—जिस खेत की मिट्टी काली-पीली होती है, वह **कबिसा** कहाता है।

(३५) गाढ़—१९३ (सं० गर्त—प्रा० गड्ड—गाड़—गाढ़)=चिकनी-सी मिट्टी वाला नीचे धरातल का खेत।

(२६) पटिया—१९५=अधिक लम्बा और कम चौड़ा खेत।

(२७) पडुआ—१९७—वे खेत जिनमें सिंचाई कुंओं आदि से नहीं हो सकती और जिन्हे केवल वर्षा का पानी ही मिल पाता है। पडुओं में वर्षा के कारण ही कुछ अन्न उग आता है, अन्यथा खाली पड़े रहते हैं।

(२८) पूठा—१९७ (सं० पृष्ठ)—जो खेत ऊँचे धरातल पर होते हैं, वे पूठा कहाते हैं।

(२९) डहर—१९२ (सं० ह्रद—दहर—डहर)=नीचे धरातल का खेत, जिसके अन्दर वर्षा के दिनों में प्रायः पानी भरा रहता है, डहर कहाता है।

(३०) बरहे—१९४ (बहिर्) = गांव के बाहर दूरी पर जो खेत होते हैं, वे बरहे कहाते हैं।

(३१) बोंहड़ी—१९२ = दो—तीन बीघे का छोटा खेत बोंहड़ी या कौनियाँ कहाता है।

(३२) भूड़ा—१९३ = जिस खेत की मिट्टी रेतीली और खुश्क होती है, उसे भूड़ा कहते हैं।

प्रकरण ४

खेती और पशुओं को हानि पहुंचानेवाले जंगली पशु जीवजन्तु

(३३) ऐंठा—२१२—जौ, गेहूँ आदि की पत्तियों में लगने वाला एक रोग जिससे पत्तियां मुड़कर ऐंठी-सी हो जाती हैं।

(३४) चोरा—२०४—(सं० चचर—चउर—चोर—चौरा) = खेत की पूरी तरह से उजाड़।

(३५) पुलारना—२०९ = धरती को पोला करने के अर्थ में "पुलारना" धातु प्रचलित है।

प्रकरण ५

बादल, हवायें और मौसम

(३६) उनमनि—२१६ = जब दिन भर आकाश में बादल घिरे हुए रहें, मौसम कुछ ठंड का हो और वर्षा न हो तब उस वातावरण को उनमनि कहते हैं।

(३७) उमस—२३१ (सं० ऊष्मा) = बदरौटी धूप हो और हवा बन्द हो, तो उस वातावरण को उमस कहते हैं।

(३८) औचक या पंडवारी—२३१ = ये दोनों शब्द सं० मृगमरीचिका के अर्थ में प्रचलित हैं।

(३९) घमछांहीं—२१६ (सं० घर्मछाया) = आकाश में यदि बादल थोड़ी-थोड़ी देर में छा जायें और धूप भी थोड़ी-थोड़ी देर में निकलती रहे तो उसे घमछाहीं कहते हैं।

(४०) झर—२१८—यदि निरन्तर एक-दो दिन तक थोड़ी-थोड़ी वर्षा होती रहे तो उसे "झर-लगना" कहते हैं।

(४१) निवाये जाड़े—२३२ (सं० निवात—निवाय)—जाड़े के अंतिम दिनों में जब ठंड कम हो जाती है, तब वे निवाये जाड़े कहाते हैं।

(४२) बरसोंहा बादल—२१५ = वह बादल, जो पूरी तरह पानी से भरा हुआ होता है, बरसोंहा कहाता है—यह अंग "निम्बस" का उपयुक्त पर्याय-वाची है।

(४३) भर—२१८ = वर्षा का झर बन्द हो जाने के उपरान्त यदि बादल छाये रहें और धूप न निकले तो उस वातावरण को "भर" कहते हैं।

प्रकरण ६

कृषि तथा कृषक से सम्बन्धित पशु

(४४) अनासू या नहसुआ—२४६ (सं० ऊनपार्शुक-अनासू) =जिस बैल की पसुलियों में एक-आध हड्डी कम होती है, उसे **अनासू** कहते हैं।

(४५) खैरा या खैला—२४०—(सं० उक्षतर—उक्खयर—खयर—खड़र—खैरा—खैला) =नाथ पड़जाने के उपरान्त चौदन्ता या छिदन्ता बैल खैरा कहाता है।

(४६) बासनी—$\frac{१३९}{१०}$ (सं० वस्निका) =कपड़े की अथवा सूत के मोटे डोरों से बनी हुई एक लम्बी थैली, जिसमें किसान रुपये रखकर कुछ खरीदने के लिये जाते हैं। संस्कृत में "वस्न" का अर्थ था—"विक्रय द्रव्य" या "मूल्य"। उसे रखने की थैली बासनी (सं० वस्निका) हुई।

(४७) महेला—२६२—घोड़े की एक विशेष खुराक जो उबली हुई मोठ में गुड़ मिला कर बनाई जाती है।

(४८) हिन्नमुतान—$\frac{२४१}{३}$ (सं० हिरण + मूत्रस्थान) =एक किस्म का बैल जिसके मुतान की खाल लटकी हुई नहीं होती बल्कि हिरन के मुतान की तरह छोटी और कसी हुई होती है।

प्रकरण ७

पशुओं से सम्बन्धित वस्तुएँ और किसान की सांकेतिक शब्दावली

(४९) गोंन—२९१ (सं० गोणी) =एक प्रकार का दुरुखा थैला जिसे अनाज आदि से भरकर गधे की पीठ पर लाद देते हैं।

(५०) तिकारना और नहँकारना—२९६ =हल या गाड़ी में जुते हुए बाहिरे (दांई ओर का) बैल को "न्हाँन्हाँ" कहते हुए चलने का संकेत करना "**हूंकारना**" या "**नहूंकारना**" कहाता है। खुर्जे में इसे "**ओनाना**" भी कहते हैं। भीतरे (बाईं ओर का) बैल को "**तिकतिक**" कहते हुए संकेते करना "**तिकारना**" कहाता है।

(५१) मुछीका—२८३ (सं० मुखशिक्यक) =रस्सी की बुनी हुई कटोरानुमा जाली जो बैल आदि के मुंह पर लगा दी जाती है, ताकि वह चारा न खाने पाये।

प्रकरण ८

किसान का घर और घेर

(५२) चौपार—३०० (सं० चतु:पालि)—किसान की बैठक जिसके आगे सपीलोंदार एक बड़ा चबूतरा होता है।

(५३) जूना—३०४ (वै० सं० यून) =गेहूँ की नलई से बनी हुई एक मोटी रस्सी।

(५४) बिटौरा—३०४ (सं० विष्ठाकूट)—किसानों की स्त्रियां कंडों (उपलों) को एक जगह चिन कर उनसे एक छोटा टीला—सा बनाती हैं। उसे "**बिटौरा**" कहते हैं। कंडे का टुकड़ा **करसी** (सं० करीष) कहाता है। जंगल में पड़े गोबर के चोथ के सूख जाने पर स्वत: बना हुआ कंडा आन्ना (सं० आरण्य) कहाता है। लोकोक्ति प्रचलित है—"जानें दईये रोटीदार। सोई देइगो कंडा चार।[1]"

प्रकरण ९

किसान के गृह-उद्योग

(५५) चलामनी या दहेंड़ी—३१३ (सं० दधि + भाण्डिका—दही + हण्डिया-दहें-ड़ी)—मिट्टी का एक बर्तन, जिसमें रई (मथानी) से दही बिलोया जाता है, चलामनी या **दहेंड़ी** कहाता है।

(५६) नौनी या लौनी—३१३ (सं० नवनीत) = औटाकर (गर्म करके) जमाये हुए दूध में से निकला हुआ घृत।

(५७) रैंटी—३११ (सं० अरघट्टिका) = एक यंत्र, जिससे स्त्रियां घरों में कपास ओटती हैं अर्थात् रुई और बिनौला अलग करती हैं, रैंटी या चरखी कहाता है।

प्रकरण १०

बर्तन, खिलौने और संदूक

(५८) कुप्पी—३२३ (सं० कुतुपिका) = चमड़े की बनी हुई एक प्रकार की बोतल जिसमें तेल भरा रहता है।

(५९) टिखटी—३२८ (सं० त्रिकाष्ठिका) = काठ की बनी हुई एक तिपाई-सी जिस पर पानी का एक घड़ा रख लिया जाता है।

प्रकरण ११

पहनाव, उढ़ाव, साज-सिंगार और खान-पान

(६०) गौंतरिया—४५६ (सं० ग्रामान्तरीय) = बाहर के गांव में रहने वाला रिश्तेदार जो महमान की भांति किसी के घर दो-एक दिन रहता है।

(६१) सूतना—३५३ (सं० स्वस्थान—सुत्थन—सूथान—सूतना) = एक प्रकार का पाइजामा जिसके पायंचे टांगों से चिपटे रहते हैं।

प्रकरण १२

जनपदीय व्यवसाय

(६२) उकेरनी—७७३ (सं० उत्कीर्णिका)—लोहे या पीतल आदि धातु की बनी हुई किसी वस्तु पर अक्षर या अंक खोदने की एक कलम।

१—भाग्य पर पूर्ण आस्था और विश्वास रखनेवाले का कथन है कि जिस ईश्वर ने रोटी दाल दी है, वही चार कंडे भी देगा।

(६३) खचेरा या पंडी—$\frac{४७०}{२}$ =एक प्रकार का लम्बा जाल जिसके कोने पकड़कर दो मछुये पानी में चढ़ाव की ओर खींचते हैं।

(६४) डोरा लोहा और ढरा लोहा—७३१ =आग में गर्म करके और ठोक-पीटकर बनाया हुआ लोहा डोरा और गलाकर किसी सांचे की शक्ल में बनाया हुआ लोहा ढरा कहाता है। अँग० "रौट आइरन" और "कस्ट आइरन" शब्दों के लिये क्रमश: "डोरा लोहा" तथा "ढरा लोहा" उपयुक्त पर्याय हैं।

(६५) बेगड़ी—७३६—(सं० वैकटिक)—हीरा, पन्ना आदि रत्नों को तराशनेवाले कारीगर।

प्रकरण १३

जनपदीय शिल्पकार

(६६) खड्डी—६६५=हाथ का करघा जिससे कपड़ा बुना जाता है, यह अंग० के "थ्रोशटिललूम" जैसे लम्बे शब्द के लिये छोटा-सा उपयुक्त प्रचलित शब्द है—अंग० "शटिल" के अर्थ में "ढरकी" शब्द बहुत प्रचलित है। ढरकी से ही ताने में बाने का तार डाला जाता है, जिस बेलन पर बुना हुआ कपड़ा लिपटता जाता है उसे तुरि (सं० तुरी) कहते हैं।

(६७) पचाना—८६६—सुनार जब सोने में नग को इस प्रकार जड़ते हैं कि नग तथा सोने का धरातल एक हो जाता है तब उस जड़ाई के लिये "पच्ची" कहा जाता है और उस क्रिया के लिए "पचाना" धातु प्रचलित है।

(६८) पनसार या पंसार—६२७= मकान या दीवाल के चौरस धरातल को पंसार कहते कहते हैं। अँग० "लैविल" के लिये राजों की बोली का यह शब्द बहुत उपयुक्त है।

(६९) बन्दरुम—६४५=मिट्टी की बनी हुई एक प्रकार की मकान की जाली बंदरुम कहाती है। यह जाली रूम या कुस्तुनतुनिया की जाली की अनुकृति है। इसीलिये यह नाम पड़ा है।

(७०) लोखर ८६६ =गंडासा, खुरपी, दरांत आदि किसान के औजार, जिन्हें लुहार बनाता है, लोखर कहाते हैं। यह शब्द अँग० "इम्प्लीमैंट्स" के अर्थ में प्रचलित है।

(७१) सांट या जौर=६८२=करघे या खड्डी की कंघी की खराबी से कपड़े में तागों का एक गूंजटा-सा बन जाता है। वही सांट या जौर कहाता है। अँग० "रीडमार्क" के अर्थ में यह प्रचलित शब्द है।

(७२) सावल—६३८—(सं० साधुल—साहुल—सावल) =दीवाल की चिनाई की सीध देखने के लिए राजों का एक यन्त्र। यह दीवाल की साधुता अर्थात् सीधापन बताता है, इसीलिये इसे सावल (सं० साधुल) कहते हैं।

प्रकरण १४

यात्रा के साधन

(७३) बहली—१११७ (सं० बाह्याली) = एक प्रकार की छतरीदार बैलगाड़ी, जिसका ऊपरी भाग तथा छतरी इक्के की छतरी से मिलती-जुलती होती है, बहली या मँझोली कहाती है।

(७४) भारकस—१०७० (फा० बारकश)—जनपदीय जन जिन बैलगाड़ियों में माल ढोते तथा यात्रा करते हैं, वे गाड़ियाँ भारकस कहाती हैं।

(७५) रब्बा—११२१ (अ० अराबा) = एक प्रकार की बैलगाड़ी, किसकी छतरी आयताकार होती है और जो आकार तथा आकृति में रहलू से कुछ मिलती-जुलती है, रब्बा कहाती है।

प्रकरण १५

कृषक का धार्मिक तथा सांस्कृतिक जीवन

(७६) किंगड़ी—१२५४—इकतारे से मिलता जुलता एक बाजा जिसमें दो-तीन रोदे होते हैं और जो सारंगी की भांति गज की रगड़ से बजता है।

(७७) धारगीत—$\frac{११५४}{१}$—नगरकोटबारी (दुर्गादेवी) की पूजा में प्रातः ब्राह्म मुहूर्त में गाया जाने वाला एक गीत। इसे बिहान भी कहते हैं।

(७८) नौरता—(सं० नवरात्रक)—११६२—कवार और चैत की नौरातियों (सं० नवरात्रिका)—आश्विन तथा चैत्र मास के शुक्ल पक्ष में (प्रतिपदा से नवमी तक के नौ दिन) में गाये जाने वाले विशेष गीत।

(७९) भाँड़ी—१३११—एक प्रकार का मर्दाना नाच जिसमें पेड़ू, कमर और कूल्हू को विशेष रूप से मटकाया जाता है।

डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी

हिन्दी-साहित्य में हास्य-रस [१८७०-१९५०]

मानव जीवन में हास्य का विशिष्ट स्थान है। जातीय सजीवता के साथ-साथ यह सुधार का माध्यम भी है। मनुष्य और पशु में एक विशेष अन्तर यह है कि मनुष्य हँस सकता है, व्यंग्य समझ सकता है और हास्य पर मुस्करा सकता है। जो मनुष्य जितना "प्रकृत" होगा उसमें हास्य से आनन्द उठाने की उतनी ही मात्रा अधिक होगी। हमारा साहित्य प्रारम्भ से ही प्रकृतस्थ रहा है क्योंकि भारतेन्दु काल की कृतियों हीं से हमें व्यंग्य-विनोद के छींटे मिलने लगते हैं।

शास्त्रीय-विवेचनः—संस्कृत के आचार्यों ने शृंगार-रस को ही प्रधान माना है। संस्कृत साहित्य में हास्य-रस की कृतियां भी अपेक्षाकृत कम मिलती हैं। अंग्रेजी साहित्य में हास्य-रस का विवेचन अधिक मिलता है। "हम क्यों हंसते हैं" ? इस प्रश्न पर विदेशी विद्वानों ने विशद विवेचन किया है, यद्यपि असंगति हास्य का मूल सर्वमान्य रहा है। हमने प्रतिपादित किया है कि हास्य-रस भी रस-राज माना जा सकता है। वास्तव में हास्य रस आचार्यों की दृष्टि से अब तक उपेक्षित रहा है। भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने हास्य रस के लक्षण तथा उदाहरण देकर इसको समाप्त कर दिया है। हास्य के प्रभेद विदेशी साहित्य में स्पष्ट मिलते हैं उनका अलग-अलग विवेचन भी मिलता है किन्तु हमारे यहां जो वर्गीकरण किया गया है वह हसन-क्रिया का है, हास्य का नहीं।

अभाव के कारणः—पराधीनता, शृंगार रस का प्राधान्य, अद्वैतवादी दार्शनिक दृष्टिकोण आदि ही हिन्दी में हास्य रस के अभाव के कारण रहे हैं किन्तु यह धारणा गलत मालूम पड़ती है कि हिन्दी साहित्य हास्य रस की दृष्टि से बहुत पीछे है। अमीर खुसरो से आज तक पद्यात्मक साहित्य में हास्य रस प्रमुख मात्रा में मिलता है, हां गद्य में हास्य विदेशी साहित्य की अपेक्षा कम है किन्तु भारतेन्दु काल से इस दिशा में भी समृद्धि हो रही है।

नाटकः—भारतेन्दु काल में हास्य रस के प्रहसनों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। उनके जमाने में प्रचुरमात्रा में प्रहसन लिखे गये। उनमें वार्तालाप प्रधान था। धार्मिक रूढ़ियां, विधवा विवाह, बाल-विवाह, बहु-विवाह नशेबाजी के दुष्परिणाम, आदि सामाजिक

विषय प्रधान रहे। एक-एक समस्या पर कई लेखकों ने प्रहसन लिखे। कलात्मक दृष्टि से वे उच्चकोटि के नहीं थे। उस समय के प्रहसनकारों ने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार की नाट्य-शैलियों का मिश्रण किया तथा अपने प्रहसनों को इसी मिश्रित शैली में लिखा। द्विवेदी युग में प्रहसनों की गति मन्थर रही। द्विवेदी युग के बाद प्रहसनों की पुन: बाढ़ आई। रेडियो पर प्रहसनों के प्रसारण ने भी प्रहसनों के सृजन को प्रोत्साहित किया। कलात्मक दृष्टि से आधुनिक युग के प्रहसनों में निखार आया। आलम्बन धार्मिक रूढ़ियों से बदल कर फिल्मी जीवन, घरेलू समस्याएं तथा राजनैतिक नेता हो गए।

कहानी:—भारतेन्दु काल में हास्य रस प्रधान कहानियों का प्राय: अभाव ही रहा। द्विवेदी युग में हास्य रस प्रधान कहानियों का श्री गनेश हुआ किन्तु शिल्प की दृष्टि से वे अपरिपक्व ही रहीं। वर्तमान युग में हास्य रस की कहानियों से हिन्दी साहित्य सन्तोषजनक रूप से पल्लवित हुआ। भाषा, कथावस्तु एवं चरित्र चित्रण की दृष्टि से हास्य रस-प्रधान कहानियां अब प्रचुर मात्रा में मिलती हैं।

उपन्यास:—हास्य रस प्रधान उपन्यासों का अभाव भारतेन्दु काल से ही रहा है। यद्यपि द्विवेदी काल के उपरान्त कुछ प्रयास इस ओर हुआ है किन्तु वह नगण्य है। अंग्रेजी साहित्य में "वुडहाउस", "डिकेन्स", "डीफो" की सी प्रतिभा अभी हिन्दी में नहीं हुई।

निबन्ध:—भारतेन्दु काल से ही हास्य-रस के सुन्दर निबन्धों का सृजन प्रारम्भ हो गया था। द्विवेदी युग में भी इस ओर लेखकों का झुकाव रहा। आधुनिक युग में भी हास्य रस के सुन्दर निबन्ध मिलते हैं। हास्य रस की दृष्टि से हिन्दी का निबन्ध साहित्य पर्याप्त मात्रा में समृद्ध रहा है।

कविता:—हास्य रस पूर्ण काव्य हिन्दी के आरम्भिक काल से ही मिलता है। भारतेन्दु काल के काव्य में हास्य रस प्रचुर रूप में मिलता है। "स्यापा" उस समय की हास्य रस कविता की विशिष्ट शैली थी। फैशनेबुल युवक-युवतियां, टैक्स, अंग्रेजी राज्य के अधिकारीगण, कंजूस कविता के आलम्बन थे। उस समय का हास्य प्रकट हास्य था। उसमें स्नेह हास्य का अभाव था। व्यंग्य में कटुता विशेष थी। द्विवेदी युग के बाद हास्य रस की कविता कम लिखी गई। वह समय ही गम्भीरता एवं भाषा परिष्कार का था। द्विवेदी युग के बाद हास्य रस की कविता की एक बाढ़ सी आई। भारतेन्दु काल तथा द्विवेदी युग में मुक्त छन्द ही हास्य रस के अधिक मिलते हैं। किन्तु पिछले ५० वर्षों में ऐसे कवि बहुत मिलते हैं जिन्होंने केवल हास्य रस में ही अपनी कविताएं लिखीं तथा वे हास्य रस के कवि के रूप में प्रख्यात हैं।

हास्य के प्रभेदों में व्यंग्य ही कविता में अधिक मिलता है। यह बात जो भारतेन्दु काल के लिए लागू होती थी वह आज भी है। परिहास उससे कम मिलता है। विशुद्ध हास्य का अभाव हिन्दी कविता में प्रारम्भ से ही रहा है जो आज तक चला आ रहा है। वैसे हास्य रस की कविता में प्रौढ़ता एवं परिष्कार दृष्टिगोचर अवश्य होता है किन्तु बौद्धिक हास्य की कमी खटकती है। यही कारण है कि आधुनिक गौरव प्राप्त मासिक पत्र

तथा पत्रिकाओं में हास्य रस की कविताओं के दर्शन दुर्लभ हैं। हां, होलिकांकों में अवश्य प्रतिवर्ष हास्य रस पूर्ण कविताएँ देखने को मिल जाती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि अभी पाठकों में हास्य रस की कविता में आनन्द लेने की रुचि उचित मात्रा में जाग्रत नहीं हो सकी है। लोग हलके से व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं।

पत्र-पत्रिकाएँ—हास्य रस प्रधान पत्र-पत्रिकाएँ भारतेन्दु काल में नहीं थीं। हास्य रस की कृतियां अवश्य हर पत्र में निकलती थीं। द्विवेदी युग में इनका प्रारम्भ हुआ। आजकल लगभग पांच छः हास्य रस प्रधान पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं किन्तु उच्च कोटि की एक भी नहीं कही जा सकती। व्यंग्य चित्र बिना हास्य रस का पत्र कुछ मूल्य नहीं रखता। वर्तमान पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य चित्रों का अभाव है, यदि निकलते भी हैं तो दूसरे पत्रों से उद्धृत करके या किसी नवसिखिए व्यंग्य चित्रकार के प्रयोगावस्था में बनाए हुए। इंगलैण्ड के "पंच" तथा भारत के "शंकर्सवीकली" (अंग्रेजी) जैसे हास्य एवं व्यंग्य पत्रों की अत्यन्त आवश्यकता है।

अनुवादः—विदेशी साहित्य एवं प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के हास्य रस के ग्रन्थों के बहुत कम अनुवाद हिन्दी में मिलते हैं। कम से कम प्रसिद्ध अंग्रेजी के हास्य रस की कृतियों का अनुवाद तो हिन्दी में शीघ्र होना चाहिए जिससे नये लेखकों को इस बात का ज्ञान हो जाय कि हास्य का स्तर कैसा होना चाहिए।

रेडियो-रूपक-साहित्यः—आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से हास्य रस पूर्ण नाटक प्रसारित होते रहते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककारों के अतिरिक्त रेडियो-टैक्नीक से प्रहसन लिखने वालों का एक नया लेखक-मंडल तैयार हो गया है। इन नाटकों में ध्वनि की सहायता से प्रभाव उत्पन्न किया जाता है।

कार्टून-साहित्यः—हास्य रस का "व्यंग्य-चित्र" एक प्रमुख रूप है। आज के युग में इनका महत्व बहुत ज्यादा है। राजनैतिक एवं सामाजिक विषयों को लेकर अनेक कार्टून समाचार पत्रों में प्रतिदिन निकलते हैं। "व्यंग्य-पट्टियां" आधुनिक युग की विशेषता हैं।

आज का हास्य-साहित्य हँसने हँसाने के मजमे की सीमा को लांघ चुका है। आज के हास्य में सामाजिक चेतना मुखरित हो चुकी है। "प्रकट" हास्य का स्थान "गुप्त हास्य" ने ले लिया है। साहित्य के अन्य अंगों की समृद्धि के साथ-साथ हास्य-रस के अभाव को पूरा करने की ओर भी विद्वानों का तथा लेखकों का ध्यान गया है और अब यह आशा होने लगी है कि शीघ्र ही हिन्दी साहित्य का हास्यरस-पूर्ण साहित्य समृद्ध हो सकेगा।

डा० गणेशदत्त

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में समाज

संक्षिप्ति

साहित्य के अध्ययन के कितने ही प्रकार हैं। आज हमें साहित्य के अन्तर्गत प्रयुक्त उस सामग्री का अनुसंधान करना है, जिसका संबंध साहित्य गत शैली से नहीं, उसके शास्त्रीय स्वरूप से भी नहीं, उसकी प्रबध वस्तु से भी नहीं, वरन् उससे है जिससे उस वस्तु की तीलियां और ज्ञान के उपादान मिलते हैं।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के गूढ़तम गह्वरों में प्रवेश कर जिस सामाजिक तथ्य का उद्‌घाटन होता है, वही इस निबंध में सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है। साहित्य से प्राप्त सामाजिक तथ्य को इतिहास के प्रमाण से भी पुष्ट करने की चेष्टा की गयी है।

इस अध्ययन से साहित्य में संदर्भित जिस समाज व्यवस्था का पता चलता है, संक्षेप में उसकी विवृत्ति यहां दी जाती है।

१६ वीं १७ वीं शताब्दी धार्मिक प्रवृति और विश्वासों का युग था। भारतीय जनता अपनी प्रबल धार्मिक प्रवृति तथा प्रगाढ़ निष्ठा के प्रभाव के कारण शास्त्रानुमोदित मार्ग पर ही चलती रही। वाह्य संस्कृति का प्रभाव इसके अभेद्य लौह कवच को पार करके अन्तर में प्रवेश न पा सका, यह बात अन्यथा है कि यत्र तत्र उनका कुछ प्रभाव वाह्य आचरणों पर दिखाई पड़े।

धार्मिक ग्रंथों में १६ प्रकार के संस्कारों का वर्णन है। यदि उस काल के साहित्य को हम मनोयोग पूर्वक पढ़ें तो हमें निम्नलिखित संस्कार मिलेंगे।

विवाह, द्विरागमन, पुत्रोत्पत्ति, छठी, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न प्राशन, कर्णबेध, चूड़ा कर्म, यज्ञोपवीत, विद्यारम्भ, दाह संस्कार, वर्ष गांठ, श्राद्ध।

शास्त्रों के अनुसार (१) गर्भाधान (२) पुंसवन (३) सीमन्तोन्नयन (४) जातकर्म (५) नाम करण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूड़ाकर्म (९) कर्ण बेध (१०) उपनयन (११) व्रतादेश (१२) वेदस्वाध्याय (१३) केशान्त (१४) समावर्तन (१५) विवाह (१६) दाह संस्कार

उपरोक्त संस्कारों में जात कर्म और नामकरण छटी और नामकरण के अन्तर्गत पूर्ण हो जाते थे, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ा कर्म, कर्णबेध समाज में प्रचलित थे, उपनयन

यज्ञोपवीत संस्कार केवल उच्चवर्णों के लिए शास्त्रों में आज्ञा है। इसलिए सूर ने अहीरों के घर में जनेऊ 'उपनयन' संस्कार का वर्णन नहीं किया है व्रतादेश के शान्त और समावर्तन संस्कारों का वर्णन नहीं मिलता। विवाह और दाह संस्कार होते थे।

उपरोक्त शास्त्रानुमोदित संस्कारों के अतिरिक्त समाज में कुछ और संस्कार प्रचलित हो गये थे जिनका किया जाना भी आवश्यक समझा जाता था। और वे वर्षगांठ और श्राद्ध थे।

ये अनुष्ठान बड़े उत्साह और उमंग से किये जाते थे। समस्त सगे संबंधी जाति विरादरी के लोग तथा मित्र मंडली के लोग बुलाये जाते थे। बात बात में संगीत की स्वर लहरी झंकृत होती थी। पंडित ब्राह्मण, तथा अन्य संबंधित व्यक्तियों को भोजन आदि कराया जाता था। जितने सेवा कार्य करने वाले व्यक्ति थे, उन्हें उनकी सेवा के उपलक्ष में खुलकर नेग दिये जाते थे। और वे आनन्द के अवसरों पर झगड़ कर जिसमें प्रेम का आग्रह रहता था, मांगते थे। इन सेवकों में नाई बारी धोबी कुम्हार चमार भंगी आदि मुख्य थे। ऐसे शुभ अवसरों पर घर की सजावट या मरम्मत के भी उल्लेख मिलते हैं।

कुटुम्ब और पशु पक्षी:

इस युग में कौटुम्बिक जीवन विशेष रूप से कई कारणों से अनोखा और आकर्षक रहा है। संयुक्त-परिवार प्रणाली के साथ-साथ परिवार के प्रत्येक सदस्य का अपना निजी स्थान तथा कुटुम्ब में बच्चे नारी और पुरुष तीन प्रकार के सदस्यों के अतिरिक्त पशु पक्षी जैसे मूक प्राणी भी सदस्य समझे जाते थे।

कुटुम्ब का मुख्य अंग शिशु है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अत्यन्तावश्यक है कि भारतीय समाज में पुत्र का स्थान पुत्री से कुछ अधिक श्रेष्ठ माना गया है। यद्यपि प्रारम्भ में लड़के और लड़कियों को एक समान समझा जाता था परन्तु बाद में ज्यों ज्यों पुत्री अवस्था में बढ़ती जाती उस पर माता पिता का अंकुश भी बढ़ता जाता था। वे लड़कों की तरह बाहर निकल नहीं सकती थीं और न उनके समान स्वतंत्रता पूर्वक खेल सकती थीं। लोकापवाद का अधिक डर रहता था।

इसके साथ साथ बचपन में बच्चों के लालन पालन का विशेष ध्यान रखा जाता था। प्रात:काल उठाना, और शौचादि के बाद दातौन कराना, तेल उबटन के साथ साथ गर्म जल से स्नान कराने का उल्लेख मिलता है। मां बाप तथा गुरु जन को बच्चे प्रथम प्रणाम करते थे। तरह तरह के खेलने के खिलौने दिए जाते थे। और जैसा कि आमोद प्रमोद के अन्तर्गत बताया गया है उससे पता चलता है कि माता पिता सभी बच्चों के खेल में स्वयं भी भाग लेते थे और आनंद और सुख का अनुभव करते थे। वृद्धावस्था के पुत्र अथवा इकलौते बेटे बहुत अधिक लाड़ प्यार से बिगड़ जाते थे। पिता की अपेक्षा बच्चों पर माँ का विशेष लाड़ रहता था। बच्चे माता की अपेक्षा पिता से अधिक डरते थे। माताएँ भी पिता का ही डर अन्त में बच्चे को दिखाकर शान्त करती थीं। नजर लगना, भूत प्रेतादि के अंधविश्वास प्रचलित थे।

बालक बचपन में खेलने में अधिक अभिरुचि रखते थे। कारण ऐसा प्रतीत होता है कि पढ़ने लिखने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। प्रात:काल से ही मित्र

मंडली इकट्ठी होना प्रारम्भ हो जाती थी और भिन्न प्रकार के खेल खेलने और उत्पात मचाने के वर्णन यत्र तत्र बिखरे पड़े मिलते हैं। गाली देना, कसम खाना या बड़ों को बिराने का उल्लेख मिलता है ।

फिर भी बालकों को समाज में सब एक समान समझते थे । और खेल आदि में बड़े छोटे का प्रश्न नहीं उठता था । भाई भाई का आदर्श पिता पुत्र का सा था मगर भाई भाई के झगड़े का संकेत मिलता है जिसे समाज में बुरा समझा जाता था ।

भाई और भावज का संबंध बिगड़ गया प्रतीत होता था । उनमें मजाक की प्रवृत्ति अधिक घर कर गई थी ।

सांस्कृतिक संबंधों की रक्षा के निमित्त माँ बाप गुरु तथा अन्य गुरुजनों के प्रति सम्मान प्रगट करना बच्चों का प्रथम कर्तव्य था । कुल की मान मर्यादा की रक्षा का भी विशेष ध्यान रखा जाता था जिससे बच्चा कुल को कलंक न लगाये । जाति में छोटे बड़े होने के नाते पद में छोटे बड़े होने के भाव भी इसी अवस्था में अनायास ही बालक के मस्तिष्क में घर कर जाते थे यद्यपि किसी का ऐसे भाव उत्पन्न करने का आशय नहीं होता था ।

बचपन में ही बच्चों को पैतृक कार्य सीखने के लिए कहा जाता था ।

पुत्री का पुत्र की अपेक्षा कम मान था । उनको लड़कों के समान स्वतंत्रता भी नहीं प्राप्त थी । छोटी अवस्था में शादी कर दी जाती थी जिसमें उसका मत नहीं लिया जाता था । विवाह आदि में पुरोहित आदि जाते थे और कभी कभी वे लोग धन आदि के लोभ में आकर अयोग्य वर पक्का कर देते थे । पति ही नारी का सर्वस्व था । उसकी सेवा परम कर्तव्य था । नारी पत्नी के रूप में पति से पर्दा करती थी । पितृ गृह में तो किसी प्रकार बोल ही नहीं सकती थी । अनमेल विवाह, बहुविवाह प्रचलित थे । कुलटा स्त्री को समाज से वहिष्कृतकर दिया जाता था । पुरुषों के दास दासियों से भी संबंध होने के उदाहरण मिलते हैं । बहु पत्नियाँ होने की अवस्था में सौतिया डाह होना स्वाभाविक था । उनमें झगड़े भी होते थे । ऐसी अवस्था में समाज में पहिली पत्नी वास्तविक घर की मालकिन समझी जाती थी । विधवाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय थी । वे पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं । छोटी जातियों में धरेजों की आज्ञा थी । पति के साथ सती होना अनिवार्य था चाहे पत्नी सच्चे हृदय से चाहे अथवा नहीं । यदि कुछ बच गईं तो उन्हें श्रृंगार करने की अनुमति समाज नहीं देता था । वे शुभ कार्यों में भाग नहीं ले सकतीं थीं ।

स्त्रियां गृह कार्य में खूब भाग लेती थीं । रसोई करना, कातना, दही विलोना, पानी खींचना, कपड़े धोना, अनाज पीसना आदि साधारण कार्य थे, जो प्रत्येक घर में होते थे । ग्राम्य जीवन के अन्तर्गत हमें खेतों में काम करने, शाक भाजी आदि बेचने, गोबर आदि थापने अथवा ढोर चराने के उदाहरण मिलते हैं ।

स्त्री को कुल की मर्यादा और पति की मर्यादा रखने की ओर बड़ा ध्यान देना पड़ता था ।

पुरुष :

घर का मुख्य व्यक्ति समस्त परिवार को उचित प्रकार से पालता था। महत्वपूर्ण पारिवारिक समस्याओं को सुलझाने में कुटुम्बियों के साथ विचार विमर्श भी किया जाता था। बच्चों पर उसी का दृढ़ अंकुश रहता था। पुरुषों में विलासिता की भावना बढ़ गई थी। "परदारेषुमातृवत्" का सिद्धान्त नहीं रहा था। बहु पत्नी रखना, परस्त्री गमन अथवा दूतियों द्वारा दूसरी स्त्रियों को फुसलाना साधारण सी बात हो गई थी।

साधारण पुरुष गृह के कार्यों में मन लगाते थे। कुछ कार्यों में स्त्रियां भी उनकी सहायता करती थीं। स्त्रियां खेतों में जाकर पुरुषों की सहायता करती थीं।

इस युग में सेवक रखने की प्रथा थी। उनके कई प्रकार थे।

(१) **नियमित भुक्ति** :

(अ) क्रीत दास : जिन्हें कुछ नहीं दिया जाता था। केवल भोजन करते थे।

(आ) अक्रीत दास : जिन्हें कुछ जीवन यापन के लिए दिया जाता था।

(२) **सामयिक भुक्ति** :

दक्षिणा वाले : इसमें सम्मान की भावना थी।

नेग वाले : निम्न वर्ग से लोगों को सेवा कार्य के लिए।

पुरस्कार वाले : भाट, चारण, बन्दी आदि।

(३) **निशुल्क** :

बेगारी : जिन्हें बलात पकड़ बुलाया जाता था।

उपकारी : जिनका कार्य दूसरों की सेवा करना ही था।

भक्ति : श्रद्धा और भक्ति के कारण सेवा करना।

(४) **श्रम विनिमय** :

वे जो एक के घर कुछ कार्य कर जायं तो दूसरा भी किसी दिन उसका बदला चुका कर उऋण हो जाय।

सेवकों का आदर्श तो मालिकों को माता पिता के समान समझना था और मालिक उन्हें पुत्रवत् समझते थे। परन्तु दशा खराब थी। उतरे वस्त्र पहिनना और जूठन खाना ही उनका काम था।

पशु पक्षी : घरों में पशु पक्षियों को रखा जाता था। उनके क्रम को हम इस प्रकार रख सकते हैं :

(१) **सुव्यसन शोभा** :

लाल मुनिया, हंस, मछली, मोर, बतख, सारस, कोयल, चक्रवाक, बगुला मनोरंजन : तोता, मैना, कबूतर, मृग तीतर।

(२) **रक्षा के लिए** : कुत्ता, बिल्ली।

(३) **सवारी** : घोड़े, हाथी, बैल।

(४) **उदर पूर्ति** :

(क) भोज्य : छागर चैना, मुर्गी, बकरी और अन्य जलचर, थलचर, नभचर। देखिए भोजन प्रकरण

(ख) भोजन में सहायक : बाज, कुत्ता, बकरी, चीता आदि गाय, भैंस, बकरी ।
(ग) जीविकोपार्जन में सहायक : (१) मनोरंजन द्वारा बन्दर, सर्प
(२) सवारियों द्वारा ऊंट, गधा
(,३) भारवाही के रूप में खच्चर, ऊंट, गदहा
(४) स्वच्छता के लिए शूकर

भोजन :

किसी भी समाज की सांस्कृतिक अवस्था को जानने में उसके भोज्य पदार्थ बहुत अधिक सीमा तक सहायता प्रदान करते हैं। जितना ही अधिक संस्कृत समाज होगा उतना ही भोजन भी सुरुचिपूर्ण और वैविध्यमय होगा। भारतीय समाज में इस युग में पांच प्रकार के भोजन थे।

(१) चोष्य (२) पेय (३) भोज्य, (४) लेह्य (५) चर्व्य और स्वादों में ६ प्रकार के स्वाद (१) मधुर (२) अम्ल (३) तिक्त (४) कटु (५) लवण युक्त (६) कषाये थे।

भोजन सामग्री को २ भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम, वह जो पकाकर खाई जाय। दूसरी, वह जो पकाई न जाय।

पका कर खाने वाले भोजन में सामिष और निरामिष दो प्रकार के भोजन रखे गये हैं।

निरामिष भोजन के भी तीन प्रकार अलोना, मीठा और नमकीन है।

प्रथम, अलौने के भी तीन प्रकार होते थे। (५) भुना हुआ, (२) रंधा हुआ और (३) पका हुआ। भुने हुए के अन्तर्गत भिन्न भिन्न प्रकार के अनाज आते हैं। गेहूं, चना, चावल। इन्हें चबेना कहते हैं।

रंधी हुई वस्तुओं के भिन्न भिन्न रूप होते थे। जैसे, खीचरी, महेरी, भात, तहाड़ी, रावड़ी, आदि और इन्हें दूध, दही, दाल अथवा घी के साथ खाया जाता था। रंधी हुई अनाज की चाट बनाकर खाई जाती थी। जायसी ने २७ प्रकार के चावलों का वर्णन किया है।

खाने में गेहूं, जौ, चना, ज्वार, बाजरे का प्रयोग होता था। गेहूं से मैदा बनती थी और कई प्रकार की रोटियां बनाई जाती थीं फुलका, अंगा, बाटी, मिस्सी रोटी झालर मांड़े, पौरी, झोरी आदि हैं। पंजाब में तन्दूर की रोटी का चलन था। कढ़ाई में पूड़ियां और कचौड़ियां व लुचई आदि बनती थीं।

मिठाइयों के अनगिनती प्रकार होते थे। आटे से, चने की दाल से, दूध से, चावल से अथवा हरे फलों से मिठाइयां तैयार की जाती थीं। जिनका विशद वर्णन साहित्य में मिलता है।

बताशा मिश्री खांड, शक्कर और गुड़ आदि का प्रयोग समाज में खूब था। वास्तव में मिठाइयों के प्रति एक विशेष आकर्षण था।

नमकीन में दालों के पत्तों के योग से भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थ बनाये जाते थे।

शाकों, दालों और रायतों में सभी प्रकार का वर्णन कृष्ण-काव्य में मिलता है। उनके प्रकार और स्वादिष्ट बनाने के लिए छोंकने, बघारने और धुमारने की रीतियां भी लिखी हैं।

अचार, मुरब्बा, सोंठ, सिरका आदि के वर्णन भी मिलते हैं। हिन्दू समाज में प्याज, लहसन का प्रयोग निषिद्ध था। फलों में सूखे मेवे और हरे फलों का बहुतायत से प्रयोग होता था।

सामिष आहार में जलचर, थलचर और नभचर आदि सभी प्रकार के पशु पक्षियों का प्रयोग होता था। गाय को भी मारकर मुसलमान लोग खाते थे।

मादक द्रव्यों में अफीम, धतूरा, भंग, शराब भिन्न भिन्न प्रकार की प्रयोग में लाई जाती थीं।

आमोद प्रमोद :

आमोद प्रमोद के साधन इस युग में बहुत अधिक थे। उनमें एक मनोरंजन था, औत्सुक्य था, तथा शारीरिक और मानसिक विकास में भी वे यथेष्ठ सहायता प्रदान करते थे।

बचपन से ही सोते समय बच्चों को कहानी सुनाना या पहेलियां पूछना साधारण सी बात थी। उससे बच्चों के मानसिक विकास में सहायता मिलती है। वे कुशाग्र बुद्धि होते थे और साथ ही कल्पनाशील भी।

खेल में दौड़ना, गोली, भोंरा, फिरकी, गेंद, चौगान, बटा, गुल्ली डंडा, गिलोल, तीर कमान, पतंग उड़ाना, दौड़ कर पेड़ पर चढ़ना, आंख मिचौनी, जल क्रीड़ा आदि।

तैरना :

कागज की नाव चलाना, लकड़ी के घोड़ों की सवारी, चट्टा, बट्टा, तरह तरह के खिलौने, खुनखुना, गुड्डे गुड़िया, चुम्बक के मोम के खिलौने इस युग में बनते थे।

लड़कियां गुड़ियों का विवाह कराती थीं और झेंझी के खेल भी खेलती थीं।

बच्चे मिट्टी के भी खेल खेलते थे। घरुआ पतुआ का खेल भी खेलते थे।

पुरुष :

पुरुषों के मनोरंजन के साधनों में हमें एक वैषम्य दिखाई देता है। प्रभु लोगों का जीवन विलासिता से भरा हुआ था। प्रातः से सायं तक आनन्द करना और विलासी जीवन व्यतीत करना ही उनका मुख्य कर्तव्य था। ऋतुओं के अनुसार उनके जीवन में कुछ परिवर्तन हो जाता था।

यदि जाड़ों में तैल-मर्दन, गर्म हम्मामों में स्नान करना और सुगन्धित वस्तुओं का प्रयोग प्रिय था तो गर्मियों में फुव्वारों का चलाना, गुलाब के इत्र, खस की टट्टियों का प्रयोग मनोरंजन का साधन था। दोपहरी को नाच, रंग और तमाशे होते रहते थे। सायंकाल थोड़ा सा समय मित्र मंडली में बिताकर सैर सपाटे या आखेट आदि को चले जाते थे।

शारीरिक पुष्टि के लिए व्यायाम करना, कुश्ती लड़ना, बनेटी, तलवार, तीर कमान, भाला, लेजिम आदि चलाना, घोड़े, हाथी की सवारी करना, झूले आदि झूलना।

खेलों में चौपड़ और शतरंज, जुआ मुख्य थे, जिनमें स्त्रियां भी भाग ले लेती थीं। मगर समाज में नहीं एकान्त स्थल में।

आखेट:

शेर, हाथी, सूअर, गेंड़े, कुरंग का शिकार खेला जाता था। इसके अतिरिक्त नील गाय और खरगोश बनकुक्कट तरह तरह की मछलियों का शिकार खेला जाता था। इन्हें हम जल, नभ तथा थल के वर्गीकरण में विभाजित कर सकते हैं। जानवरों के युद्ध भी कराये जाते थे जिन्हें देखकर लोग मनोरंजन करते थे। शेर और हाथी, भैंसे मेंढ़े, मृग बैल के युद्ध, तथा मनुष्यों के युद्ध भी होते थे।

हाथी और मनुष्य के युद्ध का उल्लेख सूफी कवियों में मिलता है। बन्दर और सर्प के खेल, नटों के तरह तरह के खेल और जादू के खेल बाजीगर लोग दिखाया करते थे।

आतिशबाजी भी तरह तरह की तैयार की जाती थी। रास स्वांग, भांड़ों की नकलें, वेश्याओं, बेड़िनियों के नृत्य बहुरूपियों के खेल, नाटक और कठपुतलियों के खेल भी होते रहते थे।

संगीत :

संगीत ने इस युग में बहुत उन्नति की। भिन्न भिन्न प्रकार के वाद्य यंत्र जिन्हें चार भागों में विभाजित किया गया था, पाये जाते थे।

तत :

जो धातु के तारों द्वारा बनाये जाते थे। वीणा, रबाब, सारंगी।

वितत :

अवनद्ध जो चर्म से मढ़े होते थे। मृदंग, ढोल आदि।

शुषिर :

जिन्हें फूंक कर बजाया जाता था। नफीरी, शहनाई, मुरली।

डॉ० महेशचन्द

संत सुन्दरदास

सुन्दरदास जी के जीवन के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री दो रूपों में मिलती है, बाह्य साक्ष्य के रूप में और अन्तः साक्ष्य के रूप में। पहली के अन्तर्गत साम्प्रदायिक साहित्य, हिन्दी साहित्य के आधुनिक इतिहास-ग्रन्थ, फतहपुर (शेखावाटी) के इतिहास-ग्रन्थ, सुन्दरदास कृत प्रकाशित काव्य, शिलालेख, चित्र, वस्त्र आदि वस्तुएं, थांबे या मठ तथा साधुओं के मौखिक वर्णन आते हैं। दूसरी के अन्तर्गत सुन्दरदास के ग्रन्थों में आए हुए उनके अपने वचन हैं। यद्यपि अन्तः साक्ष्य बहुत कम है, लेकिन है बड़े काम की। इस से उनके जन्मस्थान, गोत्र, जाति, गुरु, देशाटन, निवास, ग्रन्थ-निर्माण तिथि आदि का परिचय प्राप्त होता है।[1] बाह्य साक्ष्य में, साम्प्रदायिक साहित्य के अन्तर्गत सुन्दरदास जी के सम्बन्ध में तो अलग कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है, लेकिन दादूदयाल के कुछ जीवन चरित्र मिलते हैं, जिनमें सुन्दरदासजी के सम्बन्ध में भी चर्चा की गई है। ये जीवन-चरित्र हैं—भक्तमाल (राघवदास), दादू जन्म-लीला (माधवदास), और दादू-चरित्र चन्द्रिका (वासुदेवभट्ट)[2] इन ग्रन्थों में सुन्दरदास के जीवन सम्बन्ध में जो बातें लिखी गई हैं, वे प्रायः एक दूसरे से मिलती हैं। सभी में इन्हें द्यौसा-निवासी, बूसर गोती वैश्य बतलाया गया है। इन के पिता का नाम चौषा और इन का नाम सुन्दर दिया गया है। माता के नाम का कहीं उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार दादू जी द्वारा गुरुदीक्षा लेने, काशीवास करने तथा अनेक शास्त्रों के अध्ययन करने के सम्बन्ध में भी सहमति है आधुनिक हिन्दी साहित्य के ग्रन्थों में शिवसिंह सरोज, मिश्र बन्धु विनोद, ए स्केच आफ हिन्दी लिटरेचर (ग्रीव्ज़), हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर (कीथ), रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया (फरकीहर), मिडीवल मिस्टीसीज्म आफ इंडिया (सेन), राजस्थान की हिन्दी सेवा (सूर्यकरण), हिन्दी साहित्य का इतिहास (शुक्ल), दी निर्गुन स्कूल आफ़ हिन्दी पोइट्री (बड़थ्वाल), हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (अयोध्यासिंह उपाध्याय),

---

१. गुरु सम्प्रदाय छन्द ६, राग सोरठ पद ७, सवैया ११।१, देशाटन के सवैया, पंचेन्द्रिय चरित्र—अन्तिम अध्याय, छंद ४२, ज्ञान समुद्र अन्तिम अध्याय, छंद ६५

२, इन ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियां दादू महाविद्यालय जयपुर में सुरक्षित हैं।

हिन्दी आलोचनात्मक इतिहास (रामकुमार), हिन्दी संत काव्य संग्रह (गणेशप्रसाद), उत्तरी भारत की संतपरम्परा (परशुराम) तथा निर्गुण काव्य-दर्शन(सिद्धिनाथ) हैं । इन सब ग्रन्थों में शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा बाद के ग्रंथों में प्रामाणिक सामग्री प्राप्त होती है । उससे पूर्व के ग्रंथों में एक तो लिखा ही बहुत कम गया है और वह भी प्रामाणिक नहीं है । उदाहरण के लिए "सरोज" में सुन्दरदास को मेवाड़ निवासी[1] तथा विनोद में ढूसर[2] बनिया लिखा गया है । फतेहपुर के सम्बन्ध में जो इतिहास ग्रंथ हैं नया शिक्षा दर्पण (रामप्रताप) तथा फरूरु तवारीख (मुहम्मद रमजान), उनमें फतहपुर के नबाबों के सम्बन्ध में तो काफी लिखा गया है, लेकिन सुन्दरदास जी के सम्बन्ध में दो चार पंक्तियां ही मिलती हैं । सुन्दरदास जी के काव्य भी विभिन्न प्रेसों से प्रकाशित हुए हैं, जैसे सुन्दरदास कृत काव्य, सुन्दर विलास, ज्ञान समुद्र , पंचेन्द्रिय-चरित्र, संतवानी संग्रह भाग १, सुन्दरसार तथा सुन्दर ग्रन्थावली । इन सब में सुन्दर ग्रन्थावली में सुन्दरदास जी का विस्तृत तथा प्रामाणिक जीवन-चरित दिया गया है । इसमें समस्त उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया गया है । शुक्ल जी के हिन्दी साहित्य के इतिहास तथा अन्य समस्त हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में इन्हीं के परिश्रम का उपयोग किया गया है । मोर और साँगानेर में सुन्दरदास जी की मृत्यु के सम्बन्ध में दो शिलालेख मिलते हैं जिनसे उनकी मृत्यु की तिथि का पता चलता है । सुन्दरदास जी के दो चित्र भी मिलते हैं लेकिन वे असली नहीं मालूम होते । अनुमान से ही बनाये गये प्रतीत होते हैं ।

सुन्दरदास जी की कुछ वस्तुएँ सुरक्षित रूप में उनके मठों में रखी हुई हैं, जैसे चूरू में पलंग तथा जाजम, फतहपुर में रेशमी रुईदार टोपा और चादरें, सीकर में गद्दी तथा तकिया ।

सुन्दरदास जी के शिष्यों ने विभिन्न स्थानों पर मठ बना लिये थे जहां अब भी दादू सम्प्रदाय के शिष्य रहते हैं, जैसे रामगढ़, सीकर, लछमनगढ़, सांगानेर, मोर, झुझणूं, फतहपुर आदि । इन सब में फतहपुर का थांबा प्रधान माना जाता है, जहां अब तक सुन्दरदास की गद्दी चली आती है । जयपुर प्रदेश के अतिरिक्त जोधपुर, बीकानेर तथा उत्तर प्रदेश में भी कहीं-कहीं उनके मठ मिलते हैं ।

फतहपुर मठ के साधुओं से सुन्दरदास के जीवन के सम्बन्ध में कई मौखिक बातों का पता चलता है । उनकी निश्चित जन्म तिथि का पता यहीं से चला है और चमत्कारिक कथाएं भी यहीं से मालूम हुई हैं ।

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर सुन्दरदास जी के जीवन के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का पता चलता है—

सुन्दरदास जी की जन्म तिथि के सम्बन्ध में दो प्रमाण मिलते हैं, एक तो माधवदास जी की दादू जन्म लीला में लिखित तिथि और दूसरी फतहपुर मठ में नोट की हुई तिथि । पहली है कार्तिक शुक्ला अष्टमी, संवत् १६५३ और दूसरी है चैत्र सुदी नवमी, सं० १६५३ । इन दोनों में दूसरी तिथि ठीक मालूम होती है । कारण माधवदास जी की पुस्तक प्रामाणिक नहीं मालूम होती । उसमें कई ऐसी घटनाओं का वर्णन है जो इस पुस्तक

---

१. प्रथम भाग, पृष्ठ ४१४,

२. पृष्ठ ४५३

के रचना काल के संवत् के बहुत बाद में घटी थीं। मालूम होता है कि माधवदास जी ने सुन्दरदास की मृत्यु तिथि सं० १७४६, कार्तिक सुदी अष्टमी में से ९३ वर्ष (सुन्दरदास की आयु) घटाकर यह तिथि लिख दी है। उन्हें उस तिथि का पता न होगा जो फतहपुर मठ में लिखी हुई थी। दूसरी ओर फतहपुर सुन्दरदास जी का प्रधान मठ होने के कारण, वहां उनके समस्त हस्तलिखित ग्रंथ तथा अन्य वस्तुएं सुरक्षित रखी गईं और जन्म तिथि तथा अन्य वृतान्त परम्परागत रूप में यों ही चले आते रहे। पुरोहित हरिनारायण ने भी फतहपुर मठ में नोट की हुई तिथि को ही ठीक माना है और हिन्दी के सभी लेखकों ने उसी को ग्रहण किया है।

सुन्दरदास जी का जन्म स्थान द्यौसा है जिसके बहुत से प्रमाण मिलते हैं।[1] इन के पिता का नाम 'चोषा' था।[2] फतहपुर मठ में परमानन्द लिखा हुआ है। मालूम होता है परमानन्द उनका साम्प्रदायिक नाम रहा होगा। सुन्दरदास की माता का नाम कहीं लिखा नहीं मिलता।

सुन्दरदास बूसर गोती वैश्य थे।[3] इनका जन्म दादूदयाल के आशीर्वाद के फलस्वरूप हुआ था।[4] इसी कारण जब ये ६ वर्ष के ही थे, तभी इनके पिता ने इन्हें गुरु की भेंट कर दिया। कहते हैं सुन्दर[5] नाम गुरु का ही दिया हुआ था क्योंकि ये बहुत सुन्दर थे। इनका असली नाम क्या था, या यही असली नाम था, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि सर्वत्र यही नाम मिलता है।

दादूदयाल जी के साथ ये कुछ मास ही रह पाये थे कि संवत् १६५९ में दादूदयाल की मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् ये जगजीवण जी की संभाल में रहे। संवत् १६६४ में ११ वर्ष की अवस्था में ये जगजीवण जी, रज्जब जी आदि गुरुभाइयों के साथ काशी गये।[6] वहाँ अठारह वर्ष तक रहने के पश्चात् सं० १६८२ में फतहपुर आये।[7] यहाँ ये एक गुफा में अपने अन्य ६ साथियों के साथ बारह वर्ष तक योग-साधन करते रहे। इनका अधिकांश जीवन यहीं व्यतीत हुआ। यहीं से वे कई बार भारतवर्ष के देशाटन को गये जिसका परिचय देशाटन के सवैयों से मिलता है।

फतहपुर में ही सं० १७४२ में इन्होंने अपने समस्त ग्रन्थों को लिपिबद्ध कराया।[8]

---

१. दादू जी जब द्यौसा आये। बालपनै मंह दर्शन पाये। (गुरु सम्प्रदाय, छन्द ६)
२. दिवसा है नग चोषो बूसर है साहूकार (४२१वाँ छन्द-भक्त माल राघवदास कृत)।
३. यह बनिया सुन्दरदासा, राग सोरठ, पद ७।
४. दादू चरित चन्द्रिका (वासुदेव), १०वां उल्लास।
५. तिनहीं दीया आपुतें सुन्दर के सिर हाथ (आद्याक्षरी फुटकर काव्य)।
६. ग्यारह बरष वैस रहि कै पिता के पास
   लेइ कै विराग जाय कासी बास काज भौ (दादू चरित चन्द्रिका)
७. श्री स्वामी सुन्दरदास जी (फतेहपुर) पधार्या संबत् १६८२ के काती बदी १४ ने (फतहपुर से प्राप्त पत्र)
८. संवत् १७४२ वर्ष आषाढ़ सुदी षष्टी शनिवासरे पोथी लिषाइतं स्वामी सुन्दरदास जी। लिषतं रूपादास महाजन फतेहपुर मध्ये। (पृष्ठ २६२)

कुछ दिन रुग्ण रहने के पश्चात् सं० १७४६ कार्तिक शुक्ला अष्टमी बृहस्पतिवार को इनका गोलोकवास हुआ।[1] इस सम्बन्ध में शिलालेख भी मिलता है इस समय इनकी अवस्था ६३ वर्ष थी जो इन की अन्तिम समय की साखी से पता चलता है।[2]

सुन्दरदास जी शरीर के लम्बे-चौड़े और गौर वर्ण के थे। देखने में अत्यन्त सुन्दर थ। ये स्वभाव के मृदु तथा शान्त थे। ये आजीवन ब्रह्मचारी रहे।

इन्हें संगीत से बड़ा प्रेम था। ये बड़े स्वाध्यायशील और ईश्वर-भक्त थे। ये बड़े भारी तार्किक, विचारशील और साथ-साथ विनोदी प्रकृति के थे। पर्यटन के बड़े शौकीन और कविता-प्रेमी थे।

इनके सम्बन्ध में कई चमत्कारिक कथाएं प्रसिद्ध हैं, जैसी प्रायः प्रत्येक मत में श्रद्धालु भक्त गढ़ लिया करते हैं।

सुन्दरदास दादू सम्प्रदाय के थे। इन्होंने अपने से पूर्व के ३६ गुरुओं की नामावली दी है।[3] जो कल्पित है और ब्रह्म की पर्यायवाची हैं। ये नाम अन्यत्र कहीं नहीं मिलते।

दादू जी के १५२ प्रधान शिष्य थे। इनमें से सौ तो वीतराग थे। शेष ५२ ने अपनी गद्दियाँ स्थापित कीं और मठ बनाये। इनमें से अब केवल २५-२६ थांबे शेष हैं, जहां महन्त और साधु रहते हैं। मुख्य मठ नराणे में है, जहाँ प्रत्येक वर्ष दादू सम्प्रदाय का मेला होता है।

सुन्दरदास जो दादू जीके प्रधान ५२ शिष्यों में गिने जाते हैं। सुन्दरदास जी के पांच प्रधान शिष्य हुए—दयालदास, श्यामदास, दामोदरदास, निर्मलदास और नारायणदास। ये पाँचों शिष्य फतहपुर मठ में ही रहे। नारायणदास इन सब में प्रधान थे। फतहपुर मठ में अभी तक इनकी गद्दी चली आती है।

यहां थोड़ा सा दादू सम्प्रदाय का परिचय देना उचित होगा। दादू जी के दो प्रकार के शिष्य थे— गृहस्थ तथा साधु। आरम्भ में इनका जीवन त्याग और तपस्यापूर्ण था, लेकिन बाद में महन्त, सन्त, मेले, गद्दी, छड़ी, चंवर आदि का व्यवहार होने लगा।

दादूपंथी दादू वाक्यों की उपासना करते हैं और दादूवाणी की पूजा करते हैं। वाणी का पठन तथा आरती व अष्टक गान इनका नित्य का नियम है। स्वच्छता को विशेष महत्व दिया जाता है। छापा, तिलक, माला, कण्ठी आदि चिह्नों का प्रयोग नहीं किया जाता। व्रत, उपवास, तीर्थ आदि का भी बंधन नहीं है। मृत्यु होने पर दाह संस्कार की प्रथा है। कभी-कभी पवन दाग भी होता है।

दादूपंथ में विवाह की मनाही है। शिष्य-परम्परा ही प्रणाली चलाने का जरिया है। पहले मुसलमान और अस्पृश्य भी शिष्य हो सकते थे, लेकिन अब केवल उच्च जातीय

---

१. संवत् सत्रासे छीयाला कातिग सुदी अष्टमी उजाला ॥
तीजे पहर भरसपतिवार। सुन्दर मिलिया सुन्दरसार ॥

२. सात बरस सौ में घटे, इतने दिन की देह। सुन्दर आतम अमर हैं, देह षेह की षेह ॥

३. गुरु सम्प्रदाय छन्द ६ से ४६ तक।

हिन्दू ही शिष्य बन सकते हैं। नाम जप में ओम् वा राम मन्त्र का उपयोग होता है। परस्पर मिलने पर 'सत्य राम' कहते हैं। आरम्भ में कपाली टोपी, लम्बा चोला, तुम्बी, पैरों में तापड़ी, पंचकेश अथवा मुण्डन का भेष रखा जाता था लेकिन बाद में साधुओं की संज्ञा विशेष के अनुसार कई भेष हो गये ।

दादू सम्प्रदाय का अब चार संज्ञाओं में विभाजन हो गया है—खालसा, विरक्त तपस्वी, उत्तराधे या स्थानधारी तथा जमातें या नागे। इनकी अपनी अलग-अलग वेशभूषाएं तथा परम्पराएँ हैं।

दादूदयाल के सिद्धांत हिन्दू धर्म से भिन्न नहीं हैं। उपनिषदों में आत्मा-परमात्मा जीवन-मरण, दुख-सुख आदि के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये गये हैं, वैसे ही दादू मत में पाये जाते हैं। इसके अनुसार आत्मसाक्षात्कार ही जीवन का मुख्य ध्येय है। एक ही चेतना सर्वत्र व्याप्त है जिस के ज्ञान से दुख का परिहार होता है। आत्मा एक है, उसमें न जाति है, न वर्ण है। आत्मज्ञान ही मनुष्य का मुख्य धर्म है। संसार की अन्य सभी मर्यादाएं कल्पित हैं और व्यर्थ हैं। पूजा-पाठ रोज़ा-नमाज़, तीर्थ-व्रत, मन्दिर-मस्जिद, ब्राह्मण-शूद्र उन के लिये कोई महत्व नहीं रखते। आत्म चिंतन, अहंभाव का नाश, सादा और पवित्र जीवन, काम-क्रोधादि से रहित निर्द्वन्द्व जीवन व्यतीत करना और हरि से सच्ची प्रीति, यही है उनका मत।[1]

सुन्दरदास का जीवनकाल सन् १५९६ से सन् १६८९ तक है। इस बीच भारत-वर्ष में अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब का राज्य रहा। लगभग समस्त भारत मुगलों के अधीन था। मुगल शासकों ने केवल साम्राज्य विस्तार ही नहीं किया बल्कि अनेक प्रजा उपयोगी कार्य किये और सुख-शान्ति की स्थापना की। अनेक हिन्दू राजे-महाराजे तथा जागीरदार उनके अधीन थे। औरंगजेब को छोड़ कर प्रायः सभी मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के साथ मेल-जोल की नीति को अपनाया। जयपुर राज्य, जहाँ सुन्दरदास उत्पन्न हुए, मुगल राजाओं का विशेष कृपा-भाजन रहा। यहाँ के राजा बिहारी मल, भगवानदास, मानसिंह तथा जयसिंह, मुगल बादशाहों के यहाँ ऊँचे पदों पर रहे।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि जयपुर राज्य पर न तो बाहर से आक्रमण हुए और न घर में ही हिन्दू मुसलमानों में कोई झगड़ा हुआ। फलस्वरूप जनता सुखी और समृद्ध थी।

इस समय भारतवर्ष में मत मतान्तरों का जाल फैला हुआ था। बौद्ध, जैन, नाथ, इस्लाम, सूफी, वैष्णव तथा निर्गुण मतावलम्बी सर्वत्र पाये जाते थे। बौद्ध धर्म का प्रभाव जनता पर बहुत कम रह गया था क्योंकि इन की नास्तिक विचारधारा तथा साधना की जटिलता से लोगों को अरुचि हो गई थी। जैन धर्म की भी अवस्था अच्छी न थी। इनमें भी बहुतसी बुराइयां आ गई थीं। ये भी पौराणिकों की भांति पुराणों की रचना, तीर्थों की स्थापना, कठोर व्रतों के अनुष्ठान, तीर्थंकरों की भक्ति आदि पाखण्डों में फँस गये थे। नाथ सम्प्रदाय का इस समय काफी ज़ोर था। हिन्दू और मुसलमान सभी इन

---

१. आपा मैटै हरि भजे तन मन तजै विकार।
निर्वैरी सब जो व सूं दादू यह मत सार॥

२. भारत के देशी राज्य-सुखसम्पतिराय भंडारी (पृष्ठ ७,८,१३,१७,१८,१९)

की करामातों को देखकर आश्चर्य करते थे। बाहरी ढोंग पाखण्डों को छोड़ कर हठयोग के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। आसन, प्राणायाम, षटचक्र, नाड़ी मुद्रा, बंध आदि को विशेष महत्व प्राप्त हो रहा था। इस के अतिरिक्त इस्लाम धर्म तथा सूफी सम्प्रदाय का जोर था। इस्लाम धर्म के आगमन से मूर्ति पूजा और जाति-पांति की भावना को बड़ा आघात पहुँचा। सूफी मत ने हिन्दू मुसलमानों के बीच की खाई पाटने में बड़ा भारी काम किया। सूफी फकीरों ने मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन पर गहरा प्रभाव डाला। कृष्ण भक्ति शाखा मे चैतन्य, मीरा आदि की उपासना में जो प्रेम तन्मयता दिखाई पड़ती है और कबीर, दादू आदि संत कवियों में जिस रहस्यात्मकता तथा आन्तरिक अनुभूति के दर्शन होते हैं, उसमें सूफी मत का ही हाथ है। वैष्णव मत में, अनेक सम्प्रदाय बन गये थे, जैसे शांकर, रामानुज, द्वैत, निम्बार्क, विष्णुस्वामी, वल्लभ चैतन्य सम्प्रदाय आदि। इनमे शास्त्रीय पक्ष का तो ह्रास हो गया था पर भक्ति-भावना बढ़ गई थी। इसके अतिरिक्त बाह्य ढोंग-पाखण्ड तथा ऐश्वर्य और विलास की वृद्धि हो चली थी। इस समय निर्गुण पन्थ विशेष उन्नति पर था। इस में जयदेव, सधना, वेणी, नामदेव, त्रिलोचन, सेन, पीपा, रैदास, कबीर, नानक, दादू, मलूकदास, धरनीदास, चरनदास आदि संत हुए जिन्होंने समस्त परम्परागत देवता, शास्त्र, सिद्धान्त, रूढ़ि तथा परम्पराओं का विरोध किया और निर्गुणोपासना, पवित्र जीवन तथा परोपकार वृत्ति का समर्थन किया। संत सुन्दरदास इसी मत के अनुयायी थे। उन्होंने उस समय के सभी प्रचलित धर्मों की आलोचना की है[1] और निर्गुण पंथ को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। उन्होंने अपनी रचना में अन्य मतों के साधुओं का जीता जागता चित्र खींचा है और उन के ढोंग-पाखण्डों की कड़ी आलोचना की है।

सुन्दरदास की रचनाओं के पढ़ने से उस समय की सामाजिक स्थिति का चित्र स्पष्ट रूप में नेत्रों के सम्मुख खिंच जाता है। अमीर गरीबों का शोषण करते थे। आर्थिक संघर्ष काफी कठोर था। आजीविका के लिये कड़ा परिश्रम करना पड़ता था[2] लेकिन अन्न की कमी न थी। भूखा कोई नहीं मरता था। पेट लायक अन्न सभी को मिल जाता था[3]।

साहित्य की इस काल में विशेष उन्नतावस्था थी। फारसी साहित्य तो उन्नति कर ही रहा था, हिन्दी साहित्य भी चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। कृष्ण-भक्ति तथा राम-भक्ति शाखा के प्रसिद्ध कवि इसी युग में हुए। सूरदास तथा अष्टछाप के कवियों ने ब्रजभाषा की कविता की बहुत उन्नति की। रामभक्ति शाखा के प्रसिद्ध कवि तुलसीदास इसी काल में हुए। इनके अतिरिक्त रीतिकालीन अनेक कवि, जैसे केशव, मतिराम, बिहारी, भूषण आदि इसी समय हुए। वास्तव में जिस समय सुन्दरदास हुए, उस समय हिन्दी साहित्य प्रत्येक दृष्टि से, क्या भाव, क्या भाषा और क्या शैली, बहुत ऊँचा उठ

१. सर्वांगयोग प्रदीपिका, प्रथमोपदेश, छन्द २९ से ४५ तक।

२. प्रात ही उठत सब पेट ही की चिन्ता तब
सब कोऊ जात आपु आपने अहार कौं। सवैया ६।७

३. सवैया ७।१-२-५-८

गया था। उधर दूसरी ओर मलूकदास, धरनीदास, प्राणनाथ, गरीबदास, जगजीवनदास, दरियासाहेब आदि अनेक संत कवि अपनी अक्खड़ी वाणी में साधारण जनता को शान्त रस का रसास्वादन करा रहे थे। यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से उनके साहित्य का इतना महत्व न था लेकिन उच्च सिद्धान्तों को सरल भाषा में जनता तक पहुँचाने में इन्होंने बड़ी सहायता की और सारे समाज में एक क्रान्ति-सी मचा दी।

सं० १९४७ से सुन्दरदास के ग्रन्थ प्रकाशित होते रहे हैं, लेकिन उनके समस्त ग्रन्थ सं० १९९४ में सुन्दर ग्रन्थावली के रूप में जनता के सामने आये।[1] उनके कुल ग्रन्थ ४२ हैं, जैसे—ज्ञानसमुद्र, सर्वाङ्गयोग, पंचेन्द्रिय चरित, सुखसमाधि, स्वप्नप्रबोद, वेदविचार उक्त अनूप, अद्भुत उपदेश, पंचप्रभाव, गुरु सम्प्रदाय, गुन उतपत्ति निसानी, सद्गुरु महिमा निसानी, बावनी, गुरुदया षटपदी, भ्रमविध्वंस अष्टक, गुरुकृपा अष्टक, गुरु उपदेश ज्ञानाष्टक, गुरुदेव महिमा स्तोत्राष्टक, सवैया, साखी, पद फुटकर काव्य आदि। इन समस्त ग्रन्थों का उल्लेख सुन्दरदास की शिष्य परम्परा में उत्पन्न चत्रदास जी ने भक्तिमाल की टीका में किया है।[2] इसके अतिरिक्त सं० १७४२ की हस्तलिखिति प्रति, जो सुन्दरदास जी ने स्वयं फतहपुर मठ में तैयार कराई थी, उसमें यही सब ग्रन्थ लिखे हुए हैं। वैसे तो सुन्दरदास के ग्रन्थों की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुई हैं लेकिन सब से अधिक प्रामाणिक और पूर्ण सं० १७४२ वाली प्रति ही है।

इन ग्रन्थों में केवल दो ग्रन्थों का रचना-काल दिया हुआ है।[3] शेष ग्रन्थों के रचना काल जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

वैसे तो सुन्दरदास के सभी ग्रन्थ उच्चकोटि के हैं और भाषा तथा भावों की दृष्टि से प्रशंसनीय हैं, लेकिन ज्ञान समुद्र और सवैया का विशेष स्थान है। ज्ञान समुद्र में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है और भाषा शुद्ध साहित्यिक व्रज है। सवैया ग्रन्थ तो हिन्दी साहित्य की अनमोल निधि है। इसमें कवि का अलंकार-कौशल, छन्द-नैपुण्य, भाषा-माधुर्य, भावुकता, कल्पना की उड़ान आदि बातें देखने योग्य हैं। इन की साखियां और पद भी साधारणतया अच्छे हैं।

सुन्दरदास ने ज्ञान, योग और भक्ति इन तीन मार्गों की प्रशंसा की है। ज्ञान मार्ग को उन्होंने सर्वाधिक महत्व दिया है। ज्ञान के उन्होंने चार भेद किये हैं—ब्रह्मयोग, ज्ञान योग, सांख्य योग और अद्वैत योग।[4] पहले के अन्तर्गत उन्होंने मूलतत्व ब्रह्म और उसके

१. सुन्दरदास कृत काव्य-तत्व विवेचक प्रेस बम्बई, सं० १९४७, सुन्दर काव्य-निर्णय सागर प्रेस, बम्बई सं० १९४७, सुन्दर विलास-ज्ञानसागर प्रेस बम्बई, सं० १९५४, ज्ञानसमुद्र सुन्दरविलास-पंचेन्द्रिय चरित्र—वैंकटेश्वर प्रेस बम्बई, १९६८ तथा १९७१, सुन्दर विलास-बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सं० १९७१ संत बानी संग्रह १ म भाग, सं० १९७२, सुन्दरसार-नागरी प्रचारिणी सभा काशी, सं० १९७५ तथा सुन्दर ग्रन्थावली राजस्थान रिसर्च सोसायटी कलकत्ता, सं० १९९४।

२. भक्तमाल-राघवदास (हस्तलिखित)।

३. पंचेन्द्रिय चरित्र (सं० १६९१) तथा ज्ञान समुद्र (सं० १७१०)

४. सर्वाङ्गयोग प्रदीपिका १।१०

निर्गुण तथा निर्लिप्त रूप का वर्णन किया है। दूसरे भेद में उन्होंने यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं, इन को दो समझना अज्ञानता है। तीसरे भेद में सांख्य में दिये हुए सृष्टि-रचना विकास तथा प्रलय का वर्णन और पुरुष तथा प्रकृति के विभिन्न णों वा आत्मा और देह के पृथकत्व का दिग्दर्शन कराया गया है। चौथे भेद में उस अद्वैतावस्था या आत्मानुभव का वर्णन है, जिस में ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक हो जाते हैं, जहां आत्मा है न परमात्मा, मुक्ति है न बन्धन, पुरुष है न प्रकृति। यही ज्ञान की अन्तिम अवस्था है।

सुन्दरदास के कथनानुसार विश्व में केवल एक ही चैतन्य या अखण्डतत्व है, जिस की संज्ञा ब्रह्म है।[1] इसके अतिरिक्त यदि किसी वस्तु का आभास होता है तो वह केवल भ्रम या अज्ञान है। मनुष्य के दुख-सुख, उसकी अज्ञानता, अविद्या या द्वैत बुद्धि के कारण होते हैं। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जब जीवात्मा अपने सत्य स्वरूप की अनुभूति प्राप्त कर लेती है तो उस का अज्ञान नष्ट होकर परमतत्व की प्राप्ति हो जाती है। इसी का नाम मोक्ष या मुक्ति है।[2] सुन्दरदास ने वेदान्त के अतिरिक्त सांख्य तथा संत मत में प्रतिपादित विचारों को भी यथास्थान वर्णन किया है। लेकिन उन्होंने सभी सिद्धान्तों को उन पर वेदान्त का रंग चढ़ा कर अपनाया है।

सुन्दरदास ने यद्यपि उपनिषद, वेदान्त, गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थों के सिद्धान्तों को स्वीकार किया है, लेकिन उन्हें कबीर, दादू आदि के समान आत्मानुभव की कसौटी पर कस कर देख लिया है।

उन्होंने ब्रह्म को जो अनिर्वचनीय, रहस्यमय, अनुभव गम्य, निर्लिप्त आदि बतलाया है[3] और साथ-साथ उसमें कर्त्तापन, पोषणत्व, दयालुता, भक्त वत्सलता आदि गुणों का आरोप किया है[4] वह एक ओर तो उपनिषदों के अनुसार है और दूसरी ओर अद्वैतवाद से भिन्न, संत मत के अनुकूल है।

सुन्दरदास ने योगमार्ग में एक ओर तो पतंजलि के अष्टांगयोग को महत्व प्रदान किया है और दूसरी ओर हठयोग को।[5] उन्होंने, गौरव पद्धति, हठयोग प्रदीपिका तथा शिव-संहिता आदि ग्रन्थों में योगी के लिये जो जीवनचर्या बतलाई गई है और आसन, प्राणायाम, नाड़ी शुद्धि, षटचक्र भेदन, मुद्रा, बंध, नाद श्रवण, सोहं-हंसा जाप आदि की जो प्रक्रियाएं निर्दिष्ट की गई हैं, उनका हु-ब-हू वैसा ही वर्णन किया है।

भक्ति के अन्तर्गत सुन्दरदास ने नवधा भक्ति की प्रशंसा की है, लेकिन उस को निर्गुण रूप में करने का आदेश दिया है। वे बाहरी साधनों से की जाने वाली भक्ति के

१. एकई व्यापक वस्तु निरन्तर विश्व नहीं यह ब्रह्म विलासै—सवैया २४।८।
२. सुन्दर आतम को अनुभौ सोइ जीवत मोक्ष सदा सुख चैना सवैया २८।१४।
३. सवैया-निर्गुण उपासना कौ अंग।
४. सवैया-विश्वास कौ अंग।
५. ज्ञान समुद्र, तृतीयोल्लास तथा सर्वांग योग प्रदीपिका तृतीयोपदेशः।

पूर्ण विरोधी हैं। उन्होंने प्रेम लक्षणा और प्रेम पराभक्ति को नवधा भक्ति से भी श्रेष्ठ बताया है।[1]

वास्तव में सुन्दरदास समन्वयवादी हैं। ज्ञानमार्ग की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए भी वे योग और भक्ति को आवश्यक समझते हैं। उनका विचार है कि योग से चित्त को एकाग्र करने तथा भक्ति द्वारा ब्रह्म के साथ शीघ्र एकाकार होने में सहायता मिलती है।

कबीर, दादू आदि संतों के समान सुन्दरदास ने भी प्रचलित सिद्धांतों, रीति-रिवाजों तथा व्यवस्थाओं का निर्भीकतापूर्ण खण्डन किया है। उन्होंने हिन्दुओं के अवतारवाद,[2] देववाद[3], स्वर्ग-नरक[4], शास्त्र[5], वर्ण व्यवस्था[6], आश्रम प्रथा[7], आदि की अच्छी तरह खबर ली है। उन्होंने संतों के लिए सांसारिक मर्यादा को महत्वपूर्ण नहीं समझा है, बल्कि उसे तोड़ना उचित बताया है।[8] विभिन्न मतों में प्रचलित ढोंग-पाखंडों और शारीरिक कष्ट देने वाली जटिल साधनाओं की निस्सारता प्रकट की है। यह सब होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि सुन्दरदास का मन खण्डन में विशेष रुचि नहीं लेता प्रतीत होता। उन्होंने यह कार्य लीक पीटने के रूप में किया प्रतीत होता है। इसीलिये उन के स्वर में उग्रता या तीक्ष्णता नहीं है।

संत साहित्य को पढ़ कर कुछ लोगों को भ्रम हो सकता है कि संसार और गृहस्थ से उनका कोई सम्बन्ध न था और उनके उपदेश सामाजिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखते। लेकिन सुन्दरदास के उपदेशों को पढ़ने से यह भ्रम दूर हो जाता है। उनके सारे उपदेश समाज और गृहस्थ को ऊँचा उठाने वाले हैं। उन्होंने कर्मण्यता की प्रशंसा की है और लोगों को पवित्र तथा शुद्ध जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है। उन के उपदेशों के विषय गुरु महिमा, सत्संग महिमा, झूठे साधुओं की निन्दा, कुसंग की निन्दा, हरिभजन का महत्व, जीवहिंसा आदि पापों की बुराई, तृष्णा न रखना, नम्र बोलना, काम क्रोध आदि पर विजय तथा इंन्द्रिय निग्रह आदि हैं।[9] उन्होंने गुरु और संतों के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं वे बड़े ही महत्वपूर्ण हैं।

सुन्दरदास की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है। उनके शब्द कोश में संस्कृत के शब्दों का प्राचुर्य है और राजस्थानी भाषा के शब्द भी अनेक हैं। फारसी शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं। उन्होंने संस्कृत, पंजाबी, गुजराती तथा फारसी भाषा युक्त छन्द भी लिखे हैं। उनकी भाषा में कुछ दोष भी हैं, जो प्रायः सभी प्राचीन कवियों में मिलते हैं, जैसे छन्द के अनुरोध से शब्दों को विकृत करना या एक ही शब्द को कई रूपों में प्रयुक्त करना।

---

१. ज्ञान समुद्र द्वितीय उल्लास १
२. राग रामगरी, पद ६
३. राग रामगरी, पद ४
४. वेदविचार, छन्द ७–११
५. सवैया २८/१८
६. सवैया २०/८
७. गृहवैराग बोध, छन्द १८–२०
८. राग रामगरी, पद २–३
९. सवैया अंग १ से २० तक

सुन्दरदास की शैली अनुपम है। वह पूर्णतया मौलिक है, अर्थात् अन्य संतों की शैली से भिन्न है। उसमें नूतनता, विविधता, रोचकता, अकृत्रिमता, मधुरता आदि गुणों का समावेश है। गूढ़ आध्यात्मिक विचारों को सरलता और स्पष्टतापूर्वक चित्रवत् सामने रख देना उन्हें खूब आता है। उनकी रचना में दृष्टान्तों, मुहावरों और कहावतों की भरमार है। कहीं-कहीं व्यंग और विनोद का भी पुट है। शैली की दृष्टि से चोटी के कवियों को छोड़कर अन्य किसी कवि से उनकी तुलना नहीं हो सकती।

यद्यपि सुन्दरदास शान्त रस के कवि हैं लेकिन उनकी रचना में वीभत्स, करुण, अद्भुत, भयानक, रौद्र, हास्य, शृंगार आदि नव रसों का समावेश है। वे कथा-वाचक और उपदेशक थे। अतः श्रोताओं को रस विभोर करने के लिये कहीं तो करुणरस का संचार करना पड़ता था और कहीं प्रसन्न करने के लिये हास्य रस की भी आवश्यकता पड़ती थी। ईश्वर के प्रति तीव्र विरह प्रकट करने के लिये उन्हें शृंगार पूर्ण पद भी लिखने पड़े हैं। भक्ति-भावना तो उनमें पद-पद पर मिलती है।

सुन्दरता के काव्य में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा स्वाभावोक्ति, परिसंख्या, विभावना, अर्थान्तरन्यास आदि प्रसिद्ध अलंकार अनेक स्थलों पर मिलते हैं। सब से अधिक उपयोग उन्होंने उपमा अलंकार का किया है। उनकी उपमायें एक ओर तो शास्त्रों से ली हुई हैं और दूसरी ओर साधारण जीवन से। उन्होंने कुछ चित्र काव्य भी लिखे हैं जिनके चित्र उनकी हस्तलिखित प्रति में दिये हुए हैं।

सुन्दरदास ने अपने काव्य में प्रायः सभी प्रसिद्ध-छन्दों का उपयोग किया है। वे छन्द-शास्त्र के पण्डित थे। उनके विभिन्न छन्दों के उदाहरणों से एक लक्षण ग्रन्थ तैयार हो सकता है। ज्ञानसमुद्र में उन्होंने ३४ प्रकार के छन्द लिखे हैं। उनके सवैया ग्रन्थ में मनहर, इन्दव, दुर्मिल, हंसाल आदि छन्दों का प्रयोग अत्यन्त सफलतापूर्वक किया गया है। उनकी साखियों में मात्रा की त्रुटि नहीं खटकती। उन्होंने विभिन्न रागों में अनेक पद लिखे हैं। सवैया, छन्द लिखने में उन्हें आशातीत सफलता मिली है।

सुन्दरदास में पाण्डित्य, विचारशीलता, तर्क, कल्पना, मौलिकता और अनुभव के दर्शन पग-पग पर होते हैं। उनका सिद्धान्त-निरूपण उपनिषद्, वेदान्त, गीता पतंजलि योग, दर्शन, गोरखनाथ का हठयोग आदि शास्त्रों के अनुसार हैं। सांख्य शास्त्र का उन्होंने गहन अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त कबीर और दादू वाणी के वे पण्डित थे। उन्होंने सभी सिद्धान्तों को तर्क और आत्मानुभव की कसौटी पर भी कस कर देख लिया था। उनकी कल्पना भी बढ़ी-चढ़ी थी। उनकी शैली की मौलिकता तथा विशद अनुभव ध्यान देने की वस्तु है।

सुन्दरदास दादू के शिष्य थे और कबीर की परम्परा में थे। अतः उनके विचारों से वे बहुत प्रभावित हैं। इन तीनों के विषय, विचार, भाव, भाषा, शैली आदि बहुत मिलते-जुलते हैं। फिर भी सुन्दरदास इन दोनों से निराले हैं। इन में जहाँ एक ओर कबीर की प्रतिभा तथा दादू की भावुकता है, वहाँ दूसरी ओर अपना पाण्डित्य तथा साहित्यिकता है, इन्होंने कबीर तथा दादू के विचारों की पुनरावृत्ति अवश्य की, परन्तु

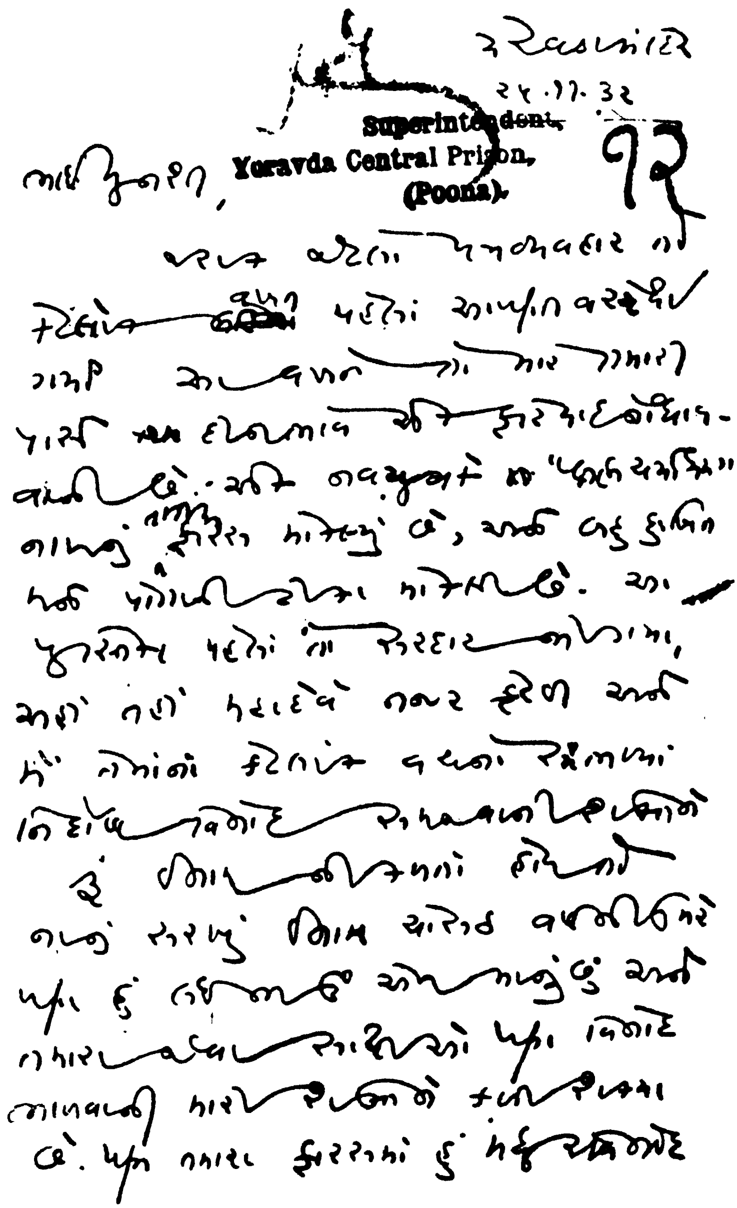
उन्हें नये फ्रेम में जड़ कर तथा अनेक प्रकार से साज-संवार कर एक नये ही रूप में जनता के सामने उपस्थित किया है।

यद्यपि सुन्दरदास ने कोई नवीन लक्ष्य अपने सामने नहीं रखा, उनका उद्देश्य वही था जो कबीर, दादू आदि संतों का और बहुत सी परम्परायें भी ज्यों की त्यों प्राप्त हुई थीं, लेकिन उन्होंने संत काव्य को साहित्यिक रूप दे दिया, इस में किंचित् भी सन्देह नहीं है। कबीर के दोहे और पद रोचकता से विहीन नहीं हैं, दादू में भी भक्ति भावना की न्यूनता नहीं है, लेकिन सुन्दरदास का पांडित्य, काव्यत्व और साहित्यिकता किसी भी संत कवि में नहीं मिल सकती। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पढ़े लिखे लोगों को जो कमियां उनमें खटकती थीं वे सब सुन्दरदास ने पूरी कर दीं। अतः सुन्दरदास का काव्य पढ़े-बेपढ़े प्राचीन-अर्वाचीन सभी प्रकार के लोगों के मानस की तृप्ति करने वाला है। उन्होंने इतना अधिक लिखा है और ऐसे रूप में लिखा है कि हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में उनकी गणना होनी चाहिये।

संचयन

साहित्य-चर्चा

[श्री क० म० मुंशी की दो कृतियां हैं, 'ब्रह्मचर्याश्रम' तथा 'पृथ्वीवल्लभ'। उनके संबंध में महात्मा गांधी जी व मुंशी जी में एक महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रव्यवहार हुआ था, उसी का हिन्दी रूपान्तर यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। महात्मा गांधी जी के मूल पत्रों के चित्र भी दिये जा रहे हैं।]



યરવડા મંદિર
૨૪.૧૧.૩૨

Superintendent,
Yeravda Central Prison,
(Poona).

૧૨

ભાઈ મુનશી,

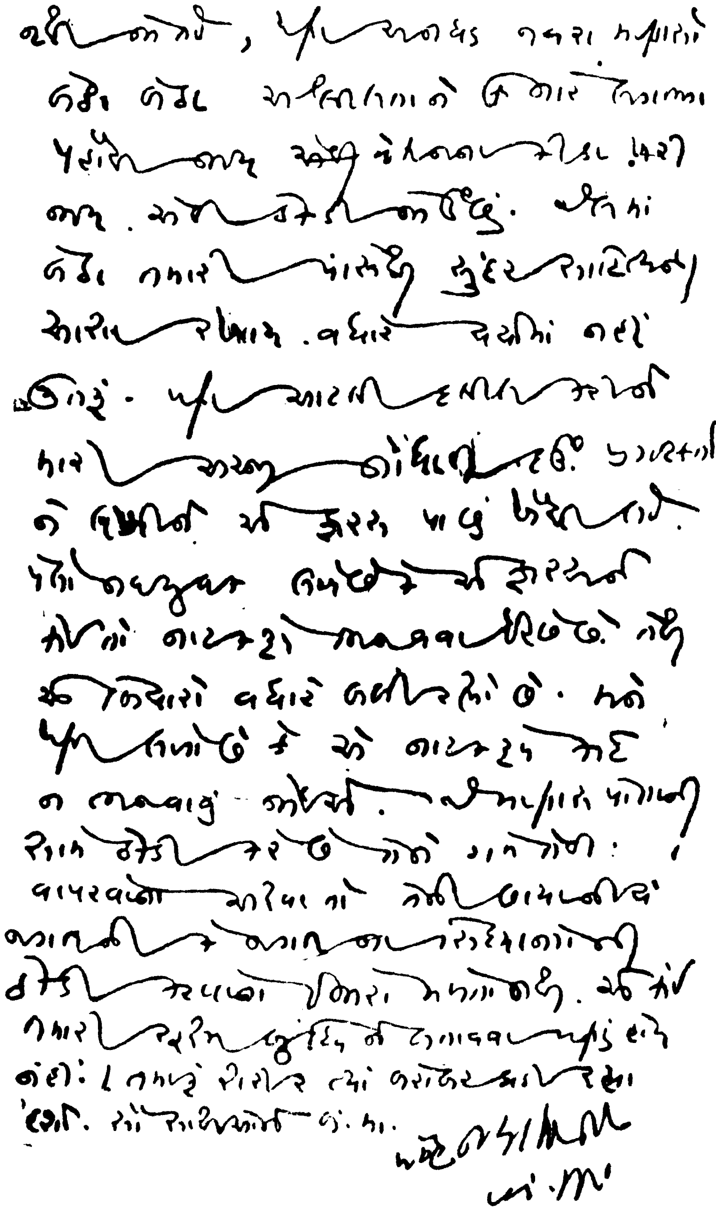
ब्रह्मचर्याश्रम

(गांधीजी का पत्र मुंशीजी को)

यरवडा मन्दिर,
२५-१२-३२

भाई मुंशी,

थोड़ा सा पत्र-व्यवहार तो कुछ समय पहले हमारे बीच हुआ था। इस समय तो मुझे आपके सामने दीनभाव से एक फरियाद करनी है। एक नवयुवक ने 'ब्रह्मचर्याश्रम' नाम का आपका प्रहसन भेजा है, और अत्यन्त दुखित मन से अपनी टिप्पणी भेजी है। यह पुस्तिका पहले तो सरदार ने देखी, इधर उधर महादेव ने नजर डाली और मैंने उसमें से कई वचन सुने। निर्दोष विनोद समझने की शक्ति के लिए पारितोषिक मिलते हों तो चौंसठ साल की उम्र में भी मैं छोटा सा पारितोषिक जरूर प्राप्त कर सकूंगा ऐसा मैं मानता हूँ। और तुम्हारे जैसे साथी भी विनोद समझने की मेरी शक्ति का अनुभव कर सकते हैं। परन्तु तुम्हारे प्रहसन (फार्स) में मैं मधुर विनोद



नहीं देखता, पर एक अनगढ़ आलसी आदमी बैठे बैठे अश्लीलता के किनारे तक पहुँच जायँ और कान के कीड़े गिर जायँ ऐसा उपहास देखता हूँ। जेल में बैठे आपसे सुन्दर साहित्य की आशा रखी जाती है। अधिक बहस नहीं करूँगा। पर इतनी दलीलें करके अपनी अर्जी पेश करता हूँ। प्रकाशक को लिखकर यह प्रहसन वापस ले लो। वह नवयुवक लिखता है कि इस प्रहसन को तो कई लोग नाटक रूप से अभिनीत करने की इच्छा रखते हैं। इससे वह बेचारा ज्यादा जल रहा है। मुझे भी लिखता है कि यह नाटक रूप में कभी अभिनीत न होना चाहिये। जो व्यक्ति स्वयं अपना उपहास करता है, उसे इसी कारण चाहे जैसे उपहास के प्रयोग करने का या उसकी छाया (आड़) में जगत का या जगत के सिद्धान्तों का उपहास करने का अधिकार नहीं मिलता। यह सब आपकी सूक्ष्म बुद्धि को दिखाना हो नहीं सकता। आप अपने शरीर को अच्छी तरह वहां बना रहे होंगे। सब साथियों को वन्देमातरम्।

मोहनदास की

वन्देमातरम्

(मुंशीजी का पत्र गांधीजी को)

बीजापुर जेल,
३-१२-३२

पूज्य बापूजी की सेवा में,

आपका पत्र मिला। इसे पढ़कर मुझे अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ और दुःख भी। आपके द्वारा लिखी हुई बात का निम्नलिखित ढंग से अमल करूँगा।

सन् १९३० में 'ब्रह्मचर्याश्रम' के प्रथम संस्करण का कौपीराइट मेरे ट्रस्ट ने प्रकाशक को दे दिया है। और रॉयलटी में पैसे भी उसे मिल चुके हैं। इस संस्करण की कितनी प्रतियां शेष हैं यह मुझे मालूम नहीं, और शेष रही हों तो भी बाजार भाव के अनुसार मूल्य दिये बिना मैं बिक्री रोक भी नहीं सकता। यहां बैठे अब इतना ही कर सकता हूँ, कि द्वितीय संस्करण का अधिकार न दूं, ऐसा ही करूँगा।

नाटक किस के प्रबन्ध में अभिनीत होते हैं इसकी मुझे जानकारी नहीं। कई दिन पहले मुलाकात के समय सुना था कि अखबारों में कुछ चर्चा है। किसी ने आज्ञा नहीं मँगायी। गुजरात में मुझ से बिना पूछे ही मेरे नाटकों का अभिनय बहुत जगह हुआ है और मैंने बुरा भी नहीं माना है। यह पत्र लिखने के बाद दुनिया से अब मेरा संसर्ग २४ जनवरी को होगा। उस समय लीलावती भी मुक्त होकर आयेंगी, यदि सरकार ने आने दिया तो। आपकी आज्ञा का पालन किया जाय —यह भी उसके द्वारा कहला दूँगा और यहां बैठे अनुज्ञा नहीं दूंगा।

जब हम जेल से मुक्त हो जायँ तब इस विषय में विस्तार से बातचीत करने का अवसर दीजियेगा। मेरे दृष्टिकोण का अनुमोदन या समर्थन तो आप कभी नहीं कर सकेंगे। पर मैं इतनी तो आशा रखता ही हूँ कि आप मेरी बात पूर्णरूप से सुनकर मुझे अपने साहित्य के स्वातंत्र्य की भावना से भ्रष्ट नहीं होने देंगे। इसके बाद भी इस नाटक के बारे में आपका मत ऐसा ही रहा तो, और आपकी इच्छा रही तो, जिस सीमा तक आपकी सेवा करने का सौभाग्य मुझे मिलेगा उस सीमा तक मैं दूसरा संस्करण नहीं छपाऊँगा और किसी को खेलने भी नहीं दूँगा।

आपको ऐसी छोटी बात के लिए कोई भी युवक लिख सकता है! आपका छोटा-सा वाक्य जगत जान जाता है और इसका प्रभाव विशिष्ट व्यक्तियों पर भी पड़ सकता है। जब अपराधी यहां असहाय हो, महीने में कुछ देर ही मिलने का अवसर प्राप्त कर सके, बाहर क्या होता है इसे अच्छी तरह न जान सके और आपके साथ ठीक से पत्र-व्यवहार

भी न कर सके तब यदि उसे यह न सूझे कि उसे क्या करना चाहिए तो यह स्वाभाविक ही है।

आपके द्वारा लिखे कठोर पत्र से मुझे जो दुःख हुआ उसे मैं आपसे न कहूं तो किस से कहूँ ? अनेक कार्यों में व्यस्त रहने पर भी जैसे वात्सल्य भाव से आपने लिखा है वैसे ही शिशुभाव से यदि मैं अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करूं तो क्या आपको सह्य न होगा ?

पत्र मिलते ही मैं दंग रह गया। गुजरात के युवकों से मैं अपरिचित नहीं हूँ। आज के गुजराती युवक युवतियाँ गीतगोविन्द और अमरुशतक, शेक्सपीअर की कविता और मोलिएर के नाटक, मोपासां और अनातोले फ्रांस की कहानियां—यह तो केवल शिष्ट साहित्य, रहा, और ऐसे साहित्य के अतिरिक्त वे बहुत कुछ जी भरकर पढ़ते हैं। उस समय बेचारा 'ब्रह्मचर्याश्रम' इतना भयंकर माना जायेगा यह तो पहले मैंने सोचा ही नहीं था। जिस रोगी युवक ने आपको लिखा उसने शुद्ध बुद्धि से लिखा यह मानूं तो भी गांधीजी मुंशीजी को झिड़कें यह मनोरंजक घटना बहुतों को स्वागत योग्य जान पड़ेगी यह निश्चित ही है।

ढाई साल पहले यह नाटक लिखा गया, तब से अनेक छोटों बड़ों ने, संस्कारी व्यक्तियों और सत्याग्रहियों ने, मेरे मित्रों और आपके अनुयायियों ने उसे पढ़ा है। उनको वह अच्छा भी लगा है। आपके एक अति घनिष्ठ सहयोगी व भक्त ने भायखला जेल में उस नाटक को पढ़कर आपके पास भेज देने को कहा था:—"बापू पढ़ेंगे तो उनको अच्छा लगेगा और खूब हंसेंगे। आपको काल्पनिक साहित्य पढ़ने का समय कहां होगा, ऐसा मान कर उस प्रस्ताव को मैंने नहीं माना था। इसके विषय में एक मत नहीं है—दो हैं। बीच में से उद्धृत वाक्यों के बजाय पूरी पुस्तक पढ़ लेंगे तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी।

साहित्य का आपका आदर्श समझने का मैंने प्रयत्न किया है। अपनी अंग्रेजी पुस्तक के लिए उसकी छोटी सी मीमांसा भी करनी पड़ी थी। जिस आदर्श से मैं यह और अन्य कृतियाँ लिखने के लिए प्रेरित हुआ हूँ वह इससे सर्वथा भिन्न है। यह भी मैं समझता हूँ। लेकिन जब तक मैं इस आदर्श को आपके समक्ष प्रकट न करदूँ तब तक दो दिन से जो दुःख अनुभव किया है उसे आप नहीं समझ सकेंगे।

यह या मेरी कोई भी कृति आलस में बैठे समय व्यतीत करने के लिए या अश्लीलता के किनारे खड़े होने के शौक से नहीं लिखी गई थी। जीवन के सब क्षेत्र हैं, वैसे यथार्थ दृष्टि से (Realistically) साहित्य में सर्जन करना यह आज बीस वर्ष से मेरे जीवन का मौलिक सिद्धान्त बन गया है। कलात्मक सौन्दर्य—Artistic Beauty—के दर्शन को मैंने अंतिम ध्येय माना है। इसके सर्जन पर कोई भी अंकुश लगाया जाय—चाहे वह प्रतिष्ठा

के नाम से या नीति, धर्म या समाज के नाम से—उसे मैं पाप समझता हूँ। Creative art is, I feel, its own justification, and its own law. इस सिद्धान्त के लिए अनेक अवसरों पर सख्त विरोध होते हुए भी मैंने भरसक प्रयत्न किया है। पैसे बिगाड़े हैं और खतरे भी सहन किये हैं।

आपने तो मेरी एक भी कृति नहीं पढ़ी होगी। शायद आपको मालूम भी नहीं होगा कि इस आदर्श के अनुरूप अपनी अल्प-शक्ति के अनुसार जैसे मैंने वसिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास के चित्र अंकित किये हैं; तपस्वियों और ब्रह्मचारियों का सृजन किया है, नरसिंह मेहता का ईश्वरप्रणिधान शब्दों में मूर्त करने का प्रयास किया है; वैसे ही मैंने दुष्टों, नीतिविरोधियों, घृणित और पतितों का यथातथ्य चित्र अंकित करने की चेष्टा की है। जिस प्रकार दुनिया में सिद्धान्त के लिए बलिदान करने वालों का चित्रण किया है, उसी प्रकार सिद्धान्तों का विध्वंस व उपहास करने वालों का भी चित्रण किया है। इसी यरोड़ा में बैठकर मैंने त्याग पर उपन्यास लिखा है। बारडोली सत्याग्रह, १९३० का सत्याग्रह, आपका व्यक्तित्व और सन्देश एवं आर्यत्व के रहस्य पर भी थोड़ा बहुत लिखा है। साथ ही, साहित्य के लिए अच्छा ही विषय चुनना और बुरा नहीं—इस पद्धति का घोर विरोध किया है।

इस नाटक में 'पेमली' कल्पित है। उसके विचार में वाणी या व्यवहार एक भी चीज ऐसी नहीं है कि जिससे किसी को भी शरमाना पड़े। वह प्रामाणिक है, नीतिमान है, बोलने में गंभीर है।

चार पांच पात्र तो जीतेजागते मेरे मित्रों और मेरे आधार पर निर्मित हुए हैं। जेल में जो दुख-सुख उनको होते और उन पर जो टिप्पणी वे करते—वह हरेक शब्द उन पात्रों के मुँह से कहलाया है। उन पात्रों में से कोई भी बीभत्स शब्द नहीं बोलता और नीति-विरुद्ध विचार भी प्रदर्शित नहीं करता। केवल एक अशक्य आदर्श सिद्ध करने के लिए हास्यजनक ढंग से गिरने की तैयारी पर सब आ जाते हैं। सिद्धांत का मूल्य वे सभी जानते हैं; फिर भी जिन शब्दों में सिद्धान्त का कुछ उपहास वे पात्र करते है, उन शब्दों का प्रयोग ऐसे प्रसंगों में वे सब करते थे।

यह नाटक लिखते समय वस्तु व एक दो पात्रों की कल्पना की है और एक कल्पित प्रसंग में हम जीवित मनुष्य किस तरह व्यवहार करते हैं, यह प्रकट करने के लिए ही कल्पना का प्रयोग किया है। ये जीवित पात्र लिखते समय मौजूद थे। उन्हीं के सूचन से वह लिखा गया। उनका व्यक्तित्व बुरे ढंग से प्रस्तुत किया गया है ऐसा किसी ने नहीं कहा है। सभी ने रस लेकर उसे बार-बार पढ़ा था। उनमें से एक भाई ने बार-बार रस से

पढ़ने के बाद डेढ़ साल बीत जाने पर अनिच्छा प्रकट की। उनको भय था कि लोग पहिचान लेंगे तो ?

अब एक रहा कल्पित पात्र—मोटा भाई का। वह एक वाक्य भी अश्लील नहीं बोलता है—वह धृष्ट है, निपट निर्लज्ज है, blase है। लेकिन ऐसे व उनसे भी धूर्त व्यक्ति जीवन में, क्लब में, धारा सभा में, जीमखाने में व कभी-कभी जेल में भी क्या नहीं मिलते ? ऐसे व्यक्तियों को पैदा करने में पाश्चात्य संस्कार ने हमारे कई विद्वानों और सजग मनुष्यों की आदर्शमयता का मूलोच्छेद कर दिया है। ऐसे लोगों की भावना का जरा सा स्पर्श भी न हो—इस भय से तो मेरा आधा जीवन व्यतीत हुआ है। जैसे मैंने उनको देखा है, वैसे चित्रित किया है। वैसे लोगों को साहित्य नहीं फटकारेगा तो कौन फटकारेगा।

उसमें ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त पर एक भी आक्षेप नहीं है। ब्रह्मचर्य को मैं एक महाव्रत मानता हूँ। पर वह पुण्यात्मा के लिए ही ग्राह्य है, योगियों के लिए ही साध्य है, कैवल्य की तरह बहुत कम उसको समझ सकते हैं। और इसलिए उसे थोड़े व्यक्ति सिद्ध करके पार जा सकते हैं।

परन्तु अन्य सिद्धान्तों की तरह उसके नाम से ही अनेक अधकचरे असहिष्णुता, दंभ और पाखंड दिखाते हैं। वे अपनी धाक और प्रतिष्ठा जमाने के लिए इसका आचरण करते हैं। और अपने आसपास के लोगों को रक्त के अश्रुओं से रुलाते हैं। और ऐसे लोग जल्दी से जल्दी सिद्धान्त को भूल जाते हैं। ऐसे लोगों के पराक्रमों से, मध्यकालीन इतिहास के रोमन केथोलिक मठ और महायान बौद्ध धर्म के मठों का इतिहास भरा हुआ है। सामान्य मानवगण स्वभावजन्य वृति का दमन करके देवपद नहीं पा सकता इसका उदाहरण केवल पुरुषों के लिए ही बनाई हुई क्लब और जेल दोनों देते हैं। अपने जेल के अनुभव से मैंने एक Psychological fact नोट किया है कि कारावास का वातावरण अच्छे अच्छों को Sex-talk या वीभत्स व धृष्टतापूर्ण बात करने के लिए प्रेरित करता है। इन सभी में मुझे रुचि तो केवल चित्र में रंग भरने के लिए ही है। पर जब तक ऐसे अधकचरे लोग पड़े हैं, ऐसी वृत्तियों का उद्भव होता है और ऐसा व्यवहार होता है तब तक यदि साहित्य में इसकी प्रतिध्वनि न हो तो वह साहित्य असत्य, और ढोंगी है, यह मेरी मान्यता है। और यदि ऐसे लोगों का चित्र अंकित न किया जाय तो Satire और सामाजिक नाटकों का काम भी क्या ? और यदि यह मानें कि ऐसों का चित्र न अंकित करना चाहिए तो दुनिया के शिष्ट साहित्य के एक अमूल्य भाग को जलाकर भस्म कर देना चाहिये।

मेरा विचार आपके साथ चर्चा करने का नहीं है। विशेषकर इस समय तो बिलकुल नहीं। परन्तु आपका पत्र मिला और आपकी टिप्पणी पढ़ी; इसलिए मैं ब्रह्मचर्याश्रम फिर से पढ़ गया। नाट्य कला, सर्जकता, और विनोद के अनेक वर्षों से अपनाये मानदंडों से उसे ध्यान से जाँचा। जैसे हब्सी को अपने बच्चे प्रिय लगते हैं, ऐसा मेरे साथ हो सकता है; पर फिर भी मैं यह निर्णय न कर सका कि वह कलात्मक कृति किस दृष्टि से अनुपयोगी है। मेरे बहुत से नाटकों में से यह नाटक—for technique, art and realism--पचास साल के बाद आलोचकों की कसौटी पर खरा उतरे तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा।

पिछले तीन साल से मैंने आपको संतोष देने का बहुत कु यत्न किया है। आज भी इस विषय में उपर्युक्त बातों का पालन कर दूँगा। प बापू, क्षमा करें तो कहूँ कि यदि इस विषय में मैं यह लिखूं कि आपके मत से मैं सहमत हूँ तो मैं समझूंगा कि मैं कायरता और खुशामद के निम्नतम स्तर पर पहुंच गया हूँ। I would foreswear the faith of my life और साहित्य की एक पंक्ति भी लिखने का स्वाभिमान मुझ में नहीं रहेगा।

क्या मैं आपसे एक याचना न करूं? इस समय तो ऊपर लिखे अनुसार कर दूंगा। लेकिन क्या आप इतना नहीं कर सकते कि जब मैं अपना दृष्टिकोण दुनिया के सामने नहीं रख सकता तब आप अपना अंतिम अभिप्राय प्रकट न करें?

अवसर मिला है तब थोड़ी और बात भी कर लें। कुछ महीने पहले आपको जिस अंग्रेजी पुस्तक के बारे में लिखा था वह छप कर तैयार हो जायेगी। फर्मे भेजूंगा। उचित जँचे तो forward लिख दें। आपके अनुज्ञानुसार Dedication तो किया है। अर्वाचीन गुजरात और आपके हिस्से का प्रकरण खराब तो नहीं लिखा गया। बाकी के बारे में क्या कहूँ?

पत्र बड़ा तो हो गया, पर मेरे दिल को बहुत कष्ट पहुँचा था; इसलिए अन्य उपाय ही न था। क्षमा कीजियेगा।

कनु मुंशी के प्रणाम

(गांधी जी का तार)

Kanayyalal Munshi, Prisoner, Central Jail
Bijapur:

Just received your letter. Have given no opinion outside do not want you take any step without conviction. will read play and give you considered opinion. Writing.

Gandhi.
7-12-1935

कन्हैयालाल मुंशी, बन्दी, केन्द्रीय कारागार,
बीजापुर

अभी-अभी तुम्हारा पत्र मिला। बाहर मैंने कोई राय नहीं दी। यह नहीं चाहता कि बिना माने ही तुम कोई कदम उठाओ, नाटक पढ़ूंगा और अपनी सुविचारित सम्मति दूंगा। लिख रहा हूं।

गांधी
७-१२-१९३५

ભાઈશ્રી મુનશી,

મારો તાર મળ્યો હશે. તેથી તમારા જખમને કંઈક રૂઝ વળી હશે. તમારે દુઃખે હું પણ દુઃખી થયો. પણ સાથે રાજી થયો, એમ જાણીને કે મારા પ્રત્યે તમારી એટલી મમતા છે. દુઃખ સુખ સ્નેહીનાં વેણનું જ હોય ના?

તમને મેં મારો અભિપ્રાય જણાવ્યો એટલે ~~બીજાને~~ પેલા ટીકાકારને પણ જણાવ્યો હોય એવો તમારો ભય મિથ્યા હતો. એને તો મેં લખ્યું કે અહિં બેઠે

(गांधी जी का पत्र मुंशी जी को)

यरवडा मन्दिर, पूना

८-१२-३२

भाई श्री मुंशी,

मेरा तार मिला होगा। इससे आपके व्रण को कुछ आराम मिला होगा। तुम्हारे दुःख से मैं भी दुखी हुआ। पर साथ ही खुशी हुआ, क्योंकि मुझे मालुम हुआ कि मेरे प्रति तुम्हारे दिल में स्नेह है। स्नेही के वचन से ही दुःख सुख हो सकता है न?

तुमको मैंने अपना अभिप्राय बतलाया इसलिए उस आलोचक को भी बतलाया हो ऐसा तुम्हारा भय मिथ्या था। उसको तो मैंने लिखा है, कि यहाँ बैठ

અભિપ્રાય આપવાનો મને
અધિકાર જ નથી. નાટક કોણ
ભજવનાર છે એ પૂછાવ્યું તેનું
તેનો તે યુવક ઉત્તર નથી
વાળતો. મારા તરફથી તમે
સદાયને સારૂ નિર્ભય રહેજો.
તમારી સાથે મસલત કર્યા
વગર તમારી કૃતિઓની
ટીકા હું નહિં કરૂં. તમ બન્ને
પ્રત્યે મને મોહ છે. તમને મેં
કહ્યું જ છે કે તમારી બન્ને.
પાસેથી મારે તો ઘણું
લેવું છે. તેનો તમારાં હૃદય
ચોરી રાખું તોજ મળેના!
દરીયા કિનારાનું વહેલું
સવારનું પેલું દૃશ્ય કદી હું

कर राय देने का मुझे अधिकार ही नहीं है। मैंने पूछा था कि नाटक कौन खेलने वाले हैं। उसका जवाब उस युवक ने नहीं दिया। मेरी तरफ से हमेशा के लिए तुम निर्भय रहो। बिना तुमसे परामर्श किये तुम्हारे ग्रन्थों की आलोचना नहीं करूँगा। तुम दोनों के प्रति मुझे अत्यंत स्नेह है। मैंने तुमसे कहा है कि तुम दोनों के पास से मुझे तो बहुत कुछ लेना है। तुम्हारा हृदय चुरा सकूं तभी तो वह हो सकेगा न? समुद्रतट के प्रभात का वह दृश्य मैं

૩

જુદું તેમ નથી.

તમારું ફારસ મને વખત
મળશે તો ~~ફરી~~ પૂરું વાંચીશ,
તમારી આંખે વાંચીશ ને
તજવા જેવું હશે તો તજીશ.
તમે આપેલી રજાનો ઉપયોગ
નહિ કરું. તમે પણ તેનું વેચાણ
બંધ ન કરશો. તમારી પાસેથી
સ્નેહના ભારે પણ એવું નથી
કરાવવું. ખરું છે કે તમારાં
પુસ્તકોમાં એક પણ વાંચ્યાં
નથી. તમે ભલામણ કરો તે
વાંચવાનો પ્રયત્ન કરીશ.
કળાવિષે કોઈ વાર પ્રભુ

कभी नहीं भूलूँगा । समय मिलेगा तो तुम्हारा प्रहसन पूरा पढ़ूंगा । तुम्हारी दृष्टि से पढ़ूँगा और लिखने जैसा होगा तो लिखूंगा । तुम्हारी दी हुई अनुमति का दुरुपयोग नहीं करूंगा । तुम भी इसकी बिक्री बन्द न करना । तुम से स्नेह के बल से भी ऐसा नहीं कराना चाहता हूँ । यह तो सत्य है कि मैंने तुम्हारी एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी है । जिनकी आप सिफारिश करेंगे उन पुस्तकों को पढ़ने का प्रयत्न करूँगा ।

મેળવશો તો અને ત્યારે વાતો
કરશું. તમારો કાગળ થોડો
ઘણો સમજ્યો છું

અસ્પૃશ્યતા વિષે શું લખું?
મારા જીવનને બહુરૂપ હોવા
છતાં એક રૂપે જોવાની કળા
સાધજો, તમે સમજો તો
સ્યાપો એને સમજવાને
મારી પ્રવૃત્તિમાત્રનું મૂળ
એક જ છે

તમારા કાગળના ટોપલા.
દીવસ પહેલાં લીલાવતીનો
રસિક કાગળ આવ્યો હતો તેનો
જવાબ લખ્યો છે.

જમણી કોણી વધારે ખરાબ હોવાથી
ડાબે હાથે લખ્યું છે. સહુને અમારા
બધાનાં યથાયોગ્ય કૈ મોહનદાસના આ…

ईश्वर मुलाकात करायेगा तभी कला के बारे में बात करेंगे । तुम्हारा पत्र थोड़ा बहुत समझा हूँ । अस्पृश्यता के बारे में क्या लिखूँ ।

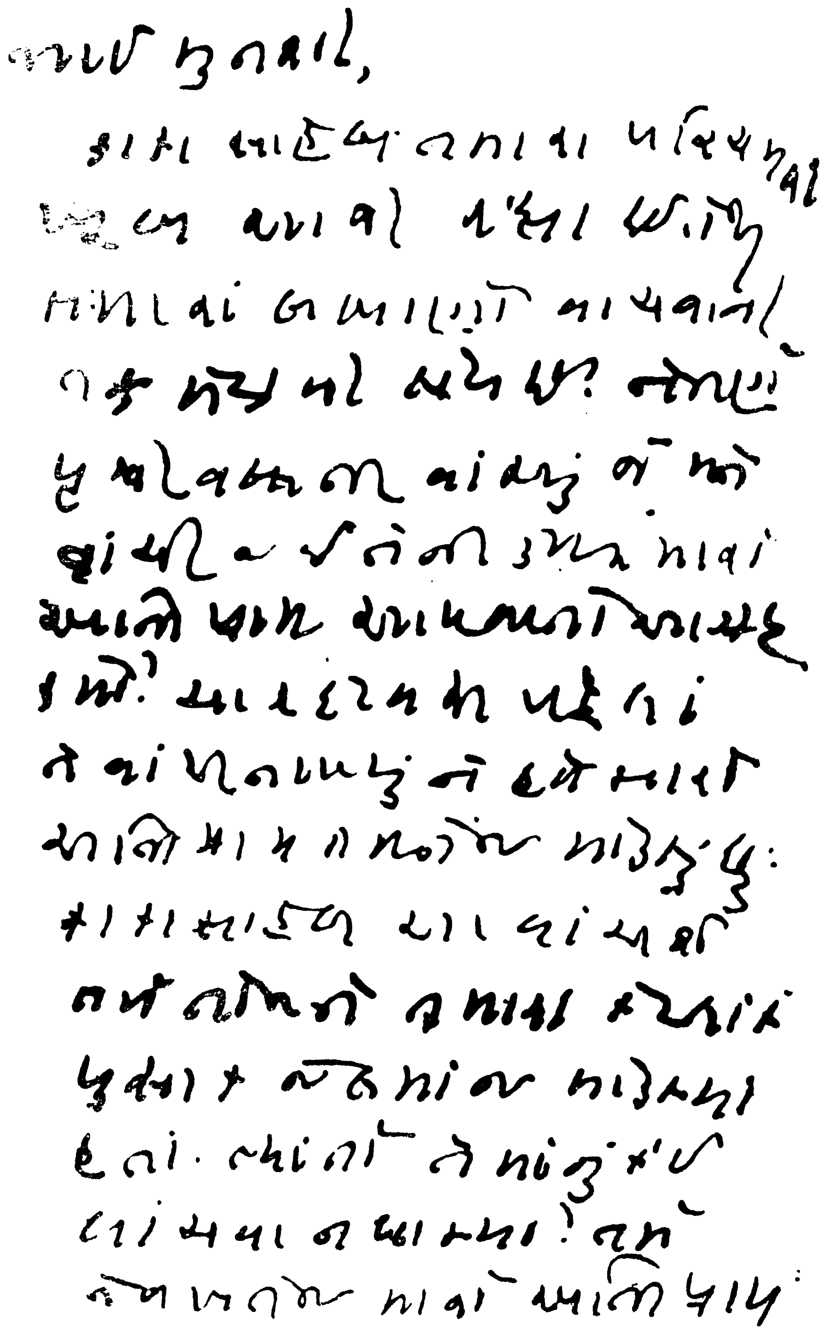
मेरा जीवन अनेक रूप है, उसे एक रूप में देखने की कला साधिये । तुम स्वयं उसे समझो और साथियों को समझाओ । मेरी हर एक प्रवृत्ति का मूल एक ही है ।

तुम्हारे पत्र से थोड़े दिन पूर्व लीलावती का सरस पत्र आया था । उसका जवाब देना बाकी है ।

दाहिनी कोहनी ज्यादा खराब होने से बायें हाथ से लिखा है । सभी को हम सब की ओर से यथायोग्य ।

मोहनदास की वन्देमातरम्

८-१२-३२

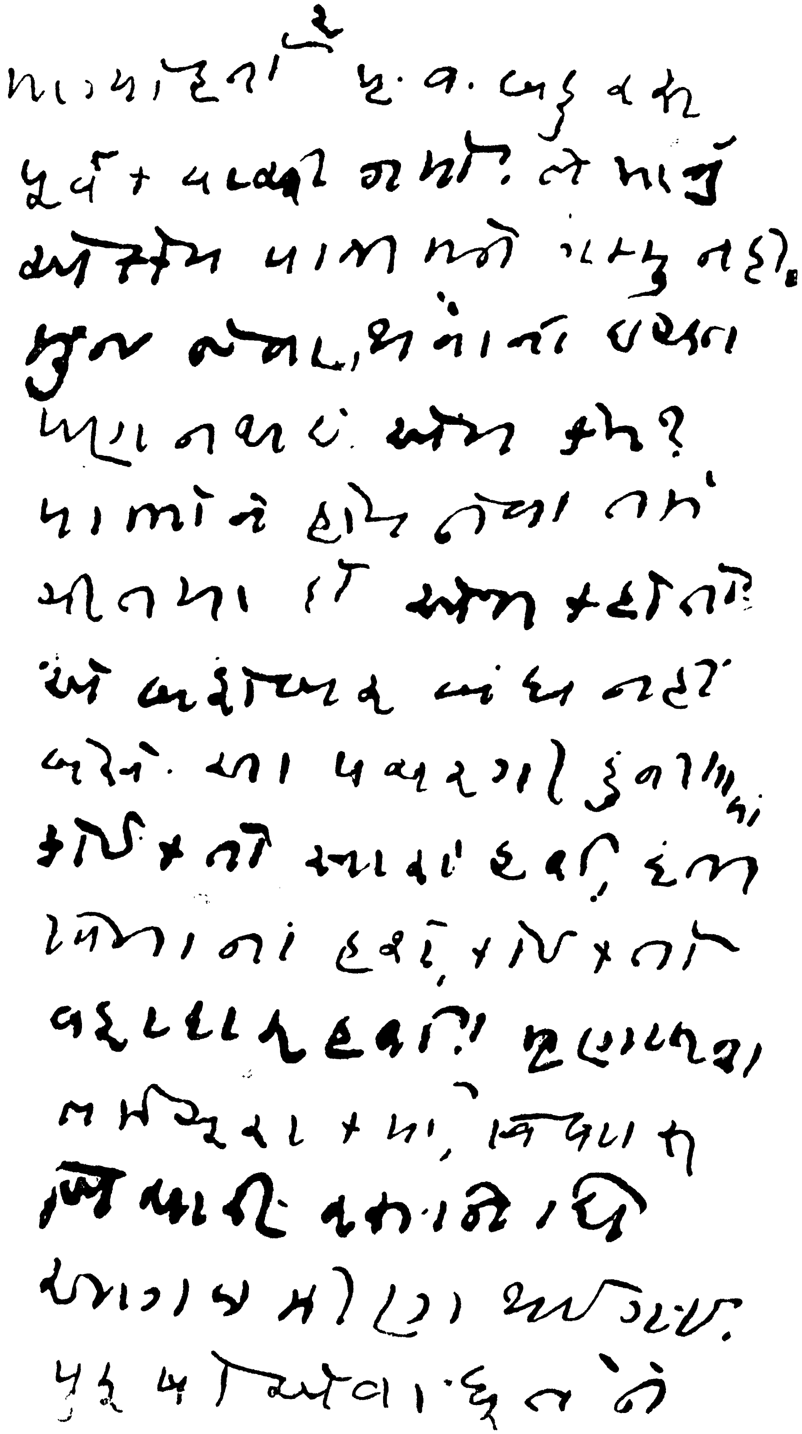


पृथ्वीवल्लभ

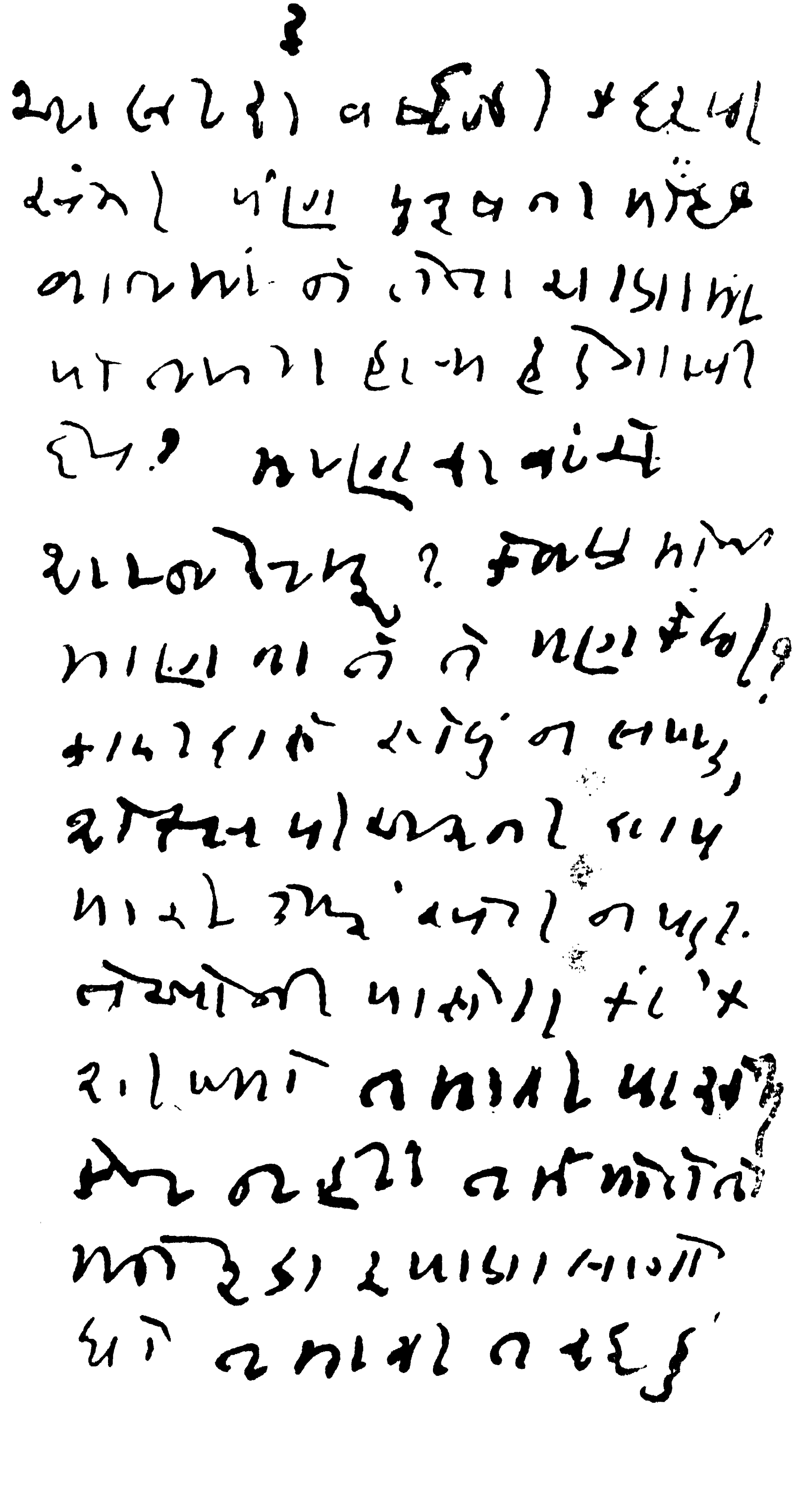
(गांधी जी का मुंशी जी को पत्र)

भाई मुंशी,

काका साहब तुम्हारे परिचय में खूब आ रहे हैं, इसलिए तुम्हारी पुस्तक पढ़ने का अवसर प्राप्त कर लेते हैं। उन्होंने पृथ्वीवल्लभ पढ़ा और मुझे पढ़ने के लिए देकर उस पर मुझ से सम्मति देने का आग्रह किया। चार दिन पूर्व ही उसे समाप्त किया है और अब मैं अपनी सम्मति के साथ तुमको भेज रहा हूँ। काका साहब उसे पढ़ेंगे। तुमने तो मुझे अपनी कई पुस्तकें जेल में ही भेजी थीं। वहां मैं उनमें से कुछ न पढ सका। उसी समय मेरी सम्मति से

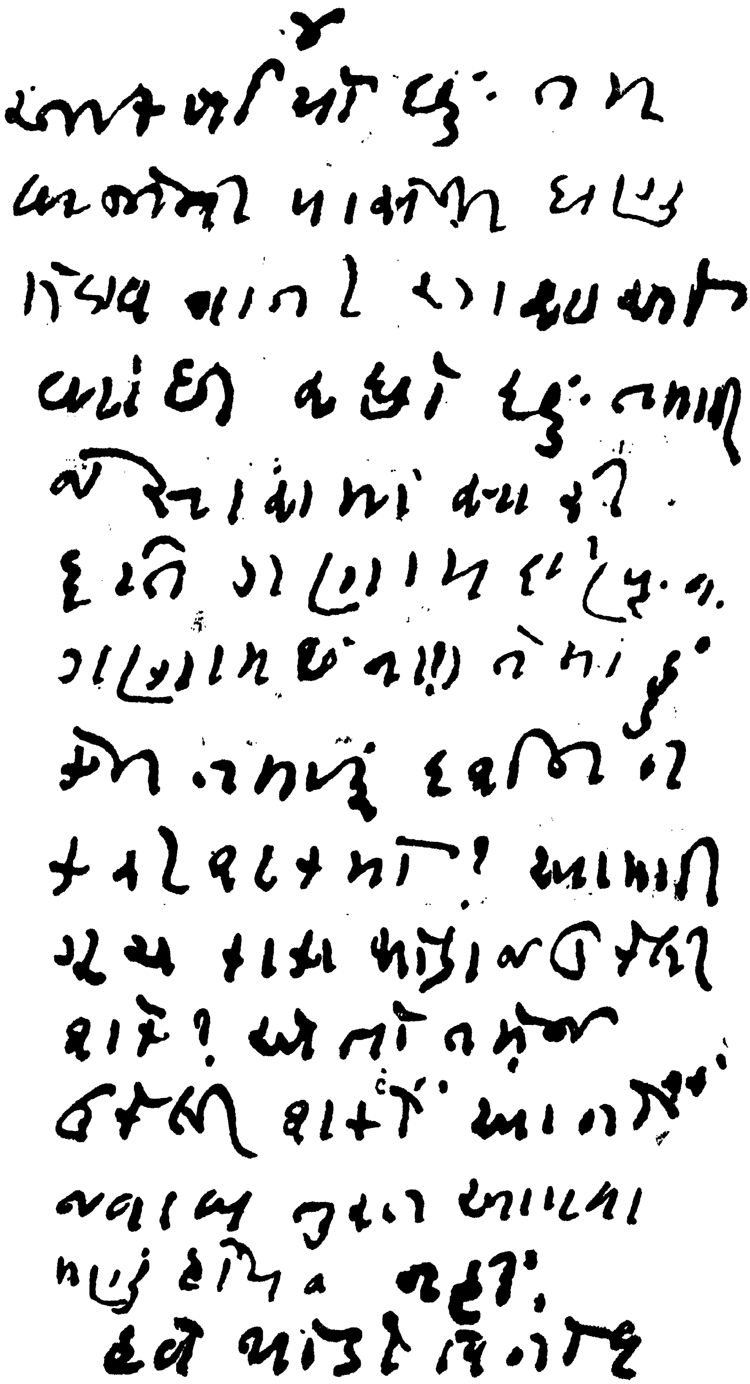


आप परिचित थे। पृथ्वीवल्लभ अत्यन्त रस से पढ़ गया हूँ। उसमें से एक भी पात्र मुझे अच्छा नहीं लगा। मुंज जैसा बनने की भी इच्छा नहीं हुई। ऐसा क्यों? यदि आप कहें कि आपने पात्रों का यथार्थ चित्रण किया है तो यह ठीक नहीं क्योंकि इस दुरंगी दुनिया में कुछ तो अच्छे होंगे, ढोंग रहित होंगे, कृतज्ञता परायण होंगे। मृणाल के आपने टुकड़े किये। विलास बेचारी रसनिधि के आगे मोम हो गयी। पुरुष ऐसे धूर्त

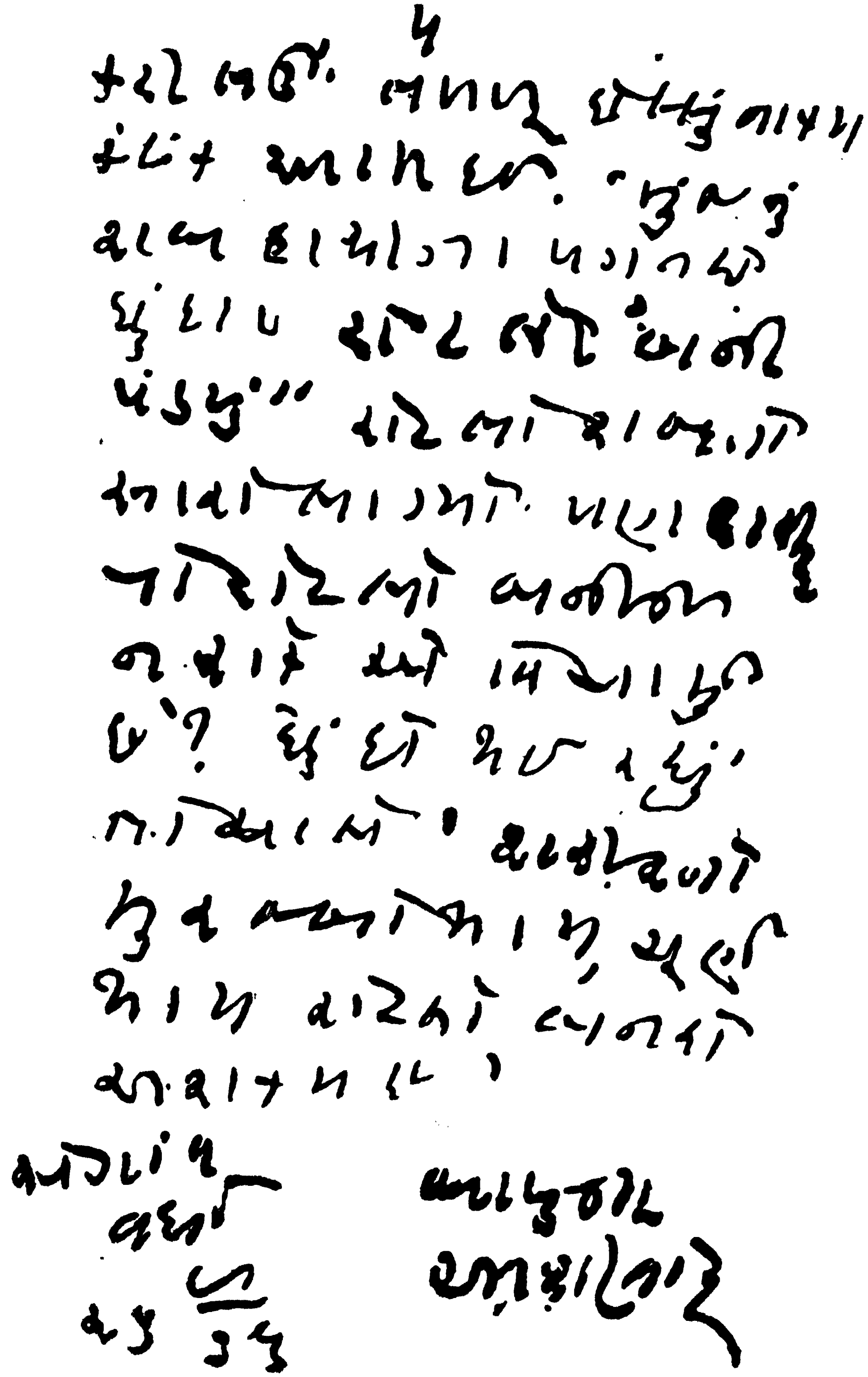


हों और एक चालीस साल की कुरूप स्त्री (संयमी ?) भी पुरुष के फन्दे में अपने को डाल दे ?

मनुष्य क्यों पढ़ता है ? क्या केवल मनोरंजन के लिए ? और वह भी कैसा ? कालिदास ने ऐसा नहीं लिखा, शेक्सपीअर का ऐसा प्रभाव मुझ पर न पड़ा । उनसे कुछ सीखा । तुमसे क्यों नहीं ? तुम स्वयं तो मुझे अत्यंत सुन्दर दिखायीदेते हो । तुम्हारी ओर



मैं आकर्षित हुआ हूँ। तुम जैसों से मुझे बहुत कुछ पाने की आशा है। तुम्हारी जो सर्वोत्तम कृति कही जाती है (पृथ्वी वल्लभ कही जाती है न?) उसमें मैं तुम्हारे दर्शन क्यों न कर सका? यह मेरी समस्या काका थोड़े ही सुलझा सकते हैं? यह तो तुम ही सुलझा सकते हो। जिसके जवाब की जल्दी नहीं है। अब थोड़ा विनोद



कर लूं। आपका अन्तिम वाक्य कुछ ऐसा है, "मुंज का वच हाथी के पैर तले कुचल कर रोट बन गया।" रोट शब्द तो अच्छा लगा लेकिन क्या यह सोचा है कि शरीर का रोट हो नहीं सकता है। चटनी हो सकती है, मुरब्बा या चूरा हो सकता है, रोट होना क्या संभव है?

सेगांव, वर्धा
२६-९-३६

बापू के आशीर्वाद

(मुंशी जी का गांधी जी को पत्र)

बम्बई,
५-१०-३१

पूज्य बापूजी की सेवा में,

पृथ्वीवल्लभ के बारे में आपका पत्र पढ़कर मुझे आश्चर्य नहीं हुआ है। इस विषय में आपका दृष्टिकोण मैं जानता हूं। पर मेरी प्रकृति ने साहित्य सर्जन का अलग मार्ग बनाया है। मैं साहित्य के लिए उपयोगिता की कसौटी को स्वीकार नहीं कर सकता हूं।

आपने Art for Arts sake का नमूना काका साहब से मांगा था। और उन्होंने बताया था कि आपको इस विषय में पृथ्वीवल्लभ का नाम सुझाया गया था।

इस कथा की वस्तु गुजरात में ९वीं-१०वीं सदी में अपभ्रंश में लिखे हुए काव्य के अवशेषों और १५वीं सदी में एक जैन साधु लिखित प्रबन्ध में से ली गई है। १९१४-१५ में मैं योगसूत्र कल्पित वैराग्य प्रधान Superman और जर्मन फिल्सुफ नीत्शे द्वारा सुखभोग में अपूर्व ऐसे Blonde Beast की भावनाओं के बीच में झूल रहा था। यों दुविधा में रहते-रहते मुंज और मृणाल के व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हुआ। यह रहस्य 'मानवता के आर्षदुर्शनो' नामक आदि वचन में प्रदर्शित किया है। (साथ में भेजे हुए 'गुजरात : एक सांस्कारिक व्यक्ति' में यह है)

शेक्सपीअर जैसा मैं लिख सकता तो फिर मैं गांगां तेली क्यों रहता? राजा भोज न बनता?

दूसरे पृथ्वीवल्लभ Literature of Inspiration का उदाहरण नहीं है, Literature of Escape का है। उपदेश अथवा प्ररणा देना उसका उद्देश्य नहीं है, कल्पनाशील लेखक के मन में प्रादुर्भूत चित्रों को मूर्त करना है। ये चित्र चित्रकार की कल्पना में तीव्र प्रभविष्णुता से अंकित हो जाते हैं यही उनका जन्म लेने का अधिकार है और माता की तरह धारण किए हुये बालक को चाहे वह कैसा भी हो जन्म देने में ही लेखक की सफलता है।

यदि वह रस छाया मालूम होता हो तो क्यों उसकी अन्य मानदंडों से कटु आलोचना की जाय? रसदायत्व ही मानदंड क्यों न हो?

सेफो के उर्मिगीत, जयदेव का गीतगोविन्द, नरसिंह की राससहस्रपदी, शैली का Epipsychidion, आनातोलें फ्रान्स का Thais ये सब ऐसे ही किसी नियम के वश में होकर, सर्जक की कल्पना से प्रसूत हुए। उसमें से उपदेश न मिले, पर हरेक युग में मानव-हृदय उसे पढ़ने के लिए तीव्र इच्छा रखता है।

ऐसे ही कुल की एक नगण्य पुस्तक पृथ्वीवल्लभ है। मैं साहित्य-सृजन में कल्पना विलासी हूं। आचार से कुछ सीधा हूं, फिर भी जब मुझे तीव्र अनुभूति होती है, विचार उत्पन्न होता है या आदर्श आकर्षण करता है तो वह वस्तु और पात्र बनकर समक्ष आ जाता हैं; और फिर उनको लिख डालता हूं या जबरदस्ती लिख डालना पड़ता है। इसलिए मैंने अच्छे बुरे मानव व प्रसंगों का चित्रण किया है—उपदेश या प्रेरणा देने के हेतु से नहीं

पर सर्जकता की भावना में और आत्म-कथन की अदम्य आकांक्षा से। इस सर्जकता को मैंने स्वधर्म माना है। 'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इस न्याय से इस स्वधर्म पर साहित्य का सिद्धान्त रचा है। कल्पना जो अच्छी चीज़ का सर्जन करती है उसे साहित्य में स्थान पाने का संपूर्ण अधिकार है। मुंज कुछ न कुछ मात्रा में अवास्तविक है, तो उसी तरह कैवल्यपद प्राप्त योगी भी अवास्तविक ही लगता है। यदि दोनों तरह से दुःख का—आत्यन्तिक अभाव—परम आनन्द—मिल सके तो ये दो प्रयोग समान बन जायँ—यह एक दृष्टिकोण है।

बीस साल के मनन एवं चिन्तन से अब तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वीतराग भय क्रोध बिना परम आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः मेरा मुंज--जिसमें राग है, पर भय और क्रोध नहीं है—तो खरगोश का सींग हो गया।

इसका तीव्र स्वानुभव हुआ तब 'शिशु और सखी' के अंतिम खंड लिखे थे। यह भी साथ भेज रहा हूँ। वह Prose-Poem है—कुछ जगह पर क्लिष्ट है। पर वह भी Art for Arts sake का नमूना है। जेल में बैठकर गत जीवन के कई चित्रों द्वारा आत्माभिव्यक्ति की तीव्र इच्छा से वह लिखा गया है। उसमें मानव परिचित हो भी जाय तो उन्हें पतित समझ लेना चाहिए। एक प्रकार से यह अच्छा लगेगा। Incidently गुजराती में अच्छी कृति गिनी गई है।

आदिवचनो भी भेजता हूँ। उसमें एक बारदोली के बारे में है—मूल्य परिवर्तन। दूसरा आपके बारे में है—"स्वप्न सृष्टि की खोज में"—एक अस्पृश्यता न थी तब? वह तो आपने पढ़ा ही है। प्रति वर्ष जीवन और साहित्य पर भाषण देकर उस वर्ष के प्रधान मंत्र का उच्चारण करता हूँ।

कुछ पृथ्वीवल्लभ को मेरी सर्वोत्तम कृति के रूप में मानते हैं। बहुत से 'वेरनी व सुलात' को सर्वोत्तम कृति समझते हैं। इसमें कर्मयोग की भावना के आधार पर कई स्त्री पुरुषों का चित्रण किया गया है। यह आपके भारतवर्ष आने से पहले ही लिखा था इस लिए कुछ रंग भरने शेष रह गये हैं।

ये सब पुस्तकें पढ़ने के लिए नहीं भिजवा रहा। यदि समय मिले और मन हो तो दृष्टि डालना। इससे यह तो नहीं समझेंगे कि मैं केवल पृथ्वीवल्लभ और ब्रह्मचर्याश्रम ही लिखता रहता हूँ। अब तो परिषद् में ही मिलेंगे।

कनु मुंशी के प्रणाम

पुनश्चः—

शरीर का दबके रोट क्यों नहीं हो सकता है? चप्पट बन जाय तो? यह अंग्रेजी Idiom है।

पुनश्चः—

पंडित जी का उत्तर आया है उसकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ। केवल आपकी जानकारी के लिए।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

सम्मति

'भारतीय-साहित्य' के दो अंक प्राप्त हुए हैं। बहुत सुन्दर निकले हैं। मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें। साहित्य के इन अंकों की सफलता हम सब लोगों की सफलता है, पर ईर्ष्या तो हो ही रही है।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय काशी

'भा… आपका
परिश्रम च… के क्षेत्र
में अखिल … समिया,
उड़िया, बं… रोसकर
आह्लादक … भेगा।
पर वह आ… साधना
से विद्यापी…

…ग्रवाल,
…, काशी
…७